किशोर मनोविज्ञान

किशोर मनोविज्ञान

लेखिका

ऊषा भार्गव

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

पूज्य पिता
स्वर्गीय श्री माधोसिंह भार्गव,
एडवोकेट, राजस्थान हाई कोर्ट, जोधपुर
जो

जीवनपर्यन्त संघर्षों में जूझते रहे—पहले देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन में, फिर उत्तरदायी शासन स्थापित करने सम्बन्धी आन्दोलन में—परन्तु जीवन के अन्तिम दशक में शान्त मन से गहन आध्यात्मिक साधना में तल्लीन होकर सिद्ध योगी की भाँति एक दिन अचानक सब कुछ छोड़ चले।

—ऊषा भार्गव

प्रस्तावना

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 17 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1986 को 18वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि मे विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी-जगत् के शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय-स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय-स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नही पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी, जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित हो नही गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 325 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

'किशोर मनोविज्ञान' 'पुस्तक यद्यपि प्रमुखतः बी. एड. छात्रों के उपयोग हेतु रचित है, तथापि यह मनोविज्ञान के सामान्य पाठक के लिए भी रुचिकर सिद्ध होगी। पुस्तक में किशोरावस्था के विविध शारीरिक एवं मानसिक पक्षों का प्रामाणिक विवेचन किया है, जो निश्चय ही सम्बद्ध अध्येताओं के लिए सहायक सिद्ध होगा।

हम इसकी लेखिका सुश्री ऊषा भार्गव, जयपुर, समीक्षक डॉ० एल० के० ओड, उदयपुर और भाषा सम्पादक श्री राधेश्याम शर्मा, जयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभारी हैं।

रणजीतसिंह कूमट	डॉ० राघव प्रकाश
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एवं	निदेशक
शिक्षा सचिव, राजस्थान सरकार, जयपुर	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

भूमिका

यह सर्वमान्य है कि सभ्य नागरिक के विकास में किशोरावस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक युग में न केवल हमारा शरीर और मस्तिष्क ही तेजी से परिवर्तित हो रहा है, बल्कि यह विश्व भी निरन्तर बदलता जा रहा है, जिसमें हम रह रहे हैं। इस गतिशील समाज में कल के दृष्टिकोण से वर्तमान समस्याओं को नहीं समझा जा सकता है। किशोरावस्था में होने वाले विभिन्न विकासों के कारण किशोर स्वयं भी अपने प्रति अजनबी बन जाता है तथा आए दिन उसे ऐसे अनुभव होते हैं जो कि न केवल नए है अपितु उसकी समझ से परे भी हैं। उसे उन्हें समझना है, उनका मुकाबला करना है और उनका समाधान भी ढूँढना है। अतः किशोर की सबसे बड़ी आवश्यकता है एक ऐसा परिपक्व, अनुभवी तथा आत्मीयता भरा मित्र जिस पर वह विश्वास रख सके। यह तभी संभव हो सकता है जबकि किशोरावस्था का समग्र एवं संतुलित अध्ययन निरन्तर होता रहे। इससे किशोर साहित्य से सम्बन्धित लेखक, विद्यालय-प्रशासक, अध्यापक, अभिभावक, परामर्शदाता, युवा नेता एवं स्वयं किशोर—सभी लाभान्वित होंगे। नित्य नवीन समस्याओं से जूझते किशोर को यह ज्ञान होगा कि ये समस्याएँ उसकी आयु-समूह के सभी किशोरों की है, उसके लिए विशेष सहायक है एवं उसे कई प्रकार के तनावों से मुक्ति देने वाला है।

शिक्षा पर यह मेरी प्रथम पुस्तक है। प्रथम प्रयास की अपनी सीमाएँ होती हैं। पुस्तक को विभिन्न विश्वविद्यालयों की बी. एड., एम. एड., बी. एस-सी. गृह विज्ञान, एम. एस-सी. गृह विज्ञान, बी. ए. मनोविज्ञान परीक्षाओं हेतु निर्धारित पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखा गया है। भाषा यथा-शक्ति सरल रखी है। तकनीकी शब्दों को समझने में कठिनाई नहीं आए, इस दृष्टि से उनके अंग्रेजी रूप कोष्ठक में दिए गए हैं। इस पुस्तक लेखन में आने वाली तकनीकी शब्दावली सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने में डॉ. आर. एन. प्रसाद, एसोसिएट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग एवं सहायक प्राचार्य विश्वविद्यालय राजस्थान कॉलेज का मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ।

मैं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के भूतपूर्व निदेशक डॉ. रामबली उपाध्याय की आभारी हूँ, जिन्होंने 'किशोर मनोविज्ञान' पर मेरे पुस्तक लिखने के प्रयास का स्वागत किया तथा प्रारूप को स्वीकृति प्रदान की। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के वर्तमान कार्यवाहक निदेशक डॉ. राघव प्रकाश एवं शैक्षिक अधिकारी डॉ. महावीर प्रसाद दाधीच के प्रति आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में तत्परता दिखाई। यह उनके ही प्रयासों का परिणाम है कि पुस्तक नए शैक्षिक सत्र से पूर्व प्रकाशित हो सकी है।

मेरे कार्य की मफलता का श्रेय जाता है मेरे माता-पिता को। यह उन्ही का आशीर्वाद है, उन्ही की प्रेरणा है कि मैं यह पुस्तक लिख सकी। यह मेरा परम सौभाग्य रहा कि मुझे विद्वान माता-पिता मिले—परन्तु साथ ही दुर्भाग्य भी रहा कि पूज्य पिता के जीवन-काल में यह पुस्तक प्रकाशित नही हो सकी। वे आज होते तो कितना प्रसन्न होते····

—ऊषा भार्गव

L 8 A, विश्वविद्यालयी आवासगृह
जयपुर (राज०)

विषय-सूची

□□□

अध्याय 1

जीवनकाल में किशोरावस्था का स्थान

(The Place of Adolescence in the Life Span)

किशोरावस्था : अर्थ एवं महत्त्व

किशोर न बालक है और न प्रौढ । बचपन की समाप्ति व प्रौढ़ावस्था के आरंभ के मध्य का जीवन काल किशोरावस्था कहलाता है । यह बाल्यकाल की भाँति ही विकास की एक अवस्था है तथा बाल्यकाल के समान ही अध्ययन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है । प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा समय आता है जबकि शरीर में कुछ परिवर्तन आरंभ होते हैं—बचपन के ढांचे से प्रौढ़ बनने की प्रक्रिया आरंभ होती है । यह वय संधि का काल ही किशोरावस्था है । लगभग एक दशाब्दी का यह समय मनुष्य के जीवन काल का अत्यन्त अस्थिरता तथा उद्विग्नतापूर्ण हिस्सा होता है । इसमें न केवल शारीरिक बल्कि बौद्धिक, भावात्मक तथा सामाजिक सभी प्रकार के परिवर्तन होते हैं । वयस्क बनने से पूर्व किशोरावस्था के अनुभव प्राप्त करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य-सा है ।

अवधि

किशोर जीवन की यह अवधि सभी व्यक्तियों में समान नहीं होती है । परिवार, संस्कृति, समाज तथा सामाजिक व आर्थिक स्थिति के अनुसार यह अवधि बढ़ती-घटती रहती है । यह वैज्ञानिक सत्य कि बीसवी शताब्दी में शारीरिक परिपक्वता अल्पायु में आने लगी है । यौवनारंभ अथवा किशोरावस्था का आरंभकाल जलवायु पर भी निर्भर है । साधारणतया गर्म प्रदेश के बालक-बालिका ठंडे प्रदेश के बालक-बालिकाओं की तुलना में शीघ्र परिपक्वता प्राप्त कर लेते हैं । परिपक्वता की प्राप्ति की आयु भोजन, स्वास्थ्य व आदतों पर भी निर्भर करती है । किशोरावस्था की आरम्भ आयु की भाँति ही उसकी समाप्ति आयु भी सभी व्यक्तियों में समान नही है । निम्न आय वर्ग के किशोरों में किशोरावस्था की समाप्ति शीघ्र हो जाती है, परन्तु उच्च आय वर्ग के किशोर अधिक समय तक किशोरावस्था का आनन्द ले सकते है । आर्थिक कठिनाइयों के कारण निम्न आय वर्ग के किशोर को जहाँ एक ओर उच्च शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त नही होती है वही दूसरी ओर घर के दायित्व भी उन्हें आ घेरते है । इस कारण वह छोटी आयु में ही अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है । कभी-कभी तो सत्रह-अठारह वर्ष की अल्पायु में ही वे अपना परिवार भी बसा लेते हैं । जबकि उच्च आय वर्ग के किशोर बाईस-तेईस वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर भी माता-पिता पर निर्भर रहते हैं तथा घर के बंधनों से भी

---

1. माम, मारगरेट एण्ड ऑलिन जी. जेमीसन, "अडोलेन्स" न्यूयार्क 1952, पृ. 9

मुक्ति नही पा सकते हैं। इस कारण उनमें प्रौढ़ता के लक्षण भी विलम्ब से ही दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ समय पहले तक किशोरावस्था का प्रारम्भ व्यक्ति के लैंगिक रूप से परिपक्व होने पर और अंत इक्कीस वर्ष की आयु में, जो कि आधुनिक संस्कृति में कानून की दृष्टि से प्रौढ़ होने की आयु है, माना जाता था। किशोरावस्था के दौरान व्यवहार में जो परिवर्तन होते है, उनके अध्ययनों से पता चला है कि न केवल ये परिवर्तन किशोरावस्था के शुरू के वर्षों मे बाद के वर्षों की अपेक्षा अधिक तेजी से होते हैं बल्कि यह भी कि शुरू के वर्षों का व्यवहार (behaviour) और अभिवृत्तियाँ (attitudes) बाद के वर्षों के व्यवहार, और अभिवृत्तियों से बहुत ही भिन्न होती हैं। इसके फलस्वरूप, किशोरावस्था को पूर्व-किशोरावस्था और उत्तर-किशोरावस्था इन दो अवधियों में बाँटने की प्रवृत्ति व्यापक हो गई है।

पूर्व-किशोरावस्था तब शुरू होती है जब व्यक्ति लैंगिक दृष्टि से परिपक्व हो जाता है। इस विषय में व्यक्ति-व्यक्ति मे और स्त्री-पुरुष में बहुत भिन्नता होती है। आजकल लडकी की पूर्व-किशोरावस्था औसतन तेरह की आयु में और लडके की लगभग एक वर्ष बाद शुरू होती है। पूर्व और उत्तर-किशोरावस्था की विभाजक रेखा सत्रहवें वर्ष के आस-पास मानी जाती है जबकि सामान्य लडका (या लड़की) ग्यारहवें दर्जे में होता है तब माता-पिता उसे प्राय वयस्क समझने लगते हैं और वह प्रौढ़ों के कार्य क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए या कालेज या किसी व्यावसायिक प्रशिक्षणशाला में जाने के लिए तैयार समझा जाता है। इसी तरह स्कूल मे भी उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह उन नई जिम्मेदारियों का अनुभव करने लगता है जो उसने पहले कभी नही ली थी। स्कूल और घर में उसको जो यह नई स्थिति औपचारिक रूप से मान ली जाती है उसके फलस्वरूप उसे अधिक परिपक्व तरीके से व्यवहार करने का प्रोत्साहन मिलता है।

क्योकि लड़के औसतन लड़कियों के बाद परिपक्व होते है, इसलिये उनकी पूर्व किशोरावस्था कुछ छोटी होती है और फलत वे अपनी आयु के लिहाज से लडकियों की अपेक्षा अधिक अपरिपक्व लगते हैं। फिर भी, जब लड़कियों के साथ उन्हें भी घर और स्कूल में अधिक परिपक्व स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब वे प्राय जल्दी ही व्यवस्थित हो जाते हैं और लडकियों की तरह ही व्यवहार की परिपक्वता प्रदर्शित करते हैं जो नव किशोर की तुलना में बहुत भिन्न होती है। किशोरावस्था के पूर्व और उत्तर भागों के बीच की विभाजक रेखा के रूप में व्यवहार परिवर्तन को आधार रूप में लिया जाता है जो कि उच्च माध्यमिक विद्यालय के अन्तिम वर्ष मे अधिक लक्षित होता है। इस प्रकार पूर्व-किशोरावस्था तेरह से सोलह या सत्रह तक रहती है, अर्थात् आठवें दर्जे के अन्त से ग्यारहवें दर्जे के अन्त तक।

पूर्व-किशोरावस्था की तरह उत्तर-किशोरावस्था भी व्यक्ति के जीवन की एक संक्रमणकालीन अवस्था होती है। पूर्व-किशोरावस्था मे प्रौढ की स्थिति से और व्यवहार के प्रौढ स्तरों से जो समायोजन शुरू हो चुके होते हैं, वे इस काल मे पूरे हो जाते हैं। किशोरावस्था के विकासोचित कार्य, जो कि प्रौढावस्था के समायोजनों के आधार का काम करते हैं, सामान्य रूप से व्यक्ति के परिपक्वता की कानूनी आयु मे पहुँचने से पहले पूरे हो जाने चाहियें, ताकि प्रौढ़ों के समाज में वह अपनी उपयुक्त स्थिति ग्रहण कर सकें। अधिकतर

किशोर इस लक्ष्य को प्राप्त करने में पूर्व-किशोरावस्था की अपेक्षा उत्तर-किशोरावस्था में अधिक प्रगति करते हैं। इसके तीन कारण होते हैं। प्रथम, वे प्रौढ़ व्यवहार की नींवें पहले से ही पूर्व किशोरावस्था में डाल चुके होते हैं। द्वितीय, अब उनकी स्थिति पहले से अधिक स्पष्ट हो जाती है, और वे जान लेते हैं कि उनसे क्या आशा की जाती है। तृतीय, यह कि परिपक्वता की क़ानूनी आयु में पहुँचने पर जो स्वतंत्रता प्राप्त होगी वह पहले दूर की चीज थी और इसलिए तब उसके लिए तैयारी करने का अभिप्रेरण कम था जबकि उत्तर अवस्था में निकटता होने से यह अभिप्रेरण अधिक बलशाली हो जाता है।

उत्तर-किशोरावस्था का, जो कि किशोरावस्था का एक भाग है, प्रारम्भ 17वें वर्ष के आसपास माना जाता है, जिस समय कि औसत लड़का (या लड़की) विद्यालय की ऊँची कक्षा में पहुँच जाता है। अब स्कूल और घर दोनों में मान्यता प्राप्त करने की आकांक्षा परिपक्वता पाने में किशोर के लिए अभिप्रेरणा का कार्य करती है। वह किशोर के समान व्यवहार करना ही अपना लक्ष्य बना लेता है। वह इस लक्ष्य को 21 वर्ष का होने से पहले प्राप्त करता है या नहीं, इस बात का उसके प्रौढ़ की हैसियत को प्राप्त करने पर कोई असर नहीं होता। वह जब उस आयु में पहुँच जाएगा तब स्वतः ही प्रौढ़ बन जाएगा और प्रौढ़ के सारे कानूनी अधिकार, सारी सुविधाएँ, तथा जिम्मेदारियाँ प्राप्त कर लेगा। आदिम संस्कृतियों की बात बिल्कुल भिन्न होती है। वहाँ कालिक आयु चाहे जो हो, प्रौढ़ का दर्जा तब तक नहीं दिया जाता जब तक किशोर यौवनारम्भ संस्कार के समय यौवन के विकासोचित कार्यों में अपने को इतना पारंगत न करले कि उसे प्रौढ के दर्जे को सफलतापूर्वक ग्रहण करने के लिए तैयार समझा जा सके।

नव किशोर से भेद करने के लिए उत्तर किशोरावस्था में पहुँचे हुए लड़के लड़कियों को आम-तौर पर कई नाम दिए जाते हैं। उन्हें प्रायः "युवक", "युवती", जवान पुरुष, जवान स्त्री इत्यादि कहा जाता है। पुरुष और स्त्री कहने से यह प्रकट होता है कि समाज उनमें व्यवहार का परिपक्व होना मानता है, जो कि उनमें पूर्व किशोर अवस्था में नहीं था। चूँकि किशोर कानून की दृष्टि से परिपक्व नहीं होते हैं, इसलिये उन्हें पुरुष और स्त्री कहना सही नहीं और इस कारण से पहले जवान लगा देने से प्रौढ़ों से उनका भेद कर दिया जाता है।

संघर्ष व तनाव का काल

किशोरावस्था में जैविक, सामाजिक व मानसिक सभी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। लड़कों में यौवनारम्भ के चिह्न जघन बाल, दाढ़ी-मूँछ आना तथा आवाज का भारी होना है। लड़कियों में यौवनारम्भ का सूचक प्रथम रजः स्राव है तथा इसी के साथ स्तन विकास श्रोणि वृद्धि एवं वसासंग्रह भी होता है। सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति किशोरावस्था में अनेकों बाह्य व आन्तरिक बन्धनों में जकड़ा हुआ होता है तथा माता-पिता व परिवार पर निर्भर रहता है। मानसिक दृष्टि से यह अत्यन्त संघर्ष व तनाव का काल है। इस अवस्था में व्यक्ति बाल्यकाल के बन्धनों एवं पर-निर्भरता से प्रौढावस्था की स्वतन्त्रता एवं आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर होने के लिए प्रयत्न करता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त लम्बी है। कुछ सीमा तक प्रौढ़ों ने ही इसे लम्बा बना रखा है। साम तथा जेमिसन[1] के अनुसार

---

1. साम, मार्गरेट एण्ड ऑलिन जी. जेमीसन, "अडोलेसेन्स" न्यूयार्क 1952 पृ. 4

किशोरावस्था एक कठिन काल है क्योंकि प्रौढ़ किशोरों को इच्छित स्वतंत्रता नही देते वरन् स्वतन्त्रता के विरोध में रहते हैं। इस विरोध से मुक्ति पाने के लिए उसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है।

किशोर के आलोचक

किशोर की छवि के सम्बन्ध में समाज के विचारों में पर्याप्त भिन्नता उपलब्ध है। यदि एक ओर किशोर के अनेक कटु आलोचक हैं तो दूसरी ओर किशोर को भावपूर्ण प्रशंसकों का भी प्रचुर मात्रा मे समर्थन प्राप्त है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक किशोर को निन्दा व प्रशंसा दोनो ही प्राप्त हुई हैं। अधिकांश प्रौढ़ समकालीन किशोरो को भटकी हुई पीढ़ी का मानते है। यदि आज से लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व सुकरात की मान्यता थी कि किशोर अपने से बड़ों का सम्मान नही करता, कार्य की अपेक्षा बातें करना अधिक पसन्द करता है, माता-पिता का सम्मान नही करता, उनकी उपस्थिति में बहस करता है अथवा उनके कक्ष में प्रवेश करने पर खडा नही होता तथा अपने अध्यापकों को आतंकित करता है, तो आधुनिक शताब्दी में केनिस्टन महोदय (1975) की भी यही मान्यता है कि विकास की अन्य अवस्थाओं की भाँति किशोरावस्था भी अनैतिकता और मनोविकृतियों की संभावनाओं से परिपूर्ण है। ऑकलैण्ड का वृद्धि तथा निर्देशन अनुदैर्ध्य अध्ययन (Longitudinal Study) भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है और निष्कर्ष रूप में लिखता है कि युवा वर्ग अस्थिर प्रकृति का होता है। डोरोथी रोजर्स (Dorhy Rogers) का कथन है कि किशोर स्वयं भी अपने सम्बन्ध में स्वपीडक दृष्टिकोण ही अपनाते हैं। जिस प्रकार अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग के शासन का विरोध नहीं कर पाता उसी प्रकार किशोर भी प्रौढ-समूह की शक्ति का विरोध करते हुए भी, उनके द्वारा व्यक्त विचारों से असहमत होते हुए भी, उन्हें मानने को बाध्य है।

किशोर के समर्थक

किशोरावस्था के समर्थक किशोर को आदर्शवादी मानते हुए उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। डा० आर्थर टी. जरसिल्ड[1] के अनुसार, जीवन के वितान पर किशोरावस्था को देखें तो लगता है कि इस काल मे जीवन तरंग अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाती है। किशोर का जीवन अनुभव के क्षेत्र मे प्रवेश करने के, नवीन सम्बन्धों को ढूँढ निकालने के तथा आतरिक शक्ति एवं योग्यता के नए साधनों की अनुमति के अवसरों से भरा होता है अथवा उसकी संभावना रहती है। बचपन में वह घर के बन्धन मे दृढ़ता से बँधा हुआ था, किन्तु किशोर होने पर गवेषणा (exploration) की उसे पूर्ण स्वतंत्रता मिल जाती है या मिल सकती है। प्रौढो की अपेक्षा वयस्क किशोरों को जोखिम उठाने की प्रायः अधिक आजादी रहती है, क्योंकि उम्र बढ़ जाने पर तो काम धंधा संभालने और परिवार का पालन-पोषण करने की जिम्मेदारी आ जाती है। किशोरावस्था में बहुतेरे व्यक्तियों के प्रेम और शक्ति के रंगीन सपनो में जीवन की वास्तविकताएँ विघ्न नहीं पहुँचाती। अनेक दृष्टियों से, किशोर उस सरम ऋतु का प्राणी है, जो जीवन के बसन्त तथा ग्रीष्म के बीच मे आती है। किशोरावस्था के प्रशंसक किशोरों की संसार की समस्याओं से जुड़े रहने तथा उन समस्याओं को सुलझाने में उनके द्वारा सक्रिय भूमिका अदा किए

---

1. आर्थर टी. जरसिल्ड ए टी, 'द साइकोलोजी ऑफ अडोलेसेन्स' मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1963 पृ. 3

जाने के लिए उनकी प्रशंसा करते हैं। उनकी मान्यता है कि आन्दोलनकारी, साहसी, विजेता, व मातृभूमि पर न्यौछावर होने वाले शहीद आदि युवा वर्ग के ही होते है।

व्युत्पत्ति (Origin)

किशोरावस्था शब्द आंग्ल शब्द अडोलेसेन्स (adolescence) का हिन्दी रूपान्तर है, जिसकी व्युत्पत्ति लेटिन क्रिया अडोलेस्कर (adolescre) से हुई है जिसका अर्थ है परिपक्वता को प्राप्त करना। इस अर्थ में किशोरावस्था काल अवधि नहीं अपितु एक प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से बालक समाज में प्रभावी रूप से सक्रिय होने हेतु आवश्यक अभिवृत्तियाँ व विश्वास आदि अर्जित करता है। किशोरावस्था को एक गति के रूप मे भी परिभाषित किया जा सकता है। यह एक प्रकार का शारीरिक प्रव्रजन है, जिसमे व्यक्ति बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था की ओर जाता है। दूसरे शब्दों में घर छोड़कर अपने आपको बाह्य संसार में प्रवेश करने योग्य बनाता है।

परिभाषा (Definition)

किशोरावस्था को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है—

1. शारीरिक विकास के संदर्भ में—जीव विज्ञान के अनुसार शारीरिक विकास की दृष्टि से किशोरावस्था यौवनारम्भ से लेकर वयस्कता प्राप्त होने तक के मध्य की अवस्था है। शारीरिक विकास की दृष्टि से इस परिवर्तन की अनेक अवस्थाएँ है। प्राक्किशोरावस्था यौवनारम्भ से पूर्व के दो तीन वर्ष की अवधि है। लैंगिक परिपक्वता के साथ ही बालक या बालिका किशोर बन जाते हैं। मुख्य रूप से बालिकाओं में यह परिपक्वता रजःस्राव के साथ आती है और बालकों में शुक्राणुओं की उत्पत्ति के साथ।

2. आयु वृद्धि के अनुसार—कभी-कभी किशोरावस्था की परिभाषा कालिक आयु के अनुसार भी की जाती है। बर्गर और हैकेट के अनुसार आयु भूमिका निर्वहण तथा सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिक कसौटी है। कैटल के अनुसार भी आयु के अनुसार जीवन की अवस्थाओं का वर्गीकरण स्वाभाविक है। अधिकांश देशों में सामाजिक व्यवस्था आयु के अनुसार है। कानून भी उसी के अनुसार बनते हैं। उदाहरणार्थ एक निश्चित आयु के पश्चात् ही व्यक्ति विवाह कर सकता है या कार चला सकता है या मताधिकार प्राप्त कर सकता है। ये आयु सीमाएँ यादृच्छिक (arbitrary) हैं जिनकी अस्वीकृति भारी हलचल का कारण बन सकती है। यद्यपि कुछ सीमा तक यह विभाजन वास्तविकता से दूर है क्योंकि मानसिक अथवा शारीरिक परिपक्वता एक दम से नही आ जाती है।

3. विकास की असंतत अवस्था—आयु-अवस्था-सिद्धान्त (Age-Stage-Theory) नितान्त नई धारणा है जो कि काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। यह कालिक धारणा से जुड़ी हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज अपने सदस्यों का आयु-समूहों में वर्गीकरण करता है—प्रत्येक आयु समूह की अपनी विशेषताएँ, कर्त्तव्य व अधिकार होते है। प्राचीन युग मे जीवन केवल दो अवस्थाओं में बाल्यावस्था व प्रौढ़ावस्था मे वर्गीकृत था। उस समय परिपक्वता आने के साथ बाल्यावस्था की समाप्ति नही होती थी अपितु आत्म-निर्भर व स्वतंत्र होने तक बाल्यावस्था ही मानी जाती थी एवं आत्म-निर्भरता व स्वतंत्रता प्राप्ति एवं जीविकोपार्जन के साथ ही प्रौढ़ावस्था आ जाती थी। **किशोरावस्था बीसवीं शताब्दी की धारणा है, जिसका उदय वेग्नर के साथ हुआ।** प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ यह धूमिल धारणा स्पष्ट होने लगी। बाल्यकाल और वयस्कता के मध्य का समय

किशोरावस्था कहा जाने लगा। इसे जीवन-चक्र में एक अवस्था विशेष के रूप में जाना जाने लगा। इस अवधारणा के विकास का श्रेय कुछ सीमा तक शहरीकरण को है, क्योंकि इससे पूर्व बालकों और प्रौढ़ों के कार्य-क्षेत्र मनोरंजन के साधन आदि समान थे। परन्तु औद्योगीकरण के साथ शहरों का विकास हुआ और साथ ही साथ बालकों में परिवार से बाहर मनोरंजन के साधन ढूँढने की ओर झुकाव बढ़ा। औद्योगीकरण के कारण परम्परागत शिक्षा अपर्याप्त मानी जाने लगी और उसका स्थान उच्च विद्यालयी शिक्षा लेने लगी। इस प्रकार से किशोरावस्था के एक विशिष्ट आयु अवस्था बनने के लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं—

(i) बालकों का प्रौढ़ों से पृथक् होना—शहरीकरण के कारण
(ii) उच्च विद्यालयी शिक्षा की आवश्यकता
(iii) संस्कृतियों की जटिलता[1]

4 सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि—शारीरिक दृष्टि से किशोरावस्था उतनी ही प्राचीन है जितनी की मानव जाति। परन्तु सामाजिक दृष्टि से किशोरावस्था व्यक्ति जीवन की वह अवधि है जबकि समाज उस व्यक्ति को बालक भी नहीं मानता और प्रौढ़ का दर्जा भी नहीं देता है। आदिम संस्कृति मे बालक परिपक्वता को प्राप्त करते ही प्रौढ़ की श्रेणी मे आ जाता था, परन्तु शहरी सभ्यता व संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास के साथ उसे बाल्यावस्था के पश्चात् प्रौढ़ावस्था मे आने से पूर्व बीच की एक और अवस्था को पार करना व उसके अनुभव प्राप्त करना आवश्यक था। यह अवस्था, जो अधिकतर 13 वर्ष से 19 वर्ष की आयु अवधि के बीच की होती है, किशोरावस्था कही जाने लगी।

सर्व प्रथम जी० स्टेनले हाल ने जीवन की इस अवस्था की विशाल एवं विस्मयकारी तस्वीर खींची थी। हॉल ने इसकी समस्त प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया था। उनके द्वारा इस अवधि को तनाव एवं दबाव का काल कहा जाना, इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि वह अमेरिका के किशोर मनोविज्ञान के छात्रों के मन-मस्तिष्क पर अनेक वर्षों तक छाया रहा।[2] अपनी मृत्यु से तीन वर्ष पूर्व हॉल ने इसकी प्रकृति का स्पष्ट विवेचन करते हुए कहा, "जो अभी भी घोंसले मे है, जिसके पंख अभी छोटे-छोटे है, परन्तु फिर भी वह उडने के लिए निरर्थक प्रयास कर रहा है।" किशोरावस्था के सम्बन्ध मे उसकी इस अवधारणा का अत्यन्त विशद एवं अतिशयोक्तिपूर्ण तरीके से प्रयोग किया गया है।[3]

पाश्चात्य सभ्यता मे किशोरावस्था को बाल्यावस्था एवं प्रौढ़ावस्था के बीच की संक्रमणावस्था के रूप में देखा जाता है। इस संक्रमणावस्था में शारीरिक, भावात्मक, सामाजिक, लैंगिक परिवर्तनो के साथ ही साथ शैक्षिक एवं बौद्धिक परिवर्तन भी होते हैं अत. शारीरिक परिवर्तनो की यह अवस्था पारिवारिक विद्रोह तथा सामाजिक एवं भावात्मक विद्रोह से जुड़ी हुई होती है।

---

1. हॉल जी. एस. "अडोलेसेन्स" न्यूयार्क, 1904
2. हॉल, जी. एस. "अडोलेसेन्स: इट्स साइकोलोजी एण्ड इट्स रिलेशन्स टू फिजियोलोजी, अन्थ्रोपोलोजी, सोशियोलोजी, सेक्स, क्राइम, रिलीजन एण्ड एज्यूकेशन", न्यूयार्क, 1904
3. गैरीसन, कार्ल सी. "साइकोलोजी आफ अडोलेसेन्स," (पाचवा संस्करण) प्रेन्टिस हॉल पृ. 3

किशोर मे ये परिवर्तन आकस्मिक नहीं हैं [illegible]
भावात्मक रूप से अपरिपक्व व्यक्ति शारीरिक एवं [illegible]
रहा होता है। यद्यपि प्रारम्भ में किशोरावस्था [illegible]
ओर ही अधिक ध्यान दिया गया था, परन्तु अब बीसवी सदी के आगमन के साथ-साथ यह तथ्य स्पष्ट होने लगा है कि किशोर के जीवन एवं उससे जुड़ी समस्याओं मे संस्कृति की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संस्कृति एवं जीवन-दर्शन की विभिन्न मान्यताओं के कारण ही किशोरावस्था कहीं तनाव एवं दबाव की अवधि मानी गई है तो कहीं वह कम हलचलों वाली स्थिति ही मानी गई है।

उपरोक्त संदर्भ के अनुसार किशोरावस्था की सबसे उत्तम परिभाषा इस प्रकार से हो सकती है—"व्यक्ति पर जैविक एवं सांस्कृतिक घटकों की अन्तःक्रिया से उत्पन्न वह अवस्था जबकि वह बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था की ओर बढ़ रहा होता है।"[1]

किशोरावस्था की समस्याएँ उस संस्कृति एवं सभ्यता से भी सम्बद्ध है जिसमें कि किशोर रहता है एवं विकास की ओर बढ़ता है। इस सम्बन्ध मे मानव वैज्ञानिक मारगरेट मीड़[2] का अध्ययन महत्वपूर्ण है। उन्होंने दक्षिणी समुद्र के एक छोटे टापू समोआ पर नौ माह व्यतीत किए। समोआ की संस्कृति सरल थी। मारगरेट मीड़ ने पाया कि वहाँ किशोर बालिका को प्रौढ़ावस्था की ओर बढ़ते समय किसी भी प्रकार की जटिलता या कठिनाई का सामना नही करना पड़ता है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने इसके निम्न कारण बतलाए हैं।

1. जीवन में किसी भी प्रकार की जल्दबाजी नही है तथा धीमी विकास गति के कारण किसी को दण्ड़ित भी नही किया जाता है।

2. मान्यताओं एवं विश्वासों के कारण कोई भी संघर्ष नही करता है, विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपने को दाँव पर नहीं लगाता है।

3. व्यक्तिगत सम्बन्धो में प्यार व घृणा, ईर्ष्या तथा बदला, दुःख और पछतावा, सभी कुछ क्षणिक होते हैं।

4. उनकी पसन्द या रुचियाँ कम एवं सरल होती हैं, तथा व्यक्ति पर अमुक पसन्द या नापसन्द के लिए किसी प्रकार का दबाव भी नही डाला जाता है।

5. कोई भी किसी व्यक्ति विशेष के प्रति गहन भावनाओं का प्रदर्शन नही करता है।

6. जन्म, मृत्यु एवं काम सम्बन्धो के प्रति किसी प्रकार की गोपनीयता नही रखी जाती हैं। वहाँ के बालकों के लिए यह सब कुछ स्वाभाविक है।

7. बालकों को छोटी आयु से ही उनकी क्षमता के अनुसार कार्य करने की शिक्षा दी जाती है। यह कार्य सामाजिक ढाँचे की दृष्टि से अर्थपूर्ण होते है।

अतः समोआ का किशोर एक सरल एवं स्वच्छन्द वातावरण मे बिना कुंठाओं के प्रौढ़ावस्था की ओर बढ़ता चला जाता है। उसके जीवन में विकास सम्बन्धी जटिलताएँ नही आती है।

---

1. गैरीसन कार्ल सी. "साइकोलोजी आफ एडोलेसेन्स" पाचवा सस्करण, प्रेन्टिस हॉल 1960 पृ. 4
2. मीडी, एम. "कोम द माउब मीज," न्यूयार्क : विलियम मोरो एण्ड क. 1939 पृ. 198–230

किशोर के अध्ययन की आवश्यकता (Why Study the adolescent)

यदि यह कहा जाए तो अत्युक्ति नही होगी कि समाज किशोरो के प्रति सदैव से उदार और दयालु नहीं रहा है। कुछ लोगों की तो यह धारणा रही है कि किशोरो को कड़े नियंत्रण मे रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उनका समुचित विकास नही हो सकेगा। किशोर-मन के उचित अध्ययन के अभाव मे अधिकांश प्रौढ़ व्यक्ति किशोर के प्रति निर्मम व शुष्क दृष्टिकोण अपनाते हैं तथा उसके प्रति कठोर व्यवहार करते है। अतः अध्यापक, माता-पिता व अन्य प्रौढ़ व्यक्ति जो किसी न किसी रूप में किशोर के सर्सग में आते रहते है उनके लिए किशोर, किशोरावस्था, एवं किशोर विकास के गहन अध्ययन की आवश्यकता है। इसके अभाव में वे किशोर के उचित पथ-प्रदर्शक भी नही बन सकते तथा उसके विपरीत अत्यधिक नियन्त्रण बनाए रखने के प्रयत्न मे वे उसकी निर्बाध, वृद्धि एव विकास मे रूकावट डालने लगते हैं। कुछ लोग किशोर-मनोविज्ञान का शास्त्रीय एव व्यावहारिक रुचियो के कारण भी अध्ययन करते है। अध्ययन किसी भी दृष्टि से किया जाए वह व्यक्ति को किशोरो से अधिक बुद्धिमानी का व्यवहार करने तथा किशोर-विकास मे उचित सहयोग प्रदान करने में समर्थ बनाता है।

किशोर के सामने समायोजन की अनेक समस्याएँ होती हैं। अपने शारीरिक परिवर्तनों के कारण वह स्वयं भी चकित रहता है तथा भावात्मक रूप मे भी उसकी कठिनाइयाँ कम नही होती। ऐसी अवस्था मे घर पर माता-पिता की उदासीनता, कठोर व्यवहार अथवा अनुदार दृष्टिकोण, विद्यालय मे अध्यापको द्वारा उनकी कठिनाइयो को नही समझने हुए उन्हे मनोरजक व रुचिकर वातावरण नही प्रदान कर पाना अथवा अध्यापक द्वारा अपनी स्वयं की भावनाओ व असन्तोष को उन पर थोपना अथवा जीवन से हताश अध्यापक का हँसते-खिलते किशोरो के प्रति ईर्ष्यालु होना या समाज के प्रौढ व्यक्तियो द्वारा उन्हें किसी भी प्रकार की सुविधाएँ नही प्रदान कर पाना अथवा समाज के व्यक्तियो द्वारा किशोरों को अच्छे मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करने मे असमर्थ होना या समुदाय की अभद्रताओ व गन्दे क्षेत्रो को अनदेखा कर देना, पुलिस व अदालतों द्वारा किशोर अपराधियो को मनमाने तौर से निबटने देना आदि सब उपरोक्त व्यक्तियो द्वारा किशोर-मनोविज्ञान के उचित अध्ययन के अभाव के कारण है, अन्यथा उनमे से अधिकाश व्यक्ति किशोरो के प्रति अपने दृष्टिकोण एवं व्यवहार मे अवश्य ही उचित परिवर्तन ले आते। किशोरावस्था के अध्ययन के अभाव मे वे उनकी आवश्यकताएँ, समस्याएँ एवं अभिरुचियाँ आदि नही समझ पाते है और इस कारण कभी भी इन्हे घर मे अथवा कक्षा-कक्ष मे अथवा समाज मे उचित व सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नही दे पाते। ये लोग किशोरो को अच्छा विद्यालय, अच्छा सामुदायिक जीवन आदि देने के लिए भी कभी प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नही करते या कहे कि इस आवश्यकता की अवहेलना ही कर देते है।

यद्यपि कुछ माता-पिता और अध्यापक ऐसे भी पाए जाते हैं जो कि किशोर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के बिना भी उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण, उदारता तथा बुद्धिमता पूर्ण व्यवहार करते है और अपनी विवेक-बुद्धि एवं स्वयं प्रज्ञा के आधार पर किशोर के साथ प्रभावशाली ढंग से पेश आते है तथा अधिकाश अवसरो पर सही निर्णय लेते हैं परन्तु फिर भी उन लोगों के लिए भी किशोर मनोविज्ञान के अध्ययन के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता

है। चाहे वह एक पूर्ण अध्यापक हो या निपुण माता-पिता उन्हें किशोर की समस्याओं को सम्पूर्ण रूप में देखना-समझना है। किशोर मनोविज्ञान अत्यधिक विशद है और सामान्य समझ (Commonsense) से कहीं अधिक है। इसके अन्तर्गत किशोर द्वारा व्यक्त अथवा अव्यक्त सभी समस्याएँ सम्मिलित हैं। इसमें परिचित और अपरिचित सभी किशोरों को समझना आवश्यक है, अन्यथा किशोरों के वैयक्तिक अन्तर को समझ पाना संभव नहीं है। यह अध्ययन यह भी स्पष्ट करता है कि किन बिन्दुओं पर किशोर प्रौढ़ों से सहायता की अपेक्षा करते हैं तथा कहाँ उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए। किशोर अपने जीवन के इस परिवर्तनकारी समय को किस प्रकार से व्यतीत करें कि उसका भावी जीवन सुख-कारी व सुसमायोजित बन सके। यह ज्ञान भी किशोर-मनोविज्ञान के अध्ययन से अर्जित होता है। इस अध्ययन के द्वारा युवक-युवतियों में पाए जाने वाले कुसमायोजन का भी ज्ञान होता है ताकि उन्हें उत्तम विकास हेतु उचित निर्देशन दिया जा सके। इससे यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार समुदाय किशोर की असफलताओं के लिए उत्तरदायी है और कहाँ पर वह उसे अच्छे जीवन यापन में सहयोग देता है।

किशोर की सहायता हेतु दूर-दृष्टि की आवश्यकता है—एक ऐसी दृष्टि जो दिन प्रतिदिन के अनुभवों के भी पार देख सके। दो या तीन किशोरों के सान्निध्य से यह दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती है। इसके लिए एक ऐसी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है जो अनेक व्यक्तियों के प्रयत्नों से अनेक व्यक्तियों के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। किशोर के सम्बन्ध में बहुत सी बातें हम तभी अच्छी तरह समझ सकते हैं जब उसके माता-पिता, शिक्षकों एवं उसके पर्यावरण में रहने वाले अन्य सयाने लोगों के साथ उसके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करें।

किशोर के विकास की प्रक्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं जटिल है अत: गहन अध्ययन के बिना उसे समझना अत्यन्त कठिन है। प्रौढ़ किशोर के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं अत: यह आवश्यक है कि वे किशोर-विकास की प्रक्रिया को तथा उसमें अपनी भूमिका को भली प्रकार समझें। यहाँ इन्हीं दोनों बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

किशोर विकास की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण एवं जटिल है

(1) किशोरावस्था प्रौढ़ दायित्व के लिए तैयार करती है—किशोरावस्था जीवन की वह अवधि है जिसमें वृद्धिशील (growing) व्यक्ति बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था में संक्रमण करता है तथा प्रौढ़ दायित्व के लिए तैयार हो जाता है। इस अवस्था को पार करते ही उन्हें स्वतन्त्र रूप से निर्वाह करना होता है, वे अपने लिए कोई व्यवसाय खोजते है, मताधिकार का प्रयोग करते है, विवाह करते है तथा बच्चे होने पर उनके पालन-पोषण का प्रबन्ध करते हैं। इन सब दायित्वों का सभी वयस्क सुचारु रूप से निर्वाह कर लेते हों ऐसी बात नहीं है। अनेक इनमें असफल रह जाते हैं, अनेक मनपसन्द व्यवसाय नहीं खोज पाते, या अपनी रुचि का जीवन साथी नहीं प्राप्त कर सकते या अपने मत का उचित उपयोग नहीं कर पाते क्योंकि वे प्रचार व भावात्मक उद्बोधनों से प्रभावित हो जाते हैं। इस सबके लिए वयस्क भी एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी हैं, क्योंकि एक व्यक्ति अपने वयस्क जीवन में कैसा बनेगा, यह उसकी किशोरावस्था में की गई देखभाल तथा दिए गए

निर्देशन पर निर्भर करता है। यही वह समय है, जबकि किशोर अच्छा या बुरा वयस्क बनता है। बहुत कुछ हमारे द्वारा किशोर को दी गई सहायता पर निर्भर करता है। यहाँ हम इस बात पर विचार करेंगे कि इन वयस्क दायित्वों के लिए किशोरावस्था किस प्रकार महत्त्वपूर्ण है।

(क) व्यावसायिक चयन एवं उत्तरदायित्व की ओर प्रगति—जीवन का आनन्द बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति को रुचि के अनुकूल कार्य मिल सके, जिसे वह अनिवार्य बुराई समझ कर नही करे बल्कि यह समझ कर करे कि इसमे उसे आनन्द मिलता है या जिसको करके उसे गौरव का अनुभव हो। यह कार्य उसके वयस्क बनते ही तुरन्त नही मिल जाता है। किशोरावस्था मे इसकी तैयारी होती है। कौनसा कार्य उसकी रूचि के अनुकूल है, इसकी खोज तथा उस कार्य सम्पादन के लिए आवश्यक गुणो का अर्जन किशोरावस्था मे होता है। अतः यह अनिवार्य है कि प्रौढ़ किशोर की क्षमताओ को समझते हुए उनके विकास मे अपना सहयोग प्रदान करें।

(ख) नागरिकता—अच्छे नागरिक बनने के लिए आवश्यक गुणो का उद्‌भव बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो जाता है, परन्तु किशोरावस्था के प्रौढ़ावस्था के अधिक निकट होने के कारण यह किशोर के लिए अधिक अर्थपूर्ण होती है। किशोर इसी अवस्था में इन गुणों को अर्जित कर सकता है तथा अच्छा नागरिक बन सकता है।

(ग) विवाह-सम्बन्धी-चुनाव—किशोरावस्था के पाँच या छः वर्षों में किसी को स्वीकार करने *व स्वीकृत किए जाने की लालसा अत्यधिक प्रबल होती है* तथा इसी कारण किशोर में स्नेह व सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार व सहकारी भावना के विकास की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी अवस्था मे विपरीत लिंग की ओर आकर्षण भी उत्पन्न होता है। इसी समय में रोमांस और विवाह की भावना विकसित होती है। यदि उचित अवसर प्रदान किया जाए तो किशोर यौन-सम्बन्धो को भली प्रकार समझ सकता है तथा जीवन में इसके महत्त्व को भी जान सकता है। इसके अभाव मे वह दोषपूर्ण सम्बन्धो का शिकार हो सकता है तथा अपने जीवन व स्वास्थ्य को नष्ट कर सकता है। विवाह कब और किससे किया जावे, यह निश्चय भी महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर भारतीय समाज मे जहाँ तलाक की सम्भावना भी नही के बराबर होती है, क्योंकि कुछ देशो व समाजो मे तो विवाह-सम्बन्धी निर्णय कर चुकने के बाद भी तलाक द्वारा उसे रद्द कर देना सम्भव है, किन्तु कई समाजों मे वैसा करने की भी गुंजाइश नही रह जाती, और उन्हें सम्पूर्ण जीवन अपने गलत चयनित साथी के साथ व्यतीत करने की कष्टकर बाध्यता भोगनी पड़ती है।

(घ) मातृत्व-पितृत्व—अच्छे माता-पिता बनने के लिए दो अनिवार्य शर्ते है—प्रथम यह कि माता-पिता पूर्ण स्वस्थ, सुखी व उदार प्रकृति के हों; द्वितीय यह कि वह बच्चों की उचित देखभाल कर सकें। प्रथम आवश्यकता की पूर्ति उचित व सफल विवाह के लिए आवश्यक व्यक्तित्व के विकास के साथ हो जाती है और ये गुण किशोरावस्था मे ही विकसित होते हैं। जहाँ तक दूसरी दक्षता का प्रश्न है, यह आवश्यकता पड़ने पर स्वयं ही आ जाती हैं।

(2) किशोरावस्था महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिवर्तनो का काल है—जैसा कि हमने देखा है, किशोरावस्था प्रौढ़ावस्था के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही वह समय है,

जबकि वयस्क बनने के लिए आवश्यक तीन महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिवर्तन अवश्य होने चाहियें।

(अ) वह मानसिक रूप से अपने को घर से मुक्त समझे—उसकी माता-पिता पर निर्भर करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जानी चाहिए।

(ब) उसका विषमलिंगी समवयस्कों से उचित समायोजन हो जाना चाहिए ताकि वह भावी जीवन के लिए उचित साथी का चयन कर सके, उसे भरपूर प्यार दे सके तथा उसके साथ सुखी जीवन व्यतीत कर सके।

(स) उसमें आत्म-निर्भरता की प्रवृत्ति लक्षित होनी चाहिए—व्यवहार मे प्रौढता हो तथा उसका दृष्टिकोण, मूल्य, नैतिकता, स्तर तथा आदर्श सभी प्रौढ़ के समान होने चाहिए। वह अपने कार्य-कलापों तथा गति विधियों के लिए कही और से निर्देशन की प्रतीक्षा नही करे—स्वयं ही निर्णय लेने मे सक्षम बने।

प्रौढ़ों के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि किशोरावस्था मे ये तीनो परिवर्तन अवश्य ही आ जाएँ। यदि किशोर अपने जीवन के इन छ-सात वर्षो का सदुपयोग नही करता है तथा पूर्ण प्रभावी रूप से उपरोक्त परिवर्तन को लाने मे सक्रिय नही रहता है तो प्रौढ़ बनने पर उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(अ) घर पर निर्भरता की समाप्ति—यौवनारम्भ से पूर्व बालक घर से अत्यधिक जुड़ा होता है। वह माता-पिता का अंध-भक्त व अंध-आज्ञाकारी होता है तथा उन्हे बुद्धिमान्, शक्तिशाली समझता है एवं यह भी मानता है कि वे उसे उचित संरक्षण, सहायता व निर्देशन प्रदान करते हैं। इक्कीस वर्ष का युवा वयस्क माता-पिता तथा घर के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण रखता है। अब माता-पिता उसके लिए निर्णय नहीं लेते हैं। अपने निर्णय वह स्वय लेता है तथा माता-पिता से अब उसके सम्बन्ध स्नेह व मित्रता के होते हैं, न कि उन पर निर्भरता के। बालक के अपने घर से सम्बन्ध तथा किशोर के अपने घर से सम्बन्धों में यह परिवर्तन किशोरावस्था मे आता है। यह निश्चय ही संघर्षपूर्ण एव कठिन कार्य है क्योंकि माता-पिता उसे अब भी सरक्षण देना चाहेंगे, उस पर अपना नियंत्रण रखना चाहेंगे, वे बालक से जुड़े रहना चाहेगे। बस यही से मतभेद व मनमुटाव आरम्भ हो जाता है। परन्तु किशोर की स्वतंत्रता व दायित्व की वृद्धि हेतु उन्हे निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। मुक्ति के इस युद्ध में उसे आक्रामक बनने से नही घबराना चाहिए।

(ब) विलिंगकामी समायोजन—बालक का शरीर पूरी बाल्यावस्था में एकसा रहता है, केवल उसमें लम्बाई चौड़ाई की वृद्धि का अन्तर आता है परन्तु यौवनारम्भ के साथ ही किशोर के शरीर में अचानक परिवर्तन आते है, जिनसे वह चकित रह जाता है। बालक यौन सम्बन्धों के प्रति उदासीन रहता है परन्तु किशोर इन शारीरिक परिवर्तनो के कारण उत्पन्न उत्तेजनाओं एवं तनावों से परेशान रहता है। वह इसके कारणो को नही समझ पाता तथा इनका सामना करने मे अपने को असमर्थ समझता है। उसके समक्ष विषम लिंगी समवयस्कों द्वारा स्वीकृत किए जाने की भी समस्या रहती है। वह चाहता है कि वह दूसरों द्वारा स्वीकृत हो एवं भिन्न लिंगी से भावात्मक घनिष्ठता स्थापित कर सके।

(स) **प्रौढ़ जीवन के व्यवहार-निर्देशन की प्राप्ति**—यदि उचित निर्देशन प्राप्त हो तथा सब कुछ ठीक चले तो किशोरावस्था में व्यक्ति की आत्म-निर्देशन क्षमता बढ़ती जाएगी। वह निजी साधनों का उपयोग करने तथा स्वतन्त्र रूप से स्वयं निर्णय करने, सोचने और अनुभूति करने में अधिकाधिक समर्थ होता जाएगा। किशोर को घर पर या विद्यालय में जो शिक्षा दी जाती है, उससे साधारणतः यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रौढ़ता के निकट पहुँचते-पहुँचते निजी विश्वासों का निर्माण कर ले तथा जीवन में क्या अच्छा और क्या मूल्यवान है, इस सम्बन्ध में अपनी स्वतंत्र धारणाएँ बना ले। बाल्यावस्था की धारणाओं से किशोरावस्था की धारणाओं में एक विशेष अन्तर आ जाता है, या आ जाना चाहिए।

(3) **सर्वांग उचित वैयक्तिक समायोजन के लिए किशोरावस्था अन्तिम अवसर प्रदान करती है**—सुखी व प्रभावी प्रौढ़ावस्था के लिए उचित समायोजन पूर्णतया अनिवार्य है। यह समायोजन शैशव काल से ही आरम्भ हो जाता है, यदि किसी कारण से उस काल में नहीं प्राप्त हो सके तो किशोरावस्था में हो सकता है परन्तु इसके बाद समायोजन होना, चाहे असम्भव न सही, पर कुछ कठिन तो होता ही है। सामाजिक रूप से पूर्णतः समायोजित व्यक्ति वह है जो सरलता से दूसरों के साथ कार्य, खेल-कूद व पारिवारिक स्थितियों में समझौता कर सके तथा अपने दायित्व-वहन की योग्यता व इच्छा रखता हो। जैसाकि हम मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों के अन्तर्गत अध्ययन कर चुके हैं किशोरावस्था में दूसरों द्वारा स्वीकृत किए जाने की सहज-भावना रहती है अत सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह की शिक्षा वह इस आयु में अत्यधिक तत्परता से प्राप्त करता है।

(4) **किशोरावस्था की कठिनाइयाँ**—किशोरावस्था जीवन का संघर्षपूर्ण तथा जटिलताओं से भरा समय माना जाता है। इसके लिए दो कारक उत्तरदायी हैं :—

(अ) हमारी सभ्यता तथा

(ब) शारीरिक परिवर्तन

(अ) **हमारी सभ्यता**—हमारी सभ्यता व संस्कृति किशोरावस्था को अधिक जटिल, तनावपूर्ण एव संकटपूर्ण बनाती है जैसा कि मानव-वैज्ञानिक मारगरेट मीड (1925) के समोआ द्वीप के निवासियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है। यह द्वीप शहरी सभ्यता के विकारों का शिकार नहीं हुआ है तथा वहाँ की संस्कृति भी हमारी संस्कृति की भाँति उलझी हुई नहीं है। मारगरेट मीड ने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि समोआ में किशोरावस्था न तो संकटपूर्ण है और न जटिल ही। इसका कारण वहाँ चयन की सरलता, वैयक्तिक हस्तक्षेप का अभाव, समाज द्वारा शारीरिक वृद्धि को सहजता से स्वीकार किया जाना, यौन सम्बन्धों का रहस्यात्मक नहीं बनाया जाना तथा छोटी आयु में ही समाज के कार्यों में बालकों द्वारा हिस्सा लिया जाना है, जबकि इसके विपरीत हमारी सभ्यता उलझावपूर्ण है। शारीरिक रूप से बालक वयस्क बन जाता है परन्तु फिर भी माता-पिता व समाज उसे दस वर्ष का बालक ही मानते हैं। आदिम समाज की तरह उसे सरलता से वयस्क का दर्जा नहीं दिया जाता है। अतः किशोर की समाज में द्वन्द्वपूर्ण स्थिति बन जाती है। फलस्वरूप उसका माता-पिता, अध्यापक व अन्य प्रौढ़ों से टकराव होता है। स्वतन्त्रता के लिए किशोर को संघर्ष करना पड़ता है। समाज में पाए जाने

वाले दोहरे मापदण्ड भी किशोर के लिए कठिनाई उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए एक ओर शिक्षा दी जाती है कि ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, परन्तु दूसरी ओर किशोर देखता है कि राजनैतिक बेईमानी बढ़ती जा रही है तथा उसे अनदेखा कर दिया जाता है, या फिर व्यापार व्यापार ही है, वह व्यापारी मूर्ख है जो अपने हाथ-पाँव बचा कर नही चलता। इसी प्रकार एक ओर *'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'* का मंत्र उच्चारा जाता है तथा स्त्री को भगवान की सबसे उत्तम कृति माना जाता है तो दूसरी ओर स्त्री को समाज पुरुष से कम योग्य व तर्कशील मानता है अथवा आए दिन महिलाओं पर अत्याचार के समाचार सामने आते रहते हैं। किशोर के लिए एक परेशानी चयन की स्वतन्त्रता नही देने के कारण भी आती है। किशोर कई बातों के चयन में निर्णय स्वय का चाहता है जैसे कि वह विद्यालय में क्या विषय पढ़े? अथवा शाम कैसे व्यतीत करे? परन्तु यहाँ भी प्रौढ़ मस्तिष्क उस पर छाया रहना चाहता है। ये लोग उसके मनोरंजन की विधियों पर भी रोकथाम लगाकर उसे समाज के दूरस्थ स्थानों पर भद्दे तरीकों से मनोरंजन करने को बाध्य कर देते है। किशोर की दृष्टि से समाज में फैले हुए दुर्गुण भी छिपे नही रहते हैं और वह उनका भी अनुकरण करता है। आदिम समाज के विपरीत हमारी सभ्यता में अनेक ऐसी घटनाएँ भी घटित होती हैं, जो कि हमारे नियंत्रण से परे होती है, तथा किशोर को उलझन में डालती रहती हैं। एक मुख्य कारण यौन सम्बन्धी है। किशोर से यौन सम्बन्धों को छिपाया जाता है। अतः उचित यौन शिक्षा के अभाव में भी वह गुमराह हो जाता है तथा उसके जीवन में कुंठाएँ घर कर जाती हैं।

अतः यदि यह कहा जाए कि हमारी सभ्यता किशोरावस्था को जटिल एवं संकट-पूर्ण बनाती है तो कोई आश्चर्य नही है।

(ब) शारीरिक परिवर्तन—किशोरावस्था में यौवनारम्भ के साथ शारीरिक परि-वर्तन आते हैं। कुछ किशोर तो इसे साधारण रूप में लेते है अतः उनके समायोजन में कोई कठिनाई नही आती परन्तु कुछ किशोरों के लिए ये शारीरिक परिवर्तन कठिनाई उत्पन्न कर देते हैं।

किशोरावस्था के प्रति प्रौढ़ अधिक उत्तरदायी है

किशोर एक उन्मुक्त प्राणी नहीं है। वह अपने जीवन को प्रौढ़-बन्धन से कितना ही मुक्त रखने का प्रयत्न करे, अपने को असमर्थ ही पाता है। हाँ यह अवश्य है कि कुछ मामलों मे वयस्कों का हस्तक्षेप उद्देश्यपूर्ण होता है और कुछ में वह नियोजित नही होता है। अधिकांशतः किशोर अपने माता-पिता की उदारता पर निर्भर करते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि वे उनसे अपने जीवन का समायोजन रखने का प्रयत्न करते हैं। उनका रहन-सहन, खान-पान, बाहर घूमना-फिरना, सब कुछ प्रौढ माता-पिता पर निर्भर करता है। यहाँ तक कि वे अपने माता-पिता द्वारा दी गई धन राशि कैसे और कहाँ खर्चे, क्या कपड़े पहने, आदि बातें भी माता-पिता पर निर्भर रहती हैं। उसका भावात्मक विश्वास भी प्रौढ़ पर निर्भर करता है। माता-पिता, परिचित, राजनीतिज्ञ, परिवार के मित्र, धार्मिक लोगो आदि को वह वार्तालाप करते सुनता है और उनसे प्रभावित होता है। वह घर और बाहर होने वाले स्नेह-सम्बन्धो अथवा झगड़ों आदि को देखता है; कभी-कभी स्वयं उनमें हिस्सा लेता है; वह देश-भक्ति, स्वामि-भक्ति, अविश्वास, प्यार, घृणा, ७८

निर्दयता आदि अनेक स्थितियों को घर व बाहर सब जगह देखता है और यह सब उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।

जिस प्रकार घर पर माता-पिता किशोर को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार विद्यालय में जहाँ वह प्रतिदिन पाच-छ घण्टे व्यतीत करता है, उसके अध्यापक उसे प्रभावित करते है। उनका उस पर पूर्ण दबाव रहता है। अध्यापक का पूर्ण निरीक्षण उस पर रहता है, वह हर समय उसे निर्देश देता रहता है "पंक्तिबद्ध चलो, सीधे बैठो, सीटी नही बजाओ, अमुक साहित्य पढो, अमुक परीक्षा दो, बरामदों में नही घूमो, आदि" यदि किशोर ऐसा नही करता है, तो उसे प्रताडना मिलती है। वह अच्छा है या बुरा इसका मापदण्ड प्रौढ़ धारणाएँ होती है।

घर व विद्यालय के अतिरिक्त वैधानिक बन्धन भी किशोर को घेरे रहते हैं। जैसे कि वह एक निश्चित आयु से पूर्व नौकरी नही पा सकता या मताधिकार प्राप्त नही कर सकता।

अपने मनोरंजन के समय मे भी किशोर मुक्त नहीं रहता। उसके मनोरंजन के साधन भी प्रौढ द्वारा निश्चित व निर्मित होते है। साथ ही वह प्रौढ़ मनोरंजन भी देखता है, अत स्वभावतया वह उनमे भी रुचि लेने लगता है। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रौढ किशोर के निर्देशन का दायित्व अपने पर ले लेता है और पग-पग पर उसे निर्देशित तथा प्रभावित करता रहता है। प्रौढ की यह मान्यता होती है कि यदि आज का किशोर उसके द्वारा बताए गए पथ का अनुसरण करता है तो निश्चय ही वह आने वाले कल मे एक सफल प्रौढ बनेगा। उसके द्वारा बिताए गए आज के जीवन के तौर तरीकों पर ही उसका भविष्य निर्भर करता है।

यह एक गम्भीर विषय है तथा हमें इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे किशोर को प्रभावित करने वाले प्रौढ़ यदि अपने व्यवहार व निर्देशन मे गलती करते है तो निश्चय ही इसका प्रभाव हानिकारक होगा। इससे न केवल किशोरावस्था ही, बल्कि प्रौढावस्था, प्रौढ के माध्यम से पूर्ण समाज व देश भी कुप्रभावित होगा। अत. प्रौढों द्वारा किशोर के प्रति दायित्व की अवहेलना करना उचित नही है। अनेक परिस्थितियों मे प्रौढ द्वारा निर्देशन के अभाव मे किशोर का विकास 'ठीक' हो जाता है परन्तु यदि उन्हे प्रभावी निर्देशन प्राप्त हो तो वह और भी अच्छा हो सकता है।

किशोर को प्रौढ़ की पूर्ण प्रभावी सहायता की अपेक्षा है—किशोर के सम्मुख समायोजन की अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित रहती हैं, इस कारण कभी-कभी उनका व्यवहार अवांछनीय हो जाता है। ऐसे समय मे किशोर प्रौढ से सहायता प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार रखता है। यह प्रौढ़ पर निर्भर करता है कि वह किशोर को सुनियोजित, सम्मानपूर्ण, उदार, गम्भीर वयस्क बनने मे सहायता करें अथवा उन्हें असामाजिक, अनैतिक, अपराधी, भयभीत व कुंठित वयस्क बन जाने दें। इसके लिए आवश्यक है कि किशोर को समझने का प्रयास किया जाए।

हमारा किशोर को समझना आवश्यक है—हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम किशोर के संसार को समझ सकें और उसे किशोर के दृष्टिकोण से देख सकें। हमें किशोर की अभिरुचियों, इच्छाएँ, आवश्यकताएँ, समस्याएँ, आशाएँ, भय इत्यादि का ज्ञान होना भी [illegible] है। यही कारण है कि विगत कुछ ही वर्षों में व्यक्तियों, समूहों व विद्यालयों

द्वारा किशोरावस्था के व्यापक अध्ययन की महत्ता को समझा जा रहा है। कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन निम्न हैं—

1 शिकागो विश्वविद्यालय द्वारा किशोर के चरित्र तथा व्यक्तित्व एवं किशोर पर सामाजिक वर्गों का प्रभाव सम्बन्धी अध्ययन—इस अध्ययन के निष्कर्षों को रॉबर्ट हेविगहर्स्ट तथा हिल्डा टाबा (R. J. Havigherst and H. Taba) ने पुस्तक रूप दिया है—"अडोलेसेन्ट केरेक्टर एण्ड पर्सनेलिटी" (Adolescent Character and Personality) इसमें प्रेरे नगर के उन सभी किशोरो का अध्ययन किया गया था जिनकी आयु 1942 में 16 वर्ष की थी। इन किशोरों की संख्या 144 थी तथा इनके चरित्र-विकास सम्बन्धी अध्ययन किए गए थे।

2. शिकागो विश्वविद्यालय द्वारा ही किशोरों पर सामाजिक प्रभाव सम्बन्धी एक अध्ययन मानवीय विकास समिति (Committee on Human Development) द्वारा भी किया गया। इस अनुसंधान के परिणाम ए० हॉलिंगसहैड (A. Hollingshead) द्वारा रचित पुस्तक "एल्मटाउन के यूथ" (Youth of Elmtown) मे संकलित है।

3. कैलीफोर्निया किशोर वृद्धि अध्ययन (The California adolescent growth Study)—डॉ० हैरोल्ड जोन्स (H. Jones) के निर्देशन में सन् 1932 में यह अध्ययन प्रारम्भ किया गया। इसमें पाँचवीं और छठी कक्षा के 215 विद्यार्थियों का चयन किया गया तथा सात वर्ष तक हर छठे महीने उनका विभिन्न प्रकार से परीक्षण किया गया।

4. अमरीकी युवा समिति द्वारा मेरीलैंण्ड के युवाओं का अध्ययन—यह अध्ययन 1935 में प्रारम्भ हुआ था। इसमें मैरीलैण्ड पर रहने वाले 16 से 24 वर्ष तक की आयु समूह के किशोरों का अध्ययन किया गया था। हावर्ड एम. बैल (H. M. Bell) द्वारा लिखित पुस्तक "यूथ टैल देयर स्टोरी" में इस सर्वेक्षण का विवरण प्रस्तुत है।

5. प्रगतिशील शिक्षा समिति द्वारा किशोरावस्था का अध्ययन—यह अध्ययन 1934 में आरम्भ होकर 1939 में समाप्त हुआ। कैरोलीन जैकरी की अध्यक्षता में किए गए इस अध्ययन में सभी क्षेत्रों के कार्यकर्ता थे—शिक्षक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, भौतिकशास्त्री, मानव-वैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं मनोविश्लेषक सामाजिक कार्यकर्ता। यह अध्ययन किशोरों को समझने के लिए किया गया था। इस अध्ययन के निष्कर्षों को दस से भी अधिक पुस्तकों में लिखा गया है।

कुछ अन्य अध्ययन निम्न हैं—

6. हारवर्ड वृद्धि अध्ययन
7. ब्रुश (Brush) अध्ययन,
8. वाशिंगटन अध्ययन
9. फलीग (Fleege) द्वारा किशोर अध्ययन
10. डिमोक (Dimock) अध्ययन।

इस प्रकार के अनेक अध्ययन इस बात के द्योतक हैं कि किशोर-अध्ययन कितना महत्त्वपूर्ण है। माता-पिता को किशोर का पालन पोषण करना है, अध्यापक को विद्यालय में किशोर के साथ रहना है तथा उचित निर्देशन देना है, समाज द्वारा उसके मनोरंजन के साधन जुटाए जाने है। अतः इन सभी के लिए यह आवश्यक है कि वे किशोर को समझें।

इसके लिए किशोर मे होने वाले शारीरिक, मानसिक व भावात्मक विकास को समझना, उसकी समायोजन की कठिनाइयों मे परिचित होना, उसके आदर्शों एवं भावी आशाओं से अवगत होना आवश्यक है ।

अध्यापक के लिए किशोर को समझना क्यों अनिवार्य है ?

उच्च विद्यालय का अध्यापक किशोर के सान्निध्य में आता है। उसका यह उद्देश्य रहता है कि वह उनके साथ कार्य करने में प्रसन्नता का अनुभव करे तथा उनके प्रति पूर्ण सहानुभूति एव सहायता का भाव रखे। इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान हो कि किशोर क्या है ? किशोर की शारीरिक वृद्धि किस प्रकार होती है ? इस वृद्धि का किशोर मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? यौवनारम्भ की आयु प्रत्येक किशोर मे समान नही है, अत. इस भिन्नता का किशोर मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? शीघ्र परिपक्वता प्राप्त करने वाले बालक-बालिका तथा विलम्ब से परिपक्वता प्राप्त करने वाले बालक-बालिका की मानसिकता मे क्या अन्तर है ? इस अन्तर से उत्पन्न क्या कठिनाइयाँ है ? ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका उत्तर एक सफल अध्यापक के पास होना चाहिए। कोई अध्यापक यदि अपने शैक्षिक व्यवसाय में सफलता की इच्छा रखता है, तो उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि किशोर को समायोजन मे क्या कठिनाइयाँ सामान्यत. उठानी पडती हैं ? यदि वह उन कठिनाइयों के निराकरण मे उचित सहयोग नही प्रदान कर सकता है तो कभी-कभी अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। किशोर के वर्तमान विश्वास एवं भावी आशाओं का ज्ञान भी आवश्यक है। इन सब व अनेक अतिरिक्त तथ्यों के अभाव में अध्यापक कभी भी बिना संघर्ष किए बुद्धिमता पूर्वक न तो किशोर को प्रसन्नता प्रदान कर सकता है और न वह स्वयं ही प्रसन्न रह सकता है।

किशोर-मनोविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता (Why study the adolescent Psychology ?)—अधिकाश प्रौढ किशोर को किशोर जैसा जीवन व्यतीत करने मे बाधक बन जाते हैं। वे चाहते है कि किशोर अपनी अबाध गति से विकसित नही हो बल्कि उनकी इच्छाओ के अनुरूप स्वय को ढाले। वे किशोर को छोटा वयस्क (miniature adult) मानते हैं। यह वृत्ति किशोर विकास के लिए अनुचित ही नही हानिकारक भी है। किशोर के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि वह किशोर ही की भाँति रहे। किशोर के सच्चे अर्थों मे सहायक बनने के लिए हमे निम्न तथ्यो से पूर्णरूपेण अवगत होना चाहिए—

1 किशोर किस प्रकार का होता है ?
2. किशोर के लिए अच्छी जीवन पद्धति क्या हो सकती है ?
3 उसके एक अत्युत्तम प्रौढ बनने मे क्या बातें/कार्य सहायक हो सकते हैं ?
4 हमारी संस्कृति के कौनसे दबाव उसके लिए लाभदायक है तथा कौनसे हानिकारक हैं ?
5. किशोर का नेतृत्व करने में हमारी अपनी क्या विशिष्टताएँ एवं दुर्बलताएँ हैं ?

किशोर से सम्बन्धित उपरोक्त एवं अन्य अनेक समस्याओं/प्रश्नों का समाधान हमें किशोर-मनोविज्ञान के अध्ययन से प्राप्त होता है। किशोर-मनोविज्ञान किशोर के साथ-मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। यह स्वयं प्रौढ़

एवं किशोर दोनों के लिए ही लाभकारी एवं सुखद है। यहाँ हम संक्षेप में किशोर-मनोविज्ञान के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों पर चर्चा करते हुए यह देखने का प्रयास करेंगे कि किशोर-मनोविज्ञान के अध्ययन का किस प्रकार और कितना महत्त्व है।

1. किशोरावस्था वयःसंधि की अवस्था है। इस अवस्था में वह न तो बालक ही रहता है और न ही प्रौढ़ माना जाता है।
2. शारीरिक एवं गत्यात्मक विकास—यह किस प्रकार होते हैं और ये परिवर्तन उसको किस प्रकार प्रभावित करते हैं? उसका बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक व नैतिक विकास किस प्रकार होता है?
3. किशोरावस्था में वैयक्तिक समायोजन किस प्रकार होता है और किस प्रकार किशोर-व्यक्तित्व उभरता है?
4. वे कौन से सामाजिक घटक हैं जो किशोरावस्था को प्रभावित करते हैं?
5. किशोर अपराधी क्यों बन जाते हैं? परिवार, विद्यालय व समुदाय इनकी रोकथाम के लिए क्या कर सकता है?

किशोरावस्था के अध्ययन की विधियाँ (Methods of studying adolescents)

अरस्तू से आधुनिक युग तक किशोरावस्था के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। किशोरावस्था के अध्ययन की साधारणतया वही विधियाँ रही हैं जो शिक्षा के संदर्भ में सामाजिक व दार्शनिक अध्ययन की रही हैं। अरस्तू ने किशोरावस्था का अत्यन्त विस्तृत एवं सर्वोत्तम वर्णन किया है। उसके अध्ययन की विधि निरीक्षण विधि थी; यही कारण है कि उसने शारीरिक परिवर्तनों का तो विस्तृत वर्णन किया है परन्तु मानसिक परिवर्तनों के विषय में केवल यही कहा है कि युवतियों की इस अवस्था में सतर्कतापूर्ण देखभाल अनिवार्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से पूर्व तक यही विधि किशोर-अध्येताओं द्वारा अपनाई गई थी। अठारहवी शताब्दी के अन्त में परिपक्वता से सम्बन्धित सामान्य विवरण अवश्य ही प्रकाश में आया परन्तु परिपक्वता पर विश्वसनीय तथ्य रोबर्टन (1832) द्वारा ही प्रकाश मे लाए गए।

स्टेनले हॉल का प्रभाव

स्टेनलेहॉल के अध्ययन के परिणामस्वरूप आधुनिक मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में किशोर-मनोविज्ञान के अध्ययन का आरम्भ हुआ। हॉल ने किशोरावस्था पर आधार सामग्री एकत्रित की। उन्होंने शिक्षा-मनोविज्ञान में भी अन्य भौतिक विज्ञानो के समान ही प्रामाणिकता (exactness) लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने साक्षात्कार किए, प्रश्न समूह बनाए तथा बालकों की स्व-अभिव्यक्ति का विश्लेषण किया। स्टेनलेहॉल की देन नियंत्रित—निरीक्षण तथा प्रयोग विधि है। किशोरावस्था मे शिक्षा की समस्याओं के अध्ययन हेतु उन्होने प्रायोगिक मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, मानवविज्ञान, समाज मनोविज्ञान एवं साहित्य का आधार लिया। हॉल ने किशोरावस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा किशोर की शिक्षा के लिए वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग की दिशा मे प्रयत्न किया।

हॉल के अध्ययन का दोष यह था कि उसने सांस्कृतिक व्यवस्था तथा वैयक्तिक

भेदभाव की ओर ध्यान नहीं दिया तथा इस तथ्य की भी अवहेलना करदी कि सामान्य (norms) से स्खलन (deviation) भी होते हैं।

फ्रायड का दृष्टिकोण

हॉल के पश्चात् दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति सिग्मंड फ्रायड है। उसने हॉल के आमंत्रण पर 1909 मे अमेरिका की यात्रा की। मनोविश्लेषण की विधि फ्रायड की देन है। फ्रायड ने अपना ध्यान भावात्मक विकास, विशेष रूप से मनोलैंगिक विकास की ओर दिया तथा हॉल के समान विपरीत लिंगो के बीच के अन्तर पर इसने भी बल दिया, परन्तु हॉल के इस कथन को नकारा कि बालक मे यौन भावना परिपक्वता के साथ आती है। उसके अनुसार यह सोचना कि यौन भावना अचानक चौदह वर्ष की आयु के लगभग आ जाती है, मूर्खतापूर्ण है।

किशोर के वैज्ञानिक अध्ययन करने वालो की रुचियों के अनुसार इससे सम्बन्धित अध्ययनो को तीन क्षेत्रों या समूहों मे विभक्त किया जा सकता है।

(अ) किशोर की वृद्धि एव विकास से सम्बन्धित अध्ययन।

(ब) किशोर के व्यवहार, रुचियों एवं व्यक्तित्व की विशेषताओं से सम्बन्धित अध्ययन।

(स) किशोर के जीवन पर अनेक सस्थाओं, एवं सामाजिक अभिकरणों के प्रभाव से सम्बन्धित अध्ययन।

किशोर के अध्ययन की विधियाँ अनेक कारकों पर निर्भर करती हैं—

1. *किशोर-सम्बन्धी समस्याओ की अनेकता एवं उनकी प्रकृति।*
2. विभिन्न परिस्थितियाँ, जो किशोर को प्रभावित करती है।
3. *अध्ययनकर्त्ता का अनुभव एवं प्रशिक्षण।*

उपरोक्त तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए तदनुसार ही अध्ययनकर्त्ता को विधि का चयन करना चाहिए।

गत अनेक दशाब्दियों से किशोरावस्था के प्रति मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। इस रुझान के फलस्वरूप इनसे सम्बन्धित अनेक अध्ययन किए गए हैं परन्तु उनसे निष्कर्ष निकालते समय उन सीमाओ का ध्यान रखना चाहिए, जो कि अध्ययन को प्रभावित करती है। *जैसे चयनित समूह के प्रति अध्ययनकर्ता का पूर्वाग्रह आदि। यहाँ* किशोर–अध्ययन की कुछ प्रचलित विधियाँ दी जाती है—

1. ऐतिहासिक विधि—यह एक लाभदायक विधि है। इसमे किशोर का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाता है क्योंकि आज के युवा-जीवन का भूतकाल से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

2. मानव-वैज्ञानिक अध्ययन—इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न समाज में रहने वाले किशोरो का तुलनात्मक अध्ययन *किया जाता है। मारगरेट मीड द्वारा किया गया अध्ययन* महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने दक्षिण प्रशान्त सागर के युवा-वर्ग के व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन किया था। उनका निष्कर्ष था कि युवा-वर्ग को निराशा में डालने वाले तनावो को उत्पन्न करने के लिए हमारी सभ्यता उत्तरदायी है। उन्होंने समोआ के युवाओं का

उदाहरण देते हुए बताया कि वहाँ किशोरावस्था सहज शान्तिपूर्ण तरीके से व्यतीत हो जाती है, जबकि अमेरिका का युवा बहुधा निर्णयों में ही उलझा रहता है। इसी प्रकार का अन्त. सांस्कृतिक तुलनात्मक अनुसंधान गटमट द्वारा 1973 में किया गया था।

3. अनुदैर्घ्य उपागम (Longitudinal studies)—इस अध्ययन में निश्चित जन-समूह का अध्ययन निश्चितकाल अवधि में किया जाता है तथा निश्चित अन्तरालो पर अनुवर्ती क्रिया-कलापों को दोहराया जाता है। पेसंकिने तथा सिबसन (1972) ने जन्म से लेकर 18 वर्ष तक की आयु के बालकों का गहन अध्ययन किया तथा 30 व 40 वर्ष की अवस्था मे उनका अनुवर्ती अध्ययन किया।

4. अन्त सांस्कृतिक अध्ययन—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसके अन्तर्गत जीवन के कुछ क्षेत्र व उनके विकास को दो या अधिक देशों के मध्य या उप-संस्कृतियों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन आता है। इसका एक उदाहरण अमेरिका व डेनिश की महिलाओ के विवाह पूर्व सम्बन्धों का 1962 और 1970 में किया गया तुलनात्मक अध्ययन है।

5. प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method)—यह मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण पद्धति है। आरम्भिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनो मे, इसका प्रयोग किया जाता था ताकि मनोविज्ञान का एक विज्ञान के रूप मे विकास किया जा सके। इसमें परीक्षणों द्वारा निरीक्षण किया जाता है और निष्कर्ष निकाला जाता है। यद्यपि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जिनके लिए यह पद्धति उपयुक्त नही है।

किशोर की समस्याओं के अध्ययन हेतु इस पद्धति का दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है—एक समूह (single group) तथा समानान्तर समूह (parallel group)। प्रथम विधि में एक व्यक्ति या एक समूह का नियन्त्रण एवं उपयुक्त वातावरण में अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि हम किशोर की रेडियो या दूरदर्शन सम्बन्धी रुचियों का अध्ययन करना चाहते है तो किशोर-समूह से बहिर्दर्शन (observations), साक्षात्कार, प्रश्नावली (questionnaires) आदि युक्तियों द्वारा सामग्री एकत्रित करते है। ... जा सकता है। ... ा के अनुभवों के ... एवं कक्षा-कक्ष

समानान्तर समूह-पद्धति मे किसी समस्या के अध्ययन के लिए दो या तीन समूह लिए जाते है। ये समानान्तर समूह सब बातों मे समान होते हैं, केवल उस समस्या के अलावा जिसका कि अध्ययन किया जाना है। किशोर-सम्बन्धी समस्याएँ जिनका इस विधि से अध्ययन किया जाता है, इस प्रकार है—

1. किशोर की रुचियों एवं व्यवहार पर यौवनारम्भ का सापेक्ष प्रभाव,

2. किशोर की अभिवृत्तियों एवं गतिविधियों पर निरंकुश एवं प्रजातान्त्रिक नेतृत्व के प्रभाव की तुलना,

3. किशोर के व्यावसायिक चयन पर निर्देशन कार्यक्रमो का प्रभाव।

6. निदानात्मक पद्धति (Clinical method) **या व्यक्ति-इतिहास पद्धति** (Case Study)—इस पद्धति के अन्तर्गत किशोर व्यक्ति का गहन अध्ययन किया जाता है। इसमें एक व्यक्ति का सभी उपलब्ध साधनों द्वारा अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति-इतिहास पद्धति में निम्न बातें सम्मिलित रहती हैं—

1. व्यक्ति के स्तर के सम्बन्ध में निश्चय करना;
2. व्यक्ति से सम्बन्धित सभी परिस्थितियों के बारे में सामग्री एकत्रित करना;
3. सभी कारणों को पहचानना;
4. उपचारात्मक साधनों का प्रयोग;
5. अनुवर्ती अध्ययन (follow-up)।

समस्यात्मक किशोरो का इस पद्धति से अध्ययन किया जा सकता है, जैसे—शर्मीला या पलायनवादी किशोर, अपराधी किशोर, मन्दबुद्धि किशोर आदि।

इस पद्धति का प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। अध्ययनकर्त्ता को अपने पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। अध्ययन-सामग्री एकत्रित करने मे त्रुटियां नही रहे। उसे इनसे निष्कर्ष निकालने मे भी पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

7. अन्य विधियाँ—इसके अन्तर्गत डायरी, पत्र-लेखन, समूह-चर्चा दिवास्वप्नों का अध्ययन आता है। एक अन्य विधि मे प्रश्नावली का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रश्न सहज, स्पष्ट व निश्चित होने चाहिए। साक्षात्कार द्वारा भी अध्ययन किया जाता है।

किशोर की डायरियाँ (Adolescent diaries)—सर्वप्रथम जी०स्टेनले हॉल ने किशोर की रुचियों, गतिविधियों एवं प्रकृति को समझने के लिए उनकी डायरियों का प्रयोग किया। इससे सम्बन्धित किशोर के सम्बन्ध मे जानकारी तो अवश्य प्राप्त हो सकती है, परन्तु सामान्य निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं, पहला कारण यह है कि डायरियाँ अधिकतर वही किशोर लिखते है, जो बुद्धिमान है अतः डायरियाँ समस्त किशोर-वर्ग के सम्बन्ध मे विवरण नही दे सकती। औसतन व मन्दबुद्धि किशोर शेष रह जाते हैं। दूसरा कारण यह है कि डायरियो मे लिखी गई सामग्री अत्यधिक चयनित व संवेगपूर्ण होती है तथा वह किशोर की भावनाओं तथा तनावो का ही वर्णन करती हैं। साधारणत. डायरी लिखते समय किशोर उद्वेगो से भरा होता है।

8. वयस्कों से पश्चोन्मुख विवरण (Retrospective Reports from adults)—गत कुछ दशाब्दियो से वयस्को से उनकी किशोरावस्था के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करने का कार्य भी किशोर अध्ययन-कर्ताओ ने किया है। प्रौढ़ से उसकी किशोरावस्था के सम्बन्ध में सोचने को कहा जाता है तथा उससे वांछित सूचना प्राप्त की जाती है। इसमें प्रश्नावली विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि द्वारा अधिक सत्य सूचना एकत्रित की जा सकती है, क्योंकि प्रौढ़ अपनी किशोरावस्था की सूचना देते समय तथ्यो को छिपाते या तोड़ते-मरोड़ते नहीं हैं। यद्यपि इस विधि मे भी दो समस्याएँ रहती हैं; पहली समस्या विस्मरण की है। बहुत से प्रौढ़ उत्तर देते समय कुछ महत्वपूर्ण बातो को भूल जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अनुभव ऐसे भी होते हैं जो समय परिवर्तन के साथ-साथ अपने असली रूप को छोड़कर दूसरे ही रंग में रंग जाते हैं और विवरण में त्रुटियाँ आ जाती हैं। फिर भी

डायरियों की भाँति ही इन सूचनाओं का भी अपना मूल्य है, यदि उन्हें समझ व सावधानी से प्रयोग में लाया जाए।

सारांश

बचपन एवं प्रौढ़ावस्था की वय: संधि का काल ही किशोरावस्था है। इसकी कोई निश्चित अवधि नहीं होती है। यह किशोर की पारिवारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। किशोर के व्यवहारगत परिवर्तन के कारण अध्ययन की सुविधा हेतु इस अवस्था को पूर्व किशोरावस्था एवं उत्तर किशोरावस्था में बाँटा जाता है। लड़कों में पूर्व किशोरावस्था की अवधि लड़कियों की तुलना में लघु होती है। पूर्व और उत्तर किशोरावस्था की विभाजक रेखा सत्रहवें वर्ष के आस-पास मानी जाती है। किशोरावस्था संघर्ष एवं तनाव का काल है। इसके कारण है—शारीरिक परिवर्तन एवं सामाजिक बन्धन।

किशोरावस्था को निम्न आधारों पर परिभाषित किया गया है—(1) शारीरिक विकास, (2) आयु-वृद्धि (3) विकास की असंयत अवस्था।

किशोरावस्था बीसवी शताब्दी की अवधारणा है। इसके विशिष्ट आयु-अवस्था बनने के लिए निम्न कारण हैं—

1. शहरीकरण के कारण बालकों का प्रौढ़ों से अलग रहना;
2. उच्च विद्यालयी शिक्षा की आवश्यकता,
3. संस्कृतियों की जटिलता,
4. सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि।

किशोरावस्था का सर्वप्रथम विशद अध्ययन अमेरिका के मनोवैज्ञानिक जी. स्टेनले हॉल ने किया। उसके अनुसार यह तनाव एवं दबाव की हलचलों से भरी अवस्था है। मानव-वैज्ञानिक मारगरेट मीड ने किशोर की संस्कृति एवं सभ्यता से जुड़ी समस्याओं का अध्ययन किया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सभ्यता एवं संस्कृति ही किशोर की समस्याओं को जटिल बनाती है।

किशोर के उपयुक्त विकास एवं उसकी समस्याओं के उचित समायोजन के लिए यह अनिवार्य है कि अध्यापक, माता-पिता व अन्य प्रौढ़ व्यक्ति किशोरावस्था के सम्बन्ध में उचित ज्ञान प्राप्त करें। इसके अभाव में वे उसकी आवश्यकताएँ, समस्याएँ एवं अभिरुचियाँ समझ नहीं पाते हैं। उन्हें यह भी स्पष्ट पता नही चलता कि किन बिन्दुओं पर किशोर सहायता की अपेक्षा करते हैं और कहाँ उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए।

किशोरावस्था में बालक प्रौढ़ दायित्व के लिए शारीरिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सभी रूपों से तैयार होता है अत. प्रौढ़ों द्वारा किशोर को समझा जाना अत्यन्त आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण अध्ययन किए गए है। अध्ययन हेतु प्रयुक्त विधियाँ भी विकसित होती रही है। अरस्तू ने निरीक्षण-विधि का प्रयोग किया। स्टेनले हॉल की देन नियंत्रित निरीक्षण तथा प्रयोग विधि है। अन्य विधियाँ हैं—ऐतिहासिक विधि, मानव-वैज्ञानिक अध्ययन, अनुदैर्ध्य उपागम, अन्तः सांस्कृतिक अध्ययन, प्रयोगात्मक पद्धति, निदानात्मक पद्धति, डायरी पद्धति तथा पश्चोन्मुख विवरण आदि।

□□□

अध्याय 2

संधिकाल

(A Period of Transition)

भूमिका

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में प्राय. 14 से 19 वर्ष की ऐसी अवस्था होती है, जबकि वह बाल्यावस्था को छोड़ चुका होता है, किन्तु पूर्ण रूप से वयस्कता भी प्राप्त नहीं करता है। इस संधिकाल में बाल्यकाल की विशेषताओं का स्थान युवकों की विशेषताएँ ले लेती है। परम्परागत धारणा के अनुसार व्यक्ति के बाल्यावस्था से वयस्क अवस्था में प्रवेश करते समय उसमें आमूल परिवर्तन होते हैं। यह सन्धिकाल *किशोरावस्था कहलाता है। यह विकासमान व्यक्ति के जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा* होता है। इस अवस्था मे ऐसा माना जाता है कि वह बचपन के अवांछित गुणों को स्वयं ही त्याग देगा और वयस्क के लिए अनिवार्य गुणो को अर्जित करेगा। यह काल अधिक बड़ा नही होता अपितु अल्पकालीन होता है, क्योंकि इसमें प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष निरन्तर ही परिवर्तन होते रहते हैं। किशोरों में नए विचार, नए अनुभव तथा नई शक्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। निरन्तर परिवर्तनों के कारण वह कभी अपने को समाज द्वारा अस्वीकृत तो कभी समाज में असुरक्षित समझता है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि न तो समाज उसे समझने का प्रयत्न ही करता है और न ही समाज उसे कोई उचित स्थान देता है। यदि एक क्षण पूर्व उसे बालक माना जाता है और मोटरकार चलाने से वंचित रखा जाता है, तो दूसरे ही क्षण उसे बड़े का स्तर दिया जाता है और वैसे ही व्यवहार की उससे अपेक्षा की जाती है। वास्तव में वह न तो अब बालक ही रहा है और न अभी तक वयस्क ही बना है अत. इन दोनों ही स्तरों में अपना सन्तुलन बनाए रखने मे असमर्थ रहता है। इस अवस्था में वह बाल्यकाल की आदतों और व्यवहारों को त्यागता हुआ वयस्क की आदतों और व्यवहारों को अपनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। अब वह पूर्व के समाज पर न तो आश्रित ही है और न अपने-आपको स्वाधीन ही पाता है। यही वह समय है जब वह स्वयं के प्रति, समाज एवं वातावरण के प्रति, विपरीत लिंगियों के प्रति सजग हो जाता है। आत्म-निर्भरता और उत्तरदायित्व वहन करने की भावना को अर्जित करता है। वह अपने कार्य, व्यवहार एवं विचारों के माध्यम से अपनी शक्ति, जोश, सह-अस्तित्व एवं लगन तथा साहस आदि का परिचय देता है। वह नई चुनौतियों, समस्याओं एवं उत्तरदायी-तत्वों का सामना करता है और उनके अनुरूप स्वयं की क्षमता का विकास करता है। उसे जीवन की अनेक जटिल समस्याओं मे समंजन करने के लिए कठोर प्रयत्न करने पड़ते हैं। इस प्रकार के प्रयत्नों के कारण कई बार नई

नई समस्याएँ एवं कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके फलस्वरूप किशोरावस्था मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से कठिन अवस्था बन जाती है।

अस्थिरता

अस्थिरता और असंगति अपरिपक्वता के लक्षण हैं। किशोर स्वार्थ एवं परमार्थ, सक्रियता एवं निष्क्रियता, उत्साह एवं उदासीनता, आस्तिकता एवं नास्तिकता, आत्मविश्वास व आत्म-अवमूल्यन, रूढ़िवादिता व आमूल परिवर्तनवादिता के मध्य झूलता रहता है। किशोर प्रत्येक कार्य में अति का प्रदर्शन करता है, वह मध्यम मार्ग तो जानता ही नहीं है। आज वह यदि अपने किसी मित्र के बड़े से बड़े दोष के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाता है, तो कल ही बिना किसी ठोस कारण के उस पर पराश्रयी (parasite) होने का आरोप लगाने में नहीं हिचकिचायेगा।

इस आयु में अस्थिरता पराकाष्ठा पर पहुँची होती है। रोने के बाद एकाएक हँस पड़ना, आत्मविश्वास के बाद स्वयं को तुच्छ समझने लगना, स्वार्थपूर्ण व्यवहार के बाद एकाएक परोपकारी हो जाना और उत्साह दिखाने के बाद उदासीन हो जाना, ये सब नवकिशोरों की सामान्य प्रतिक्रियाएँ हैं। एक क्षण नवकिशोर आकाश में उड़ता होता है और अगले क्षण वह निराशा के गर्त में गिर पड़ता है। सामाजिक सम्बन्धों में उसकी अस्थिरता बहुत ही स्पष्ट होती है। उसकी मित्रता में विशेष रूप से विपरीत लिंग वालों के साथ मित्रता में, और दूसरों के जिन गुणों को वह पसन्द या नापसन्द करता है, उनमें बहुत अस्थिरता होती है। उसकी महत्त्वाकांक्षाओं में, विशेष रूप से व्यावसायिक महत्त्वाकांक्षाओं में, अस्थिरता इतनी सामान्य होती है कि भविष्य की योजना बनाना उसके लिए बहुत कठिन होता है। सामान्य रूप से नवकिशोर क्या करेगा, इस बारे में पहले से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, यहाँ तक कि इस विषय में वह स्वयं भी कुछ नहीं कह सकता।

यह अस्थिरता अधिकांशतः असुरक्षा की भावनाओं का परिणाम होती है। लैंगिक परिपक्वता के साथ जो शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं, वे इतनी तेजी से होते हैं कि व्यक्ति अपने बारे में, अपनी सामर्थ्यों और रुचियों के बारे में संदेह करने वाला हो जाता है। घर और स्कूल में उससे जो अधिक माँग की जाती है, उससे उसकी असुरक्षा की भावनाएँ तीव्र हो जाती हैं, और उसकी अस्थिरता बढ़ जाती है। इसके अलावा यह बात भी है कि माता-पिता और शिक्षक दोनों ही उससे अनिश्चित तरीके से बर्ताव करते हैं। कभी उसे कहा जाता है कि वह कार चलाने के लिए बहुत छोटा है और अगले ही क्षण उसे ऐसी जिम्मेदारी दे दी जाती है कि जिसे प्रायः प्रौढ़ ही संभाल सकते हैं। इस प्रकार वह स्वयं को विचित्र परिस्थिति में पाता है, जिसमें उसका कार्य स्पष्ट नहीं हो पाता। जैसाकि ल्यूचिन्ग ने कहा है, नवकिशोर को कुछ आत्म-संगति बनाए रखने की कोशिश करते हुए अलग-अलग तालों पर नाचना सीखना चाहिए।

फिर नवकिशोर की कुछ अस्थिरता उस खाई के कारण भी होती है, जो उसकी महत्त्वाकांक्षाओं और उपलब्धियों के बीच होती है। उसके लक्ष्य उसकी पहुँच से बहुत ऊपर होते हैं, जैसाकि प्रायः उसकी व्यावसायिक महत्त्वाकांक्षाओं के मामले में होता है और जब वह देखता है कि जो लक्ष्य उसने अपने सामने रखे हैं उनको प्राप्त करने में वह असमर्थ है तब वह निराश और कुंठाग्रस्त हो जाता है। उसका संवेगात्मक तनाव अधिकांशतः कुंठा

की प्रतिक्रिया होता है और बाल्यावस्था में प्रौढ़ के बारे में उसकी जो रूढ़ धारणा होती है, उसका प्रतिफल होता है। जब वह स्वयं को शारीरिक दृष्टि से एक प्रौढ़ के रूप में देखता है तब वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रौढ़ की तरह काम करने की आशा करता है, लेकिन उसे मालूम होता है कि वह इसके लिए न तो शारीरिक रूप से तैयार है और न ही मानसिक रूप से। इसके अलावा यह बात भी है कि वह दूसरो से अपने साथ प्रौढ व्यक्ति जैसा वर्ताव करने की आशा करता है और जब उसे प्रौढ़ का दर्जा नही मिलता तब वह रुष्ट हो जाता है।

उसकी अस्थिरता का एक मुख्य कारण संधिकाल में व्यक्तित्व का संघठन नही हो सकना भी है। व्यवहार में अस्थिरता का होना इस बात का द्योतक है कि किशोर बाल्यावस्था को त्याग रहा है और विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अस्थिरता के अभाव मे यही समझा जाएगा कि वह अभी भी बाल्यावस्था के व्यवहार रूपों के प्रति आसक्त है। आयु के अनुसार यदि उसमे बाल-सुलभ निर्भरता आदि को त्यागने की भावना का प्रादुर्भाव नही होता है तो वह एक असामान्य स्थिति मानी जाएगी। यह इस बात का भी द्योतक है कि उसका संधिकाल कठिनाई तथा विलम्ब से व्यतीत होगा। अस्थिरता व असंगति का दीर्घकालीन बन जाना भी अवांछनीय है, जो यह बताता है कि समंजन उचित मात्रा में नही हो पाया है।

अनुकूल क्षमता (Adaptability)

इस क्रांतिक काल (Critical period) का दूसरा प्रमुख लक्षण है अनुकूलन क्षमता। *नि सन्देह किशोरावस्था आदर्श समय है जबकि व्यक्ति अपने बाल्यावस्था के संस्कारो को* त्याग कर विकास कर सकता है। इसका मुख्य कारण इस अवस्था मे अनुकूलनशीलता का अच्छी मात्रा मे पाया जाना है। आयु-वृद्धि के साथ-साथ यह गुण भी घटता जाता है। इस आयु मे यदि उसे अवसर प्राप्त होते रहे तो वह सरलता से व्यवहार के नए रूपों तथा नई अभिवृत्तियों को रुचि से ग्रहण कर लेता है।

सधिकाल की बाधाएँ

सामान्यतः सधिकाल (transition) में अधिकाश बाधाएँ किशोर के घर के वातावरण से उत्पन्न होती है। अधिकांश परिवारों में न तो किशोर को विकास के अवसर प्रदान किए जाते है और न ही विकास के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। कभी-कभी किशोर स्वयं भी अपने विकास में बाधक बन जाता है। वह वयस्क के उत्तरदायित्व को वहन करने से भय खाता है और *इस कारण अपना विकास नही चाहता।* इसी भय के कारण वह दीर्घ काल तक वयस्क पर निर्भर बना रहना चाहता है। इससे प्रौढावस्था मे प्रवेश कठिन हो जाता है।

किशोर के विकास की समस्याएँ (Developmental problems of adolescent)

किशोर के विकास की समस्याओं की अवधारणा अमेरिका की प्रोग्रेसिव ऐजूकेशन एसोसियेसन द्वारा किशोरावस्था के अध्ययन के साथ उत्पन्न हुई। आर० जे० हैविगहर्स्ट (R. J Havighuarst) ने अपनी पुस्तक मे इसकी पूर्ण परिभाषा दी है तथा इसका विस्तृत वर्णन किया है। इनमे पूर्व मनोवैज्ञानिकों, शिक्षाशास्त्रियों व अन्यों द्वारा किशोर

के विकास की समस्याओं को समझने, पहचानने का प्रयत्न नहीं किया गया था। हेविगहर्स्ट ने अपनी पुस्तक में किशोर विकास के दस कृकृत्य (tasks) बताये हैं।[1]

1. वि-लिंग (opposite sex) के सदस्यों से अधिक सन्तोषजनक एवं अधिक परिपक्व सम्बन्ध स्थापित करना।

2. सामाजिक रूप से स्वीकृत यौन भूमिका (sex role) की पहचान एव प्राप्ति करना।

3. अपनी देह (one's body) को स्वीकार करना तथा उसका प्रभावी प्रयोग करना।

4. प्रौढों से भावात्मक मुक्ति (emotional independence) प्राप्त करना।

5. आर्थिक स्वतंत्रता का विश्वास अर्जित करना।

6. व्यवसाय का चयन एवं उसके लिए तैयार होना।

7. विवाह व पारस्परिक जीवन के लिए तैयार होना।

8. बौद्धिक कौशल को विकसित करना तथा नागरिकता के लिए अनिवार्य विचारों को विकसित करना।

9. सामाजिक रूप से स्वीकृत व्यवहार की चाहना एवं प्राप्ति करना।

10. व्यवहार-निर्देशन (guide to behaviour) के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना।

प्रौढावस्था में सफल समायोजन हेतु उपरोक्त क्षेत्र मे सफलता-प्राप्ति अनिवार्य है। विकास के इन कृकृत्यको (tasks) की प्राप्ति में अनेक समस्याएँ आती हैं, जो निम्न प्रकार से है—

1. स्वयं के शरीर को स्वीकार करना (Accepting the physical self)—प्राक्किशोरावस्था मे बालक यही स्वप्न संजोता रहता है कि उसकी देहयष्टि आकर्षक व सुन्दर बने। वह चल-चित्र-जगत के अभिनेताओं अथवा उन व्यक्तियो जैसा बने जिनका कि वह प्रशंसक है। किशोरावस्था मे अन्त.स्रावी ग्रन्थियों (endocrine glands) के तेजी से कार्य करने के कारण शरीर मे तेजी से वृद्धि होती है; फलस्वरूप शरीर के अनुपात मे परिवर्तन आता है। इस कारण त्वचा में परिवर्तन आता है, चेहरे पर प्रौढता की झलक आने लगती है। यह परिवर्तन उसे वृद्धि की अनुभूति देते है। परिवर्तनो के साथ-साथ वह यह भी अनुभव करता है कि वह प्रौढ़ता की ओर अग्रसर हो रहा है और अब आजीवन उसका चेहरा व देह ऐसे ही बने रहेंगे।

इस समय यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने परिवर्तनशील शरीर को स्वीकार करें; परिवर्तन उसमे मानसिक तनाव का कारण नहीं बने। वह प्राप्त शरीर को स्वस्थ व सुरक्षित रखे तथा उसका प्रभावी उपयोग करें। इस आयु में बालक-बालिका अपनी ऊँचाई, शक्ति, भार, हस्तकौशल, आदि की अपने साथियों से तुलना करते हैं। यदि यह परिणाम मनोनुकूल नही होते है तो निराशा व द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। इस समय यह स्वाभाविक चाहना होती है कि बालक अपने को पुरुष रूप मे देखना चाहे और बालिका महिला के रूप में।

---

1. हेविगहर्स्ट आर. जे. "डवलपमेन्टल टास्कस एण्ड एज्युकेशन" (संशोधित संस्करण) न्यूयार्क: लौन्गमन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी 1952 पृ० 33-71

2. उभयलिंगी साथियों से नवीन व अधिक परिपक्व सम्बन्ध स्थापित करना (Achieving new and more mature relations with age-mates of both sexes)—तीव्र गति से शारीरिक विकास होने तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के सक्रिय हो जाने के कारण किशोरावस्था में यौन परिपक्वता (sexual maturity) आती है तथा काम सम्बन्धी भावनाओं में तीव्रता से विकास होता है। किशोर-किशोरियों में यौनाकर्षण (sexual attraction) एक प्रभावी बल (dominant force) बन जाता है। शारीरिक परिवर्तन की मात्रा सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है। इस प्रकार एक धीमी गति से वृद्धि-प्राप्त किशोर या किशोरी उस समूह से बाहर समझे जाते हैं जो तेजी से वृद्धि करते हैं। उनकी इच्छाएँ भी समूह द्वारा स्वीकृत होनी आवश्यक हैं। यह समूह ही दल (gangs) कहलाते हैं। आयु के साथ-साथ इन दलों का आकार घटता जाता है तथा ये केवल गुट (cliques) मात्र ही रह जाते हैं।

किशोर के इन सामाजिक सम्बन्धों के प्रतिमानों (patterns) का निर्माण व संस्कृति करती है, जिसमे कि किशोर ने जन्म लिया है तथा विकास पथ पर है। यही कारण है कि ये प्रतिमान सभी समाजों व समुदायों में समान नही होते। उदाहरण के लिए मध्यम वर्ग अपने बालकों की सामाजिक सफलता पर बल देता है अतः इस वर्ग के किशोर शिक्षा में प्रगति करने में अधिक सचेष्ट रहते है।

3. अपने लिंग की भूमिका को सीखना व स्वीकार करना (Accepting and learning one's sex role)—यौवनारम्भ के साथ लैंगिक अन्तर में वृद्धि होती है। जीवन की प्रक्रिया में यौन जो भूमिका निभाता है उसके अनुसार ही पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के गुणों का विकास होता है। इस अवस्था में व्यक्ति के सामने यह एक गम्भीर समस्या होती है कि वह समाज द्वारा उसके लिंग के अनुसार स्वीकृत भूमिका को समझे व स्वीकार करे। किशोरों के लिए समाज द्वारा निश्चित भूमिका स्वीकार करना सरल है, क्योंकि समाज उन्हें प्रमुख स्थान प्रदान करता है। अधिकांश किशोरियाँ भी बिना किसी कठिनाई के उनके लिए निर्धारित पत्नी और माता की भूमिका स्वीकार कर लेती है। परन्तु स्वतन्त्र प्रकृति की उन किशोरियों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है जो पुरुष पर-निर्भर नही रहना चाहती और इस कारण जीविका चुनना चाहती है। आज के बदलते हुए युग में भी समाज में अधिकांश लोगों का झुकाव इस ओर है कि महिलाएँ विवाह के पश्चात् जीविकोपार्जन हेतु कार्य नही करे परन्तु आर्थिक कठिनाइयाँ, आधुनिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न घर की कामना आदि के कारण महिलाओं में वेतन के लिए कार्य करने की प्रवृत्ति में वृद्धि हो रही है।

4. माता-पिता व अन्य वयस्कों से संवेगात्मक स्वाधीनता—किशोर के सम्मुख यह महत्त्वपूर्ण समस्या होती है कि वह माता-पिता व अन्य प्रौढ़ों पर संवेगात्मक निर्भरता (emotional dependence) से मनोवैज्ञानिक अर्थ में छुटकारा पा जाए। बचपन की पर-निर्भरता वाली प्रवृत्ति को त्याग दें। यह यदि अल्पायु में आरम्भ हो जाता है तो इसमें अधिक सफलता प्राप्त होती है। माता-पिता पर निर्भर रहे बिना भी उनके प्रति स्नेह बनाए रखना ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है। हमारा समाज इस कार्य ...िन बना देता है। प्रथम तो किशोर स्वयं भी घर में प्राप्त सुरक्षा को त्यागने में

हिचकिचाता है; द्वितीय माता-पिता भी किशोर पर घर के बन्धन डाले रखना चाहते है। प्राय. माता-पिता को यह भय रहता है कि उनके पुत्र-पुत्री आत्मनिर्भर होते ही उनसे दूर हो जायेंगे अतः वे किशोर की आत्मनिर्भरता के पथ में बाधक बन जाते हैं। वे किशोर को स्वयं ही अपनी समस्याओं से नहीं जूझने देते बल्कि उसके सहायक बन कर उसकी आत्म-निर्भरता के विकास मे बाधा डालते है। इस प्रकार किशोरावस्था में वे संवेगात्मक स्वाधीनता अर्जित नही कर पाते जिसका कि दुष्परिणाम उन्हे प्रौढ बनने पर भोगना पड़ता है क्योंकि प्रौढ़ बनने पर स्वतन्त्र से निर्णय लेने व कार्य करने की क्षमता तथा वयस्क दायित्व का निर्वहण करने में वे असफल रह जाते हैं।

5. आर्थिक स्वाधीनता की प्राप्ति—किशोर एवं युवा वर्ग के सम्मुख एक अन्य समस्या आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भी है। यह मुख्यतः लडकों के लिए है। यद्यपि आजकल लड़कियों के लिए यह शनैः-शनैः उतनी ही महत्वपूर्ण बनती जा रही है। अपने स्वयं के व्यवहार एवं आर्थिकआवश्यकताओं के लिए दायित्व स्वीकार करना परिपक्वता की निशानी है। आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है किसी व्यवसाय का चयन करना तथा उसके लिए तैयारी करना। भावी जीवन की बहुत कुछ प्रसन्नता इस चयन पर ही निर्भर करती है। यदि उन्हें अपने द्वारा चुना गया कार्य आने वाले समय मे प्रसन्नता देता है, वह कार्य को बोझ समझ कर नहीं करते है; करते समय उन्हे खिन्नता अनुभव नही होती है तो यह सब अच्छे चयन का द्योतक है। चयन के साथ ही जुडी हुई आवश्यकता है, इसके लिए पूर्ण-रूपेण तैयार बनना क्योंकि पूरी तैयारी के बिना व्यवसाय में कुशलता नहीं आ सकती है।

6. जीवन-दर्शन और मूल्यों को प्राप्त करना—भावी जीवन की सफलता किशोरावस्था मे विकसित जीवन-दर्शन पर निर्भर करती है। किशोरावस्था आदर्शों एव आकाक्षाओं की अवस्था है। किशोरों में इतनी क्षमता आ जाती है कि वह अपनी भावनाओं एवं संवेगों पर नियन्त्रण रख सकें। वह कुछ आदतें, मान्यताएँ एवं मूल्य स्थापित करना चाहता है। वह सत्य, धर्म, तथा आदर्शों की व्याख्या करने की भी चेष्टा करता है परन्तु यह सब उसके परिवार के धर्म, (religion), सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि (cultural background), शैक्षिक-प्रशिक्षण, (educational training) सामाजिक स्तर (social status), आर्थिक सुरक्षा (economic security), परिवर्तित सामुदायिक बल (varsing community forccs), पारिवारिक बन्धन (family ties), एव अन्य सामाजिक दबावों पर निर्भर करता है। किशोर के जीवन दर्शन पर इन सब कारको का प्रभाव पड़ता है और यह सब ऐसे कारक है जिन पर कि किशोर का स्वयं का कोई नियन्त्रण नही रहता है अतः किशोर इन सबके समंजन के अनुरूप जब तक कुछ मूल्यो को अर्जित नही कर लेता है उसे अपने भावी जीवन मे कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने में कठिनाई अनुभव होगी क्योंकि उसका स्पष्ट व सुदृढ़ जीवन-दर्शन ही उसके लिए एक स्थायी निर्देशक (stable guide) का कार्य करता है।

आत्म-संप्रत्यय (स्वयं की खोज) (Self-concept (Finding the self)

परिचय—जहाँ तक आत्म-संप्रत्यक्ष का या स्वयं की खोज का प्रश्न है किशोरावस्था को परिवर्तन एवं एकीकरण का समय समझा जाता है। इसके अनेक कारण है।

किशोरावस्था मे होने वाले शारीरिक परिवर्तनों के कारण शरीर की छवि में और इस प्रकार स्वयं की धारणा के सबन्ध मे भी परिवर्तन आता है। द्वितीय, किशोरावस्था मे होने वाली मानसिक वृद्धि के कारण भी आत्म-सप्रत्यय अधिक जटिल एवं भ्रमित बन जाता है क्योंकि वह अनेक दिशाओ मे सोचने लगता है, अनेक विस्तारों को समेटना चाहता है। तृतीय, संवेगात्मक स्वतन्त्रता में वृद्धि होने के कारण भी स्वयं की खोज में वृद्धि होती है और वह व्यवसाय, मूल्यों, लैंगिक व्यवहार, मित्रता आदि के सम्बन्ध मे निर्णय लेना चाहता है। अन्तिम कारण है किशोरावस्था की अवस्थान (adaptation) की प्रवृत्ति तथा इस काल में प्राप्त हुए भूमिका परिवर्तन-सम्बन्धी निर्णय। ये सभी कारण आत्म-संप्रत्यय मे कुछ न कुछ सशोधन का कारण बन जाते है।

उपरोक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त मनोविश्लेषणात्मक उपागम तथा सामाजिक उपागम भी इस विषय पर अपना प्रभाव डालते हैं। इन दोनो सिद्धान्तों के अनुसार किशोर अवस्था तनावपूर्ण होती है अतः किशोर के संप्रत्यय में व्यवधान आना स्वाभाविक है। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध मे एरिकसन(Ericson) की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनका पहचान-संकट-सम्बन्धी सिद्धान्त विशिष्ट है। सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र मे रोजेनबिग व अन्य लेखको की मान्यता है कि किशोरावस्था में स्वयं किशोर को भी अपनी वैयक्तिक आशाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ स्पष्ट रूप से ज्ञात नही होती। इसके अतिरिक्त प्रौढ़ों द्वारा उनके प्रति किया गया व्यवहार भी दुविधा मे डाल देता है क्योंकि यदि वे एक क्षण उनमे बालक के समान व्यवहार करने की अपेक्षा करते हैं तो दूसरे ही क्षण उससे वयस्क के समान आत्मविश्वास व आत्मनिर्भरता प्रदर्शित करने की अपेक्षा करते है। यह दुहरी अपेक्षाएँ भी किशोर को कठिनाई मे डाल देती हैं। इसके अतिरिक्त किशोर को अनेकों भूमिका सम्बन्धी द्वन्द्वों का भी सामना करना होता है। यह सब उसके आत्म-संप्रत्यय को प्रभावित करने वाले होते है।

परिभाषा—'आत्म-संप्रत्यय' का अर्थ है स्वयं की खोज, सभी क्षेत्रों मे व्यक्ति द्वारा स्वयं के प्रति अपनाया गया दृष्टिकोण। "आत्म-संप्रत्यय" के अन्तर्गत 'आत्म छवि' एवं 'आत्म-मूल्यांकन' दोनो ही शब्द आते है। आत्म-संप्रत्यय शब्द के लिए ही एरिकसन एवं उसके अनुयायियो ने पहचान (identification) शब्द का प्रयोग किया है।

आत्म क्या है ? बारह वर्ष की मानसिक आयु तक पहुँचते-पहुँचते बालक के मन मे स्वत. ही यह प्रश्न उठते हैं "मै क्या हूँ ? मुझे भावी जीवन में क्या करना है ? क्या बनना है ?" आदि। अधिकाश किशोरो मे मस्तिष्क मे यह प्रश्न समय-समय पर उठते हैं, परन्तु अधिकांश को इसका कोई निश्चित व ठोस उत्तर प्राप्त नही होता है। इसका कारण इन्हे उचित परामर्श प्राप्त नही होना भी है। फिर भी युवक अपनी सीमा व शक्ति के अनुसार कुछ योजना बनाते हैं परन्तु जीवन मे घटने वाली अनेक प्रकार की घटनाएँ सम-विषम परिस्थितियाँ आदि उसे प्रभावित करती रहती है। कभी कोई बिना श्रम के सरलता से उपलब्ध अवसर, अचानक हुई मित्रता आदि इसी प्रकार की घटनाएँ उसकी सारी योजना को कुछ नया ही मोड़ दे देती हैं। इस प्रकार उनका जीवन निश्चित योजना के अनुसार चलाया नही जाता अपितु घटनाओं के अनुसार चलता रहता है परन्तु किशोर के लिए इस असफलता पर विलाप करने का भी कोई कारण नहीं होता क्योंकि अपनी [illegible] के सम्बन्ध में वह स्वयं भी स्पष्ट नहीं होता है।

यदि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में बार-बार व्यवधान आते रहते है और किशोर को असफलता ही प्राप्त होती रहती है तो किशोर पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो ये असफलताएँ उन्हे इस स्थिति तक पहुँचा देती है कि वे अपने भावी जीवन में पछताते रहते हैं और चाहना करते हैं कि काश उन्हें किशोरावस्था प्राप्त हो और वे इस बार अधिक स्पष्ट व निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर सकें, उसकी प्राप्ति हेतु योजना को व्यवस्थित रूप से बना सकें तथा अधिक दृढ़ता से उसको क्रियान्वित कर सकें। इस प्रकार योजना-रहित जीवन मानसिक विपदा का कारण बन जाता है। यदि भावी जीवन की योजना अत्यधिक आदर्शवादी हो तथा उसकी प्राप्ति व्यक्ति की क्षमता से परे हो तो भी वह मानसिक तनावो से घिर जाता है और दिवास्वप्न देखने की अथवा किसी अन्य प्रकार के विघटन की स्थिति आ सकती है। कभी-कभी योजना का अनमनीय होना एवं अनहोनी के अनुसार उसका ढल न पाना अथवा व्यक्ति द्वारा ढाल न पाना भी दुःख का कारण बन सकता है।

कुछ युवक ऐसे भी होते हैं, जो अपने जीवन मे कोई लक्ष्य ही निश्चित नही कर सकते, क्योंकि ऐसे अनेक माता-पिता हैं, जो अपने जीवन के अभावों को अपने बच्चों के जीवन मे पूरा हुआ देखना चाहते है, अपनी कल्पनाओं को, अपने जीवन के स्वप्नों को अपने बच्चों द्वारा साकार हुआ देखना चाहते हैं। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि अधिकांश व्यक्तियों के लिए माता-पिता द्वारा निर्धारित योजनाएँ ही सन्तोषप्रद रहती हैं, क्योंकि साधारण रुचियाँ तथा पारिवारिक व्यवसाय से परे हटकर बनाई गई योजना की पूर्ति के लिए प्रायोगिक जीवन हेतु आवश्यक असाधारण बुद्धि की आवश्यकता होती है, जिसके अभाव में उन्हें केवल निराशा ही हाथ लगती है।

इच्छित "स्व" के निर्माण हेतु योजना के निर्माण एवं उसी के अनुसार कर्म करने में बहुत-सी इच्छाओं का समंजन सम्मिलित है। इन समस्त इच्छाओं की व्यक्ति को अपने जीवनकाल में प्राप्ति नही हो सकती, क्योंकि मानव-जीवन जटिल है, क्षमताएँ सैकड़ों है, अवसर भी कई प्रकार के हैं अतः व्यक्ति के लिए यह वांछित है कि वह इच्छाओं का स्तरीकरण करे, जिसमे कि जीवन का एक प्रमुख उद्देश्य हो तथा अन्य गौण उद्देश्य उसके अनुरूप हों। यही "स्व" की खोज है।

"आत्म" के सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिकों ने खोज की है। विलियम जेम्स (William James) इन सबमें प्रमुख है। उन्होने अपने अध्ययनो के निष्कर्ष रूप में लिखा है कि एक आन्तरिकतम आत्म (innermost self) है जो सब अनुभवों का केन्द्र है तथा प्रत्येक मे अद्वितीय होता है। यह परिवर्तनशील नही होता अपितु स्थायी रहता है। इस आन्तरिकतम आत्म को अन्य आत्मों—शारीरिक आत्म, सामाजिक आत्म, व्यावसायिक आत्म आदि ने घेर रखा है परन्तु व्यक्ति के प्रत्येक कार्य व व्यवहार का निश्चय आन्तरिकतम-आत्म द्वारा होता है। किशोरावस्था में व्यक्ति अधिक आत्म-सचेतन (self consious) बन जाता है। उसका अधिकाश समय सजने-सँवरने में ही जाता है। वह अपनी देहयष्टि को बलवान व सुन्दर बनाने के नित्य नए उपायों के बारे में सोचता रहता है। पोशाक के सम्बन्ध में भी वह आधुनिकतम बना रहना चाहता है। फैशन के अनुसार पोशाक धारण करने मे चाहे उसके शरीर को कष्ट भी उठाना पड़े तो उसे स्वीकार है परन्तु फैशन के अनुकूल वस्त्र नही पहन पाना उसके लिए अधिक वेदनापूर्ण होता है।

शक्तिशाली आत्मों में संघर्ष

अब तक के अनुसन्धानों द्वारा यह स्थापित हो चुका है कि व्यक्ति में अनेक आत्मों का समूह है और वह इनमें से किसी भी अथवा सभी आत्मों का विकास कर सकता है।[1] परन्तु जीवन-अवधि के छोटा होने के कारण सभी का विकास सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति एक साथ डाक्टर, साहूकार, कलाकार, अविवाहित, विवाहित, आस्तिक, नास्तिक, ग्रामवासी, शहर-निवासी आदि नहीं हो सकता है परन्तु किशोरावस्था में ये असमान आत्म व्यक्ति को आकर्षित करते हैं। आत्मों की प्रकृति की असमानता व्यक्ति में विरोधी व्यवहार एवं संवेगात्मक तनाव का कारण बनते हैं। इस सम्बन्ध में होलिंगवर्थ द्वारा दिया गया एक ऐसी ही किशोरी का उदाहरण द्रष्टव्य है, जो अपने विभिन्न आत्मों के संघर्ष के कारण परेशान थी। उसका एक आत्म पादरी बनना चाहता था तो दूसरा सर्कस का घुड़सवार। दोनों ही उसे अपनी ओर आकर्षित करते रहते थे। उन दोनों आत्मों में किसी एक का चयन व दूसरे का त्याग करने में असमर्थ होने के कारण वह अत्यन्त उलझनों से घिरी हुई थी। परिणामस्वरूप वह प्रातःकाल बाइबिल का अध्ययन करती थी और दोपहर बाद घोड़े की नंगी पीठ पर सवार होकर खेतों में दौड़ा करती थी। उसका यह व्यवहार उसके परिवार के सदस्यों के लिए चिन्ता का विषय बन गया तथा वे उसे सनकी समझने लगे।

आत्म सम्प्रत्यय के मार्ग की बाधाएँ

कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं, जिनकी उपस्थिति आत्म की खोज में बाधक बनती हैं उनमें से कुछ मुख्य निम्न हैं—

1. सांस्कृतिक संकरता (Half-bred)—यदि व्यक्ति के माता-पिता भिन्न-भिन्न जाति, धर्म, भाषा व विश्वास के हों तो वह विभ्रम में पड़ सकता है। इस प्रकार के मिश्रित विवाह से उत्पन्न सन्तान के सम्मुख एक संघर्ष उपस्थित हो सकता है कि वह "स्व" की पहचान माता व उसके निकट सम्बन्धियों में ढूँढे अथवा पिता व उसके निकट सम्बन्धियों में। यदि दोनों ओर से प्रभाव समान नहीं होता है तब तो संकट की स्थिति नहीं आती परन्तु दोनों ही पक्ष यदि उसे समान रूप से प्रभावित करने में प्रयत्नशील हों तो निश्चय ही यह व्यक्ति के मनोविक्षिप्त होने का एक बड़ा कारण बन सकता है। यदि किसी कारण वह इस विक्षिप्तता-प्राप्ति की स्थिति से अपने को बचा लेता है तो भी वह सामान्य जीवन जी सकने में तो असमर्थ ही रहेगा। हो सकता है वह आत्महत्या करले अथवा अपराधी बन जाए।

2. तलाक या अलग रहना (Divorce or Seperation of parents)—यदि व्यक्ति के माता-पिता तलाक ले लें या यदि किसी कारणवश तलाक नहीं दे सकें तथा पृथक्-पृथक् रहते हों तो उसके आत्म-सम्प्रत्यय में अड़चन आएँगी। यदि वह माता के पास रहता है तो पिता का अभाव खटकेगा और पिता के पास रहेगा तो माता के स्नेह से वंचित रह जाएगा। दोनों ही स्थितियाँ उसके लिए झमेला उत्पन्न कर देंगी तथा वह इस बुरी तरह तनाव ग्रस्त हो जाएगा कि "स्व" को ढूँढने का विचार ही उसके मस्तिष्क में नहीं रह

1. होलिंगवर्थ; एल. एस. : "दी साइकलोजी ऑफ द एडोलेसेन्ट, स्टेपल्स प्रेस लिमिटेड, 1947 पृ. 146.

पाएगा । यदि किसी कारण विचार कौंधता भी है तो वह इन दबावों के कारण समय नहीं दे सकेगा ।

3. अनाथ या अवैध सन्तान—यदि बालक पूरा या आधा अनाथ है (माता-पिता में से किसी एक की मृत्यु हो जाए) अथवा उसके माता-पिता में से कोई एक अज्ञात है तो यह भी 'स्व' की खोज में बाधक रहेगा । अवैध सन्तान को अपने जन्म के विषय में असामान्य या अनोखी बातें व्यथित करती रहेंगी तथा सामान्य विकास में एवं सामान्य रूप से 'स्व' की खोज में बाधक रहेगी ।

4. जुड़वाँ बालक—जुड़वाँ होने की स्थिति भी सामान्यतः 'स्व' की पहचान को प्रभावित करती है । लगभग बारह वर्ष की मानसिक आयु की प्राप्ति के साथ वे आपसी समानताओं के कारण विद्रोह की भावना से भर उठते हैं । वह यह नहीं पसन्द करते कि एक के द्वारा किए गए अच्छे कार्य की प्रशंसा दूसरे को प्राप्त हो जाए क्योंकि हमशक्ल होने के कारण लोग भ्रम में पड़ जाते हैं । अतः कई बार यह पाया जाता है कि एक भाई या बहिन द्वारा स्वीकृत कार्य, खेल, वस्त्र आदि दूसरे को अस्वीकृत हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि समानता के कारण उनकी स्वयं की पहचान समाप्त हो जाती है ।

5. विकलांगता—किसी भी प्रकार की विकलांगता (physical deformity) स्व की खोज में एक बहुत बड़ी बाधा है । वास्तव में कोई भी ऐसी परिस्थिति, जो आत्मविश्वास को कम करती है या असाधारण अनिश्चितता उत्पन्न करती है, स्व की पहचान की प्रगति में बाधक है ।

स्व की पहचान के ये बाधक कारक बाल्यावस्था से ही कार्यशील रहते हैं परन्तु किशोरावस्था में बुद्धि के विकास के साथ-साथ यह भी बढ़ते जाते है । इन असाधारण बाधाओं के अतिरिक्त कुछ छोटी बाधाएँ भी हैं जो स्व की पहचान में रुकावट बन जाती है ।

छोटी बाधायें

1. दोहरा मापदण्ड—इस उलझाव की अवधि में माता-पिता द्वारा प्रयुक्त दोहरा मापदण्ड (double standards) भी व्यक्ति को असमंजस में डाल देता है । कभी वे किशोर अथवा किशोरी को बालक-बालिका मानकर बड़ों के अनुसार कार्य करने से रोकते हैं तो कभी वे उन्हे बड़ा मानकर छोटे बच्चों जैसा व्यवहार करने से रोकते हैं । इससे किशोर/किशोरी की बुद्धि चकरा जाती है कि वे बड़े हैं अथवा छोटे । बालक/बालिका ही हैं अथवा पुरुष/महिला । माता-पिता के व्यवहार में इस प्रकार से पाई जाने वाली अस्थिरता कभी भी स्व की सफल खोज में सहायक नहीं हो सकती ।

2. विरोधी टिप्पणियाँ—माता-पिता द्वारा व्यक्ति की दोषपूर्ण व्यक्तियों के साथ तुलना करना अथवा उन्हे व्यक्ति की नापसन्द के व्यक्ति में उसकी समानता आदि ढूँढना भी कुछ इसी प्रकार के बाधक तत्त्व हैं ।

3. परिजनों का व्यवहार—किशोर व विशेषकर किशोर के साथियों की उपस्थिति मे माता-पिता या अन्य सम्बन्धियों द्वारा किया गया अभद्र, असामान्य या अनुचित व्यवहार भी व्यक्ति के लिए कष्टकर है क्योंकि माता-पिता उसके जनक है, उसकी आत्म (के सर्जक हैं ।

4. माता-पिता द्वारा हर बात का चयन—जिस प्रकार व्यक्ति अपने शरीर का स्वयं ही विकास करता है उसी प्रकार उसे अपने आत्म का विकास स्वयं ही करना चाहिए। उसकी आत्म पर कृत्रिम आत्म का (अर्थात् माता-पिता अथवा अन्य प्रौढ़ द्वारा अपने आत्म का थोपा जाना) उसके विघटन का कारण भी बन सकता है, क्योंकि तनाव की स्थिति मे वह कृत्रिम आत्म को उखाड़ फेंकेगा। इससे पूर्व व्यक्ति अपने वास्तविक "स्व" को नही पहचान सकता। इस प्रकार अनेक बार माता-पिता इस प्रकार का व्यवहार व कार्य करते है कि किशोर का आत्म छुप जाता है और उनके द्वारा चाहा गया आत्म किशोर पर छा जाता है।

बाधाओं को दूर करने हेतु सामान्य निर्देश (Guiding Lines)

1. अच्छे प्रतिमान (Good Models)—किशोर के पास स्वयं की खोज के लिए कोई मार्ग-दर्शन नही होता है तथा वह अँधेरे में टटोलने वाली स्थिति मे रहता है। स्व के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाने हेतु वह पर्यावरण से संकेत पाने के प्रयत्न करता है। दूसरों द्वारा उसके प्रति किया गया व्यवहार भी उसे कुछ सहायता देता है। इस आयु में वह अनुकरणशील भी होता है। वह भावी जीवन के निर्देशन हेतु अपने आस-पास प्रतिमान (मॉडल) ढूंढने का प्रयत्न करता है। यह समय उसके लिए वीर पूजा (hero worship) का होता है। वह माता-पिता अध्यापक या किसी भी वयस्क को प्रतिमान मानकर उसी का अनुकरण करने लगता है। अतः इस आयु मे उसे प्रतिमान चयन के लिए उचित निर्देशन की आवश्यकता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी एक व्यक्ति को प्रतिमान मानने की अपेक्षा उसे विभिन्न व्यक्तियों से गुणों व सिद्धान्तो का चयन करना चाहिए तथा अनुकरण करना चाहिए। त्रुटिपूर्ण चयन के परिणामस्वरूप किशोर हास्यास्पद स्थिति में भी फँस जाता है और इस प्रकार के गुणो का अनुकरण उसे भटका देता है। एक सत्रह वर्षीय युवक का प्रतिमान हीरो गेटे था जिसके सम्बन्ध मे उसने कही से पढ लिया था कि वह आधी रात को भ्रमण करने का आदी था। बस फिर तो वह युवक भी रात्रि को एक बजे का अलार्म लगा कर सोता था और रात्रि को एक बजे से प्रात तक बगीचों मे घूमा करता था।

इस प्रकार किशोर के चरित्र- निर्माण को वे प्रौढ़ जिनके सम्पर्क में वह आता है—माता-पिता व अध्यापक बहुत प्रभावित करते हैं। इन प्रौढ़ो मे मुख्य हैं—जीवन-चरित्र, इतिहास, कथा-साहित्य, फिल्म-जगत, नाटक आदि भी महत्वपूर्ण है। वह इन्ही मे से अपने प्रतिमान का चयन करता है। यदि उसे अच्छे माता-पिता, अध्यापक व वातावरण के अन्य साधन नही प्राप्त होते हैं तो यह उसके जीवन के विनाश का कारण बन जाता है। अतः माता-पिता, अध्यापक व समाज के लिए आवश्यक है कि वे स्वयं अच्छे प्रतिमान बनें व बालक के सामने भी सत्साहित्य, अच्छे चल-चित्र अच्छे नाटक आदि प्रस्तुत करें ताकि वह अच्छे प्रतिमान का चयन करके अपने स्व की खोज कर सके।

2. साथियों का प्रभाव—किशोरावस्था में यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि किशोर अपने मानसिक स्तर के अनुसार मित्र ढूंढता है और इस प्रकार समूह में रहता है। किशोर की पहचान उसके साथियों द्वारा होती है। इस चयन पर उसके बाल्यावस्था में अर्जित गुण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। अतः प्रौढ़ों को चाहिए कि वे पूर्व-किशोरावस्था में ही इस ओर ध्यान दें तथा किशोर को अपने मित्रों के चयन के सम्बन्ध में निर्देश दें, क्योंकि

किशोरावस्था मे उसके मित्रों में दोष ढूंढना अथवा उन्हें छोड़ देने के लिए दबाव डालना विद्रोह भी पैदा कर सकता है।

किशोर के भावी जीवन की योजना ही उसके स्व का निर्माण करती है और इस योजना निर्माण में उसका समूह भी महत्त्व रखता है।'

3. वातावरण में परिवर्तन—"स्व" के सम्बन्ध में नए पहलुओं की खोज के लिए यह आवश्यक है कि किशोर को समय-समय पर नया वातावरण प्रदान किया जाए। इसके लिए उसको सम्बन्धियों के पास या अध्यापक के साथ भ्रमण के लिए भेजा जा सकता है। नए वातावरण मे उनके कुछ छुपे हुए गुण-अवगुण सामने आएँगे ताकि उन गुणों को बढाया जा सके तथा अवगुणों को समाप्त किया जा सके। उन किशोरों के लिए इस प्रकार के नए वातावरण के अनुभव अधिक सहायक होंगे जो स्वभाव से शर्मीले है अथवा उनके पुराने वातावरण मे उनका आदर नही है। नए वातावरण के चयन में भी माता-पिता द्वारा सावधानी रखी जानी चाहिए। नया वातावरण वैयक्तिक परिस्थितियों व किशोर के स्वभाव के अनुसार ही चुना जाना चाहिए। उदाहरण के लिए एक मिलनसार व साथी-संगियों मे रहने वाले किशोर को अपने किसी अविवाहित सम्बन्धी के पास नही भेजना चाहिए, जहाँ कि घर मे अकेलापन हो। आधुनिक समय मे इसीलिए विद्यालयों में भ्रमण व शिविर आदि का आयोजन बढता जा रहा है।

4. पृथक्-कक्ष (The separate room)—पृथक्-कक्ष किशोर को कुछ समय के लिए वातावरण से छुटकारा देता है, बड़ों की चौकसी से छुटकारा देता है और उन्हें "स्व" की अनुभूति प्रदान करता है। वह कुछ है, कुछ केवल उसका है, इसकी अनुभूति किशोर को प्रसन्नता प्रदान करती है। किशोर अपने कक्ष में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने छिपे गुणों का प्रदर्शन कर सकता है, जो कि उसके स्व की खोज में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आजकल बड़े शहरों में आर्थिक परिस्थितियों के कारण माता-पिता किशोर को अलग कमरा न दे सकें तो कम से कम एक अलमारी तो अलग देनी ही चाहिए।

5. डायरी लेखन (Diaries)—किशोरावस्था मे डायरी लेखन का भी महत्त्व है। यह इस काल के मनोविज्ञान पर प्रकाश डालता है। स्व की अनुभूति हेतु अपनी भावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का लिखित आलेख आवश्यक है। डायरी एक प्रकार की मूक विश्वास-पात्र है जिसमें कि किशोर बिना झिझक के अपनी भावनाएँ कह सकता है। यह संवेगों के निरसन (outlet) हेतु एक उचित माध्यम है। डायरी लिखने की प्रक्रिया मे किशोर के अस्पष्ट व धुंधले विचार स्पष्ट शब्द पाते है। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि डायरी लेखन से किशोर अपने स्व को अपने साथ बनाए रख सकता है तथा अपने लिखित अनुभवों द्वारा स्व की समालोचना व पुनर्निरीक्षण भी कर सकता है।

6. दिवा-स्वप्न (Day-dreams)—बहुत कम किशोर डायरी लिखते है परन्तु लगभग सभी किशोर हवाई किले बनाते रहते है और इस प्रकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति कल्पनाओ में करके आनन्दित होते हैं। इसके केन्द्र मे "स्व" ही रहता है और उसके चारों ओर निर्मित काल्पनिक संसार में किशोर उन वस्तुओं की प्राप्ति में लगा रहता है जो कि वास्तविक दुनिया में सम्भवतया नहीं प्राप्त हो सकें। यदि किशोर केवल दिवा-स्वप्नों (Day-dreams) मे खोया रहता है और अपनी चाही गई वस्तुओ के लिए प्रयत्नशील

नहीं रहता, तो यह उसके मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, परन्तु यदि उन दिवा-स्वप्नों के साथ ही साथ सक्रियता भी रहती है, वह अपने कार्य व्यवहार से उन्हें सत्य जगत में ले जाने के प्रयत्न करता है तो यह प्रक्रिया उसके व्यक्तित्व को सार्थकता प्रदान करती है। केवल क्रियाशीलता की स्थिति में ही दिवा-स्वप्न मूल्यवान है।

आत्म-सम्प्रत्यय का विकास

किशोरावस्था में आत्म-सम्प्रत्यय के विकास पर विचार करते समय दो प्रश्न मुख्य रूप से उठते हैं। पहला स्थिरता की भावना से सम्बन्धित है एवं दूसरा जीवन की उथल-पुथल से।

आत्म-सम्प्रत्यय में किशोरावस्था में जीवन की अन्य अवस्थाओं की तुलना में परिवर्तन हुआ है अथवा नहीं? यदि हुआ है तो कितना हुआ? इन प्रश्नों का सम्बन्ध स्थिरता से है। इस सम्बन्ध में केवल एन्जिल (1959) द्वारा किया गया अनुदैर्घ्य अध्ययन (Longitudinal Study) ही प्राप्त है। उन्होंने आत्म-सम्प्रत्यय के मूल्यांकन के लिए क्यू-सोर्ट प्रविधि (Q-sort technique) का प्रयोग किया है। इस परीक्षण को तेरह व पन्द्रह वर्ष की आयु के किशोरों पर किया और फिर उसी प्रयोग को पन्द्रह व सत्रह वर्ष की आयु पर दोहराया गया। प्राप्त परिणामों के अनुसार आत्म-प्रतिभा के सम्बन्ध में तेरह और पन्द्रह तथा पन्द्रह और सत्रह वर्ष की आयु के परिणामों में आपेक्षिक स्थिरता पाई गई। प्रथम व द्वितीय परीक्षण का सह-सम्बन्ध भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। अपने निष्कर्षों में एन्जिल ने यह भी बताया कि बीस प्रतिशत प्रतिदर्श (sample) जिसकी आत्म-प्रतिमा नकारात्मक थी, अपने दृष्टिकोण में सकारात्मक आत्म-प्रतिमा रखने वालों से कम स्थिर था।

अन्य प्रतिनिध्यात्मक अध्ययनों में टोम (1972) तथा मोंग (1973) के अध्ययन भी एन्जिल के निष्कर्षों की ही पुष्टि करते हैं। इनमें किशोरावस्था के विभिन्न स्तरों पर आत्म-सम्प्रत्यय के ढांचे की जांच की गई तथा लेखक इस परिणाम पर पहुँचे कि आत्म-सम्प्रत्यय के सम्बन्ध में बारह तथा अठारह वर्ष की आयु के मध्य कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं पाया जाता है परन्तु दूसरी ओर काट्ज तथा जिगलर (1967) विरोधी साक्ष्य देते है। इनके अध्ययन का बिन्दु वास्तविक व आदर्श सम्प्रत्यय में अन्तर ज्ञात करना था। अध्ययन के परिणामों के अनुसार इन दो दिशाओं के अन्तर में आयु के साथ वृद्धि होती जाती थी तथा अधिकतम यह सोलह वर्ष के आयु-समूह में पाई गई थी। इन परिणामों के अनुसार सम्प्रत्यय में स्थिरता नहीं रहती; वह आयु के अनुसार परिवर्तनशील है तथा सोलह वर्ष की आयु तक नहीं घटती है। साइमन्स (1973) द्वारा आत्म सम्प्रत्यय की अस्थिरता के सम्बन्ध में किया गया अध्ययन इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है।

आत्म-मूल्यांकन के सम्बन्ध में भी अध्ययन हुए हैं। परन्तु ये अध्ययन इस सम्बन्ध में उठी हुई उलझनों का समाधान नहीं करते है। पीयर्स और हैरिस के अनुसार बारह वर्ष की आयु-समूह के बालकों में अन्य आयु-समूह के बालकों की तुलना में आत्म-मूल्यांकन निम्नतर स्तर का होता है। कार्लसन (1965) के अनुसार विभिन्न आयु में आत्म मूल्यांकन में कोई अन्तर नहीं पाया है।

किशोरावस्था हलचल का समय है। इसमें घरेलू विद्रोह तथा सामाजिक एवं

भावात्मक विस्फोट होते ही रहते है। यह न केवल शारीरिक विकास की अवस्था है अपितु इसमें संस्कृति भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्टेनले हॉल के अनुसार किशोर वह है जो अभी घोंसले में ही है, जिसके पंख अभी छोटे है, परन्तु फिर भी वह उड़ने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा है।[1] आन्तरिक दवाव एवं वाहरी परिस्थितियाँ दोनों ही किशोर को घेरे रहती हैं। ये सब किशोर द्वारा आत्म सम्प्रत्यय की खोज में किए गए प्रयत्नों को उलझा देती हैं तथा उसके विकास को प्रभावित करती हैं।

आत्म-सम्प्रत्यय के विकास से सम्बन्धित कारक

आयु के अतिरिक्त भी अनेक कारक हैं जो आत्म-सम्प्रत्यय के विकास को प्रभावित करते है। ये कारक निम्न है—

1. वैयक्तिक विभिन्नताएँ (Individual Differences)—एन्जिल ने अपने अनुसंधान में इस कारक की ओर ध्यान दिया था। इसके अनुसार आत्म-प्रतिमा के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण व्यक्तित्व की अन्य कठिनाइयों से सीधा सम्बन्ध रखता है। विकास में स्थिरता और उथल-पुथल का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि यदि उथल-पुथल या व्यवधान कम होते हैं तो आत्म-सम्प्रत्यय में भी स्थिरता रहती है। रोजेनवर्ग (1965) ने इस अध्ययन को आगे बढ़ाया। उन्होंने सत्रह-अठारह वर्षीय किशोरों के समूह का अध्ययन किया तथा आत्म-मूल्यांकन का मापन किया। उन्होंने अपने अध्ययन से पाया कि निम्न-स्तर पर आत्म-मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति चिन्ता, अध्ययन में कमजोरी, व खिन्नता से जुड़े रहते हैं जबकि अपना उच्च स्तर पर आत्म-मूल्यांकन करने वाले किशोरों में आत्म-विश्वास, कठोर परिश्रम, नेतृत्व की शक्ति, अच्छा प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता आदि गुण होते है।

2. शरीर प्रतिमा (Body-image)—वे किशोर जिनकी देहयष्टि उनकी इच्छानुरूप होती है, वे अपने सम्बन्ध में उच्च मूल्यांकन करते हैं। इस सम्बन्ध मे सेकर्ड, जोरार्ड, गन्डर्सन आदि द्वारा किए गए अध्ययन उल्लेखनीय हैं।

3. सामाजिक स्तर (Social Status)—अल्प संख्यक व सामाजिक रूप से पिछड़े लोग प्रायः अपना अवमूल्यन ही करते हैं क्योंकि हीनता की भावना उन्हें घेरे रहती है।

4. वातावरण (Environment)—व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण भी उसके आत्म-मूल्यांकन को प्रभावित करता है।

इसके अतिरिक्त आत्म-मूल्यांकन का सामाजिक समायोजन एवं आत्म-सम्प्रत्यय के प्रति स्थिरता से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

आत्म-सम्प्रत्यय एक जटिल प्रक्रिया है। सामान्यतः किशोर स्वयं के बारे मे दो सम्प्रत्यय रखता है। प्रथम है उसका वर्तमान आत्म अर्थात् वह क्या है ? द्वितीय है, उसका भावी आत्म वह क्या होगा ? किशोरों के लिए भावी आत्म का स्वरूप महत्त्वपूर्ण है। एडलर और एरिकसन ने इस विषय पर काफी बल दिया है।

---

1. "(One yet in the nest, and vainly attempting to fly while its wings have only pin feathers."—G.S. Hall) "flapper American Novisscina" Atlantic monthly 1922 Vol. 129 pp. 771-780.

पहचान तथा पहचान का संकट

इस क्षेत्र में एरिकसन का कार्य श्लाघनीय है। वह युवा वर्ग का एक अच्छा समालोचक है। उसके द्वारा प्रयुक्त मुहावरा **"पहचान का संकट"** (Identity-crisis) दैनिक शब्दावली का अंग बन गया है। किशोरावस्था में विकास की समस्या में मुख्य है **संसक्त (coherent) पहचान की स्थापना तथा पहचान के विसरण (diffusion) की भावना की पराजय।** एरिकसन किशोरावस्था मे तेजी से होने वाले जैविक व सामाजिक परिवर्तनो पर भी बल देता है। उसकी यह मान्यता है कि किसी न किसी रूप में "पहचान के संकट" की उपस्थिति आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में "पहचान के विसरण" को समाप्त नही किया जा सकता है। एरिकसन के अनुसार पहचान के संकट के चार मुख्य संघटक हैं—

1. प्रगाढ़ता की समस्या (Problem of intimacy)—किशोर अपनी पहचान खो जाने के भय से प्रगाढ अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध रखने मे कतरा सकता है तथा केवल औपचारिक सम्बन्ध या फिर अकेलेपन को ही पसन्द करने लगता है।

2. समय-सन्दर्श का विसरण (Diffusion of Time-Perspective)—किशोर को परिवर्तनशील समय के कारण हमेशा चिन्ता बनी रहती है। वह इसी अविश्वास के घेरे मे घिरा रहता है कि समय कभी भी परिवर्तन ला सकता है या ला ही देगा। इस भय के कारण उसे कोई भावी योजना तैयार करना असम्भव प्रतीत होता है।

3. श्रम का विसरण (Diffusion of labour)—इसमे किशोर अपने सभी साधनो को कार्य या अध्ययन में लगाने मे अपने आपको असमर्थ पाता है। इस कारण उसके अध्ययन में एकाग्रता नही आ सकती, किसी भी कार्य मे एकनिष्ठता नही आती। या फिर कभी-कभी वह पागल सा एक ही कार्य मे जुट जाता है तथा अन्य को बिलकुल ही छोड देता है।

4. निषेधात्मक पहचान (Negative Identity)—इसका अर्थ है किशोर द्वारा माता-पिता की चाहना के प्रतिकूल पहचान का चयन किया जाना।

एरिकसन के सिद्धान्त की एक अन्य विशिष्ट धारणा है **मानसिक सामाजिक अस्थाई प्रतिषेध** की। इस अवधि में वह अपने महत्त्वपूर्ण निर्णयो को कुछ समय के लिए टाल देता है। वह अपनी पसन्द की पहचान के चयन के लिए विकल्पों की खोज करने का प्रयास करता है। एरिकसन का पहचान-विकास-सम्बन्धी अध्ययन गुणात्मक (qualitative) है, परिमाणात्मक (*quantitative*) नही।

इसका परिमाणात्मक अध्ययन करने मे जेम्स मरसिया (James Marcia) प्रमुख हैं। इनके अनुसार पहचान की निम्न चार अवस्थाएँ हैं—

1. पहचान-विसरण (Diffusion)—इस स्थिति में व्यक्ति ने किसी पहचान का संकट अनुभव नही किया है और उसने किसी व्यवसाय, विश्वास या मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता भी नही प्रदर्शित की है।

2. पहचान प्रतिषेध (Fore-closure)—इस स्थिति मे भी उसने पहचान का संकट अनुभव नही किया है परन्तु अब वह किसी उद्देश्य या लक्ष्य और विश्वास आदि के प्रति प्रतिबद्धता दर्शाने लगा है।

3. अस्थाई प्रतिषेध (Moratorium)—इस स्तर पर व्यक्ति संकट में है और वह कई विकल्पों की सक्रिय खोज में है, ताकि किसी एक पहचान का चयन कर सके।

4. पहचान-उपलब्धि (Achievement)—इस स्तर पर पहचान-संकट के अनुभव के पश्चात् व्यक्ति एक व्यवसाय व सिद्धान्त के प्रति दृढ़ता से प्रतिबद्ध हो जाता है।

मरसिया ने अपने अनुसंधानों में पहचान-उपलब्धि से जुड़े अन्य विषयों पर भी खोज की है। उन्होंने अपने परीक्षणों से पाया कि आयु-वृद्धि के साथ-साथ पहचान-उपलब्धि वाले व्यक्तियों की संख्या में भी वृद्धि होती है। पहचान-उपलब्धि वाले व्यक्तियों का आत्म-मूल्यांकन भी उच्च होता है और वे किसी भी सामाजिक दबाव में नहीं आते हैं।

यौन भूमिका की पहचान

यौन भूमिका (sex role) की पहचान स्व संप्रत्यय का पहलू है। 1977 से पूर्व तक इसका किशोरावस्था से विशेष सम्बन्ध नहीं माना गया था परन्तु 1977 के आस-पास तो इस अध्ययन के प्रति रुचि की एक बाढ़-सी आ गई। इस विषय के कुछ प्रमुख अनुसंधानकर्त्ता निम्न हैं—

1. फ्रेन्सला और फ्रॉस्ट (Fransella and Frost)	1977
2. क्रोक्रम और बेलॉफ (Cockıam and Beloff)	1978
3. वेन रिच (Weinreich)	1978
4. हट (Hutt)	1979
5. डॉवेन (Douvan)	1979

यौन भूमिका से तात्पर्य है किसी संस्कृति विशेष में स्त्री और पुरुष की भूमिकाएँ क्या हैं ? अतः बाल्यकाल से ही व्यक्ति अपने लिंग के अनुसार स्वीकृत व्यवहार सीखता है तथा अस्वीकृत व्यवहार से स्वयं को दूर रखता है।

यौन भूमिका की पहचान से तात्पर्य है कि किस सीमा तक व्यक्ति अपने लिए निर्देशित यौन भूमिका को स्वीकार कर सका है, अर्थात् उसका व्यवहार समाज द्वारा स्त्री-पुरुषों के लिए निर्धारित व्यवहारों को कहाँ तक तादात्म्य में रखता है। इस विषय के समस्त विचारकों की यह स्वीकृत मान्यता है कि किशोरावस्था में यौन भूमिका की पहचान की समस्या बन जाती है। इसके निम्न कारण है—

1. यौवनारम्भ से पूर्व व्यक्ति को अपने लिंग के अनुसार भूमिका करने या नहीं करने की पूरी छूट होती है, परन्तु यौवनारम्भ होते ही उस पर दो दबाव पड़ते हैं। पहला माता-पिता, अध्यापकों व अन्य प्रौढ़ों द्वारा। दूसरा प्रभाव होता है समकक्ष समूह का। दोनों ही यह चाहते हैं कि प्रौढ़ बनने से पूर्व अर्थात् किशोरावस्था की समाप्ति तक वे जीवन में सफल समायोजन के लिए अपने लिंग के अनुसार भूमिका की पहचान करें तथा उसी के अनुसार कार्य करें। यदि वे इसमे विचलित हो जाते है तो दण्ड के भागी होते है।

2. किशोरावस्था में लडके-लडकियो की तुलना करने पर यह पाया जाता है कि

इस अवस्था में काम-सम्बन्धी रुचियाँ और अभिवृत्तियाँ उनके व्यवहार पर छा जाती हैं। इस आयु में लड़के अपने को जीविकोपार्जन हेतु तैयार करते हैं तथा लड़कियाँ पत्नी व माता बनने के लिए। इन्हें यौन भूमिका सिखाने में माता-पिता तथा समकक्ष-समूह के अतिरिक्त विद्यालय एवं समाज के अन्य अभिकरण भी सहायक होते हैं।

किशोरावस्था पर किए गए अध्ययनों के अनुसार लड़कियों को इस अवस्था में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। एलिजाबेथ डॉवन (1979) के अनुसार बाल्यावस्था में लड़कियों में लड़कों के समान ही कतिपय वैयक्तिक गुणों का जैसे स्वाधीनता, वैयक्तिकता, आत्म-निर्भरता आदि का विकास किया जाता है परन्तु किशोरावस्था में उसे इन गुणों को या तो त्यागना पड़ता है या दबाना पड़ता है, क्योंकि लड़कियों की भूमिका में पत्नी व माँ बनना ही निर्धारित है, अन्य किसी क्षेत्र में उपलब्धि प्राप्त करना नहीं। आधुनिक युग अवस्थान का युग है, आज पुराने मूल्य बदल रहे हैं, नए अभी तक स्वीकृत नहीं हुए हैं; ऐसी स्थिति में लड़कियों की समस्याएं और भी बढ़ जाती हैं। आज उसे द्वन्द्वपूर्ण सामाजिक दबावों का सामना करना पड़ रहा है।

सारांश

व्यक्ति के बाल्यावस्था से वयस्क अवस्था में प्रवेश करते समय उसमें आमूल परिवर्तन होते हैं—यह बीच की अवस्था किशोरावस्था कहलाती है। जीवन का यह महत्त्वपूर्ण हिस्सा जटिल समस्याओं से घिरा होता है। किशोर को सभी क्षेत्रों में समंजन के लिए कठोर प्रयत्न करने पड़ते हैं। उसमें अस्थिरता व असुरक्षा की भावना आ जाती है। इसका मुख्य कारण, माता-पिता, शिक्षक व अन्य प्रौढ़ों द्वारा इससे अनिश्चित रूप से व्यवहार किया जाना है। दूसरा कारण, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के अनुसार उपलब्धियाँ होना है। वह प्रौढ़ की तरह काम करना चाहता है, परन्तु शरीर अभी उस रूप में तैयार नहीं हुआ है। अस्थिरता का तीसरा कारण, व्यक्तित्व का संघटन नहीं हो सकना भी है। जहाँ एक ओर इस अस्थिरता एवं असंगति का होना अनिवार्य है, वहीं उसका दीर्घकालीन बन जाना भी अवांछनीय है। इस क्रांतिक काल का दूसरा प्रमुख लक्षण अनुकूलन क्षमता है। किशोरावस्था में यह अत्यधिक होती है, फिर आयु वृद्धि के साथ यह घटती जाती है।

संधिकाल में किशोर को अनेक बाधाओं का भी सामना करना पड़ता है। इन बाधाओं का कारण किशोर के घर का वातावरण, प्रौढ़ों का व्यवहार एवं किशोर स्वयं है।

किशोर के समुचित विकास की दशा में भी अनेक बाधाएँ आती हैं। हेविगहर्स्ट के अनुसार "विकास के दस कृकृत्य है—विलिंग से मैत्री, यौन भूमिका की प्राप्ति, देह की स्वीकृति व उपयोग, प्रौढ़ों से मुक्ति, आर्थिक स्वतन्त्रता, व्यवसाय का चयन, विवाह, नागरिकता, सामाजिक स्वीकृति तथा व्यवहार-निर्देशन।

विकास के इन कृकृत्यों में आने वाली समस्याएँ निम्न प्रकार हैं :—

1. स्वयं के शरीर को स्वीकार करना;
2. उभयलिंगी साथियों से नवीन व अधिक परिपक्व सम्बन्ध स्थापित करना;
3. अपने लिंग की भूमिका को सीखना व स्वीकार करना;

4. माता-पिता व प्रौढ़ों से संवेगात्मक स्वाधीनता;
5. आर्थिक स्वाधीनता की प्राप्ति;
6. जीवन-दर्शन और मूल्यों को प्राप्त करना।

किशोरावस्था परिवर्तन एवं एकीकरण का समय है। ये परिवर्तन शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक होते हैं। इस काल में ही उसे भूमिका सम्बन्धी द्वन्द्वों का भी सामना करना होता है। इन सब कारणों से स्वयं की खोज में भी संशोधन होते रहते हैं। आत्म-सम्प्रत्यय में आत्म-छवि एवं आत्म-मूल्यांकन सम्मिलित है। आत्म-संप्रत्यय का अर्थ है स्वयं की खोज या पहचान। अतः यह आवश्यक है कि किशोर यह समझे कि आत्म क्या है? किशोर बार-बार सोचता है कि वह क्या है? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? यदि लक्ष्य निर्धारण एवं प्राप्ति में बाधा आती है तो उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। अत. आवश्यक है कि किशोर लक्ष्य निर्धारित करते समय इच्छाओं का स्तरीकरण करें एवं एक प्रमुख उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ें। यही "स्व" या "आत्म" की खोज है। आत्म से सम्बन्धित खोज में मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स का नाम उल्लेखनीय है। उनके अनुसार एक आन्तरिकतम आत्म होता है जो अन्य आत्मों का मार्ग निश्चित करता है। व्यक्ति छोटी सी जीवन-अवधि में सभी आत्मों का एक साथ विकास नहीं कर सकता है, अपितु उसे किसी एक का चयन करना चाहिए।

आत्म-संप्रत्यय के मार्ग में आने वाली बाधाएँ इस प्रकार हैं—सांस्कृतिक संकरता, तलाक या पार्थक्य, अनाथ या अवैध सन्तान होना, जुड़वाँ बालक होना, विकलांगता। ये बाधाएँ, आयु-वृद्धि एवं बुद्धि के विकास के साथ-साथ बढ़ती जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ छोटी बाधाओं में माता-पिता द्वारा प्रयुक्त दोहरा मापदण्ड, विरोधी टिप्पणियाँ, परिजनों द्वारा अनुचित व्यवहार, माता-पिता द्वारा स्वतन्त्रता नहीं देना आदि हैं।

स्व की खोज में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए आवश्यक है कि किशोर के समक्ष अच्छे प्रतिमान प्रस्तुत किए जाएँ, जिनका कि वह अनुकरण कर जीवन में कुछ सीख सके। उसके साथियों के चयन पर नियन्त्रण रखे, उसको परिवर्तित वातावरण प्रदान किया जाए, पृथक् कक्ष दिया जाए, डायरी लेखन के लिए प्रोत्साहित किया जाए, ऐसे स्वप्न देखें जिनकी प्राप्ति सम्भव हो।

आत्म-संप्रत्यय के विकास मे दो बातों की अहं भूमिका है—स्थिरता की भावना एव जीवन की उथल-पुथल। इस सम्बन्ध में एन्जिल, टोन, मोंग, काटज तथा जिगलर आदि के अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

आत्म-संप्रत्यय के विकास पर आयु का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक विभिन्नताएँ, शरीर-प्रतिमा, सामाजिक स्तर, वातावरण आदि भी अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार आत्म-संप्रत्यय एक जटिल प्रक्रिया है। किशोर स्वयं भी दो आत्म रखता है—एक वर्तमान आत्म, दूसरा भावी आत्म। दूसरा आत्म उसके लिए अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

किशोरावस्था में विकास की समस्या में मुख्य है संसक्त पहचान की स्थापना तथा पहचान का विसरण। किसी न किसी रूप मे पहचान का संकट रहता है। पहचान के

विसरण को समाप्त करने के लिए-यह आवश्यक भी है। पहचान के संकट के चार मुख्य संघटक हैं–प्रगाढ़ता की समस्या, समय-संदर्श का विसरण, श्रम का विसरण एवं निषेधात्मक पहचान। पहचान का विकास गुणात्मक होता है, परिमाणात्मक नहीं। पहचान की चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—पहचान-विसरण, पहचान-प्रतिषेध, अस्थाई प्रतिषेध, पहचान उपलब्धि।

यौन भूमिका की पहचान का अर्थ है किशोर द्वारा अपने लिए निर्देशित भूमिका को स्वीकार करे। यौवनारम्भ के साथ ही उस पर माता-पिता व अन्य प्रौढ़ों का तथा समकक्ष-समूह का दबाव पड़ता है कि वह अपने लिंग की भूमिका के अनुसार कार्य करें। ये लोग इन्हें यौन भूमिका सिखाने में सहायता भी करते हैं।

□□□

अध्याय 3

शारीरिक एवं गामक विकास
(Physical and Motor Development)

जन्म काल से प्रौढ़ावस्था तक के विकास में साधारण व्यक्ति के जीवन का लगभग एक-तिहाई भाग व्यतीत हो जाता है। जैसाकि हम जानते हैं, स्त्री के अण्ड (ovum) और पुरुष के शुक्र (sperm) संयोग से व्यक्ति के जीवन का प्रारम्भ होता है। मानव-भ्रूण को पूर्ण विकसित होने में लगभग 9 मास लगते हैं। जब यह पूर्ण परिपक्व होता है तो माँ के गर्भ (ovary) से बाहर आता है। जन्म के प्रथम वर्ष में बालक का भार जन्म से तिगुना हो जाता है और लम्बाई मे भी द्रुत गति से वृद्धि होती है, जो कि तीसरे वर्ष तक चलती रहती है।

बच्चे की शारीरिक वृद्धि एक विशेष ध्यान योग्य नाटकीय प्रक्रिया है जो अध्यापक को दृष्टिगोचर होती है। विद्यालय के बच्चों में हो रहे नाटकीय शारीरिक परिवर्तनो की ओर ध्यान देने से चूकना कठिन है, परन्तु फिर भी हमारे लिए यह स्वाभाविक है कि हम उनकी सार्थकता की ओर ध्यान नहीं दे पाते। हम किशोर अवस्था में अपर्याप्त वस्त्रों में से लटकती भुजाओं और टाँगो को प्राय: देख सकते है, परन्तु उक्त अंग अनुपात के परिवर्तन के सहचरी गर्व तथा अविश्वास की जटिल मनोवृत्ति से प्राय: अनभिज्ञ भी रह सकते है। प्रत्यक्ष शारीरिक परिवर्तनो के साथ अनेक प्रकार के सूक्ष्म अथवा गुप्त परिवर्तन भी होते है जैसे ग्रन्थियों में परिवर्तन। किशोर को पूर्णत: समझने के लिए यह शारीरिक एवं शरीर क्रियात्मक परिवर्तनों को समझना वांछनीय है।

कद और भार में वृद्धि

कद की ऊँचाई के व्यक्तिगत भेद—वयस्क पुरुषों के कद की ऊँचाई में जिस प्रकार का विस्तार देखा जाता है, प्राय: उसी प्रकार का परिवर्तन हम दोनों लिंगों के सब आयु के बच्चो के कद में देख सकते हैं। आयु के प्रारम्भिक वर्षों में बालक तथा बालिकाओं के कद का उठान लगभग एक समान होता है। परन्तु ग्यारहवें वर्ष में बालिकाओं के कद मे बालकों की अपेक्षा कुछ द्रुत विकास होता है लेकिन पन्द्रह वर्ष की आयु मे पहुँच कर यह प्रवृत्ति उलट जाती है और अब बालको के कद मे वृद्धि तेजी से होती है। व्यक्ति के विकास के अधिकांश प्रारम्भिक अध्ययनो में बालकों के एक बहुत बड़े समूह के कद-भार और अन्य मापों के बारे मे तथ्य-सामग्री जमा करने की **अनुप्रस्थ काट** (cross-sectional approach) की प्रणाली प्रयोग मे लाई जाती है। इस प्रणाली मे विभिन्न आयु-स्तरो के बहुत से बच्चों का एक ही परीक्षण किया जाता था। इस एकत्रित सामग्री से प्रतिनिधि विकास वक्रों (curves) की रचना कर तुलनात्मक अध्ययन किए जाते थे परन्तु पिछली कई दशाब्दियों के दौरान किए गए विकास-सम्बन्धी विस्तृत अध्ययनों से पता चलता है कि

हर बालक का विकास अपने ही पृथक् ढंग से होता है और उसका निर्धारण पूरे समूह के औसत पर आधारित मानकों की बजाय उसकी अपनी विकास गति के प्रसंग में किया जाना चाहिए।

आयु के साथ ऊँचाई का परिवर्तन—आयु के साथ में ऊँचाई में भी परिवर्तन आते हैं, यद्यपि यह गति प्रायः क्रमिक तथा अपूर्ण होती है। आयु के साथ ऊँचाई में वृद्धि सबसे अधिक संख्या में बालक तथा बालिकाओं की किशोरावस्था के स्फुरण की अवधि में देखी जाती है परन्तु यह आयु सभी बालकों तथा बालिकाओं की सर्वाधिक द्रुत प्रगति के अनुकूल नहीं होती।

वृद्धि की गति और काम-परिपक्वता—व्यक्ति की ऊँचाई परिपक्वता का एक आवश्यक अंग मात्र है परन्तु विभिन्न वृद्धि-सूचकों का अध्ययन बतलाता है कि परिपक्वता का वृद्धि के साथ अच्छा सह-सम्बन्ध ऊँचाई के अतिरिक्त काम-परिपक्वता भी वयस्कता की दिशा में प्रगति की सर्वाधिक नाटकीय सूचक होती है। हम देखते हैं कि वृद्धि की सर्वाधिक प्रगति की अवधि का काम-परिपक्वता के आरम्भ के साथ सम्पात (coincidence) होता है। अधिकांश बालकों की प्रायः 14 से 15 वर्ष की अवधि में द्रुत प्रगति होती है और प्रायः इसी अवधि में प्रथम वीर्य-पात की सूचना अधिकतर बालकों से प्राप्त होती है। इसी प्रकार बालिकाओं के सर्वाधिक प्रगति की अवधि 12 से 13 वर्ष के बीच पाई जाती है, और प्रायः इसी अवधि में प्रथम मासिक धर्म की सूचना प्राप्त होती है।

भार के व्यष्टि भेद—भार पर न केवल कद, आयु और लिंग का प्रभाव पड़ता है बल्कि रहन-सहन की परिस्थितियों और शरीर रचना का भी। भार का विवरण ऊँचाई के विवरणों के समान सममित (symmetrical) नहीं है क्योंकि कुछ आठ वर्ष के बालक कुछ सोलह वर्ष के बालकों से अधिक भारी हो सकते हैं।

आयु के साथ भार में परिवर्तन—भार में आयु के अनुकूल क्रमिक वृद्धि होती है। बालक अपना वयस्क भार प्रायः देर से ग्रहण करता है। एक तीन वर्ष का बालक अपनी वयस्क ऊँचाई का आधा भाग प्राप्त कर लेता है, परन्तु भार में वह वयस्क भार के छठवें भाग तक ही पहुँच पाता है। बारह-तेरह वर्ष की आयु में वह वयस्क भार की आधी मात्रा तक पहुँच पाता है। भार की वृद्धि में ऊँचाई के समान स्थिरता नहीं होती है। तेरह वर्ष से इक्कीस-बाईस वर्ष तक ऊँचाई की वृद्धि समाप्त हो जाती है, परन्तु भार में वृद्धि हमें कभी भी परेशान कर सकती है।

स्त्री और पुरुष की ऊँचाई और भार में अन्तर—जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में लड़के ऊँचाई में लड़कियों से बढ़ जाते हैं और यह आम तौर से देखा जाता है कि औसत पुरुष औसत स्त्री की अपेक्षा कई इंच अधिक लम्बा होता है। किन्तु एक अवधि ऐसी होती है, जिसमें कि समान आयु तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा किंचित् लम्बी हो जाती हैं। सामान्यतः यह भी पाया गया है कि कुछ समय तक लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा वजन में भारी हो जाती हैं, लेकिन वृद्धि-चक्र एक-दूसरे को पार कर जाते हैं और लड़कियों की बाढ़ मन्द पड़ जाने के बाद भी लड़के काफी बढ़ते ही चले जाते हैं।

शारीरिक अनुपातों में परिवर्तन—शरीर के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न गति से बढ़ते हैं और भिन्न-भिन्न समयों में पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, जन्म काल में

बच्चे के सिर की लम्बाई पूरे शरीर के अनुपात में प्रौढ़ावस्था की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। जन्म के समय उसकी टाँगे अनुपाततः प्रौढ़ावस्था की अपेक्षा बहुत छोटी होती है। उसी प्रकार से जन्म काल मे टाँगो और जाँघों की अपेक्षा धड़ लम्बा होता है। वैसे ही, बाँहों की अपेक्षा धड़ लम्बा होता है। इस प्रकार वृद्धि की गतियाँ भिन्न-भिन्न होती है। उनमे प्रायः गर्भाधान के समय से ही बच्चों के विकास के सम्बन्ध में दो सिद्धान्तो का निदर्शन होता है। पहला सिद्धान्त यह है कि शरीर की वृद्धि की प्रगति सिर से नीचे की ओर होती है और दूसरा सिद्धान्त यह है कि मुख्य धड़ से छोरो की ओर होती है। शरीर के छोरों में जो भारी परिवर्तन होते है, उनके लिए बढते हुए बच्चों के भीतर प्रेरक पुन समंजनों (adjustments) का होना आवश्यक होता है। वस्तुतः कुछ किशोरो को थोड़े समय तक अपने बडे पैरों और टाँगो से अभ्यस्त होने में कठिनाई-सी मालूम पड़ती है।

शरीर रचना से यौन परिपक्वता की गति का सम्बन्ध—प्रायः शीघ्र परिपक्व होने वाले बालकों के नितम्ब चौडे और कन्धे संकीर्ण होते है जबकि देर से परिपक्वता प्राप्त करने वाले बालकों के नितम्ब पतले और टाँगे अपेक्षाकृत लम्बी होती है। देर से परिपक्व होने वाली बालिकाओं के कन्धे प्राय. चौडे होते है। दूसरे शब्दों में शीघ्र परिपक्व होने वाले बालक का शारीरिक गठन प्रायः उन बालिकाओं से मिलता-जुलता होता है जो बालकों की अपेक्षा शीघ्र परिपक्व हो जाती है। दूसरी ओर देर से परिपक्व होने वाली बालिका का शारीरिक गठन कुछ पुरुषों जैसा हो जाता है, जैसाकि कन्धो का चौडा होना आदि।

किशोर विकास के लक्षण

1. स्वर (Voice)—किशोर विकास का आम तौर से पहचान में आने वाला, एक लक्षण है, बालक का स्वर परिवर्तन। यह परिवर्तन किसी नियत आयु में नही आता है। अन्य तारुण्य परिवर्तनों से इसके घटित होने का भी कोई निश्चित सम्बन्ध नही हैं। किन्तु सामान्यतः यौन परिपक्वता के विभिन्न चिह्नों के प्रगट होने पर ही बालक के स्वर में गम्भीरता आती हुई देखी जाती है। किशोरावस्था में सामान्यतः बालिकाओं का स्वर भी कुछ गम्भीर हो जाता है।

इस स्वर परिवर्तन का किशोर के व्यवहार पर कभी-कभी विलक्षण प्रभाव पडता है। अपने स्वर की गम्भीरता से उन्हें घबराहट होने लगती है। वे बालक जो नि.संकोच होकर खुले गले से आनन्दपूर्वक गाया करते थे, स्वर-परिवर्तन की प्रक्रिया जारी रहने पर आत्म-संकोची हो जाते है तथा सार्वजनिक समारोहों मे गाने से मना कर देते हैं।

2. जननेन्द्रियों के वर्धित आकार (Increased size of genital organs)—बालकों की बाह्य जननेन्द्रियो की त्वरित वृद्धि उनकी यौन परिपक्वता का दूसरा लक्षण है। अण्डकोषों की वृद्धि, शिश्न वृद्धि के पूर्व ही प्रत्यक्ष हो जाती है। यह सामान्य वृद्धि की घटना भी किशोर के लिए चिन्ता का विषय बन जाती है क्योंकि उसे वस्तु-स्थिति की जानकारी नही होती है। बालकों के लिए जननेन्द्रियों की वृद्धि के अनेक मनोवैज्ञानिक आशय हो सकते है, विशेषत. उन समूहो में, जिनमे यह धारणा प्रचलित है कि शिश्न का बड़ा होना पौरुष का विशेष महत्वपूर्ण चिह्न है।

3. स्तन-विकास, श्रोणि-वृद्धि तथा वसा-संग्रह (Breast development, growth of the pelvis, and fat deposits)—स्तनों की वृद्धि तथा श्रोणि के आकार की वृद्धि यौवनारम्भ के ऐसे शारीरिक विकास हैं, जिनका बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव किशोरी की "शारीरिक आत्म" (physical self) सम्बन्धी धारणा पर हो सकता है। इनका स्वस्थ प्रभाव यह हो सकता है कि वह इन्हें तारुण्य के स्पष्ट लक्षण समझ कर गर्व का अनुभव करे। दूसरी ओर उनमें आत्म-संकोच की भावना भी आ सकती है, उसके मन में यह आशंका भी आ सकती है कि कहीं उसका शरीर बेडौल न हो जाए।

कभी-कभी बालकों को भी वसा-वृद्धि का सामना करना होता है। इस कारण उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। उन्हें इस कारण कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है अतः उसमें हीन भावना घर करने लगती है। ऐसी स्थिति में उसे आवश्यकता होती है ऐसे व्यक्ति की, जो उसकी आशंकाओं को मिटाने में सहयोग करे।

4. केश-वृद्धि (Hair growth)—यौवनारम्भ में जघन-बाल (pubic hair) तथा काँख के बाल उगने लगते हैं।

5. स्वेद ग्रन्थियाँ (Sweat glands)—तारुण्य का एक लक्षण है काँखों की स्वेद ग्रन्थियों की वर्धित क्रियाशीलता। इस क्षेत्र की ग्रन्थियाँ उसी प्रकार की है, जिस प्रकार की ग्रन्थियाँ शरीर के अन्य सीमित क्षेत्रों—स्तन, ऊरुसंधि, जननेन्द्रिय तथा गुदा की, किन्तु वे उन ग्रन्थियों से भिन्न होती हैं जो सामान्यतः पूरे शरीर में फैली रहती हैं। इन स्वेद-ग्रन्थियों को गन्धोत्सर्गी कहते हैं। इनका विकास प्रजनन-तन्त्र की स्थिति से सम्बद्ध जान पड़ता है। तारुण्य की काफी प्रगति हो जाने पर ही इन ग्रन्थियों का पूरा विकास हो पाता है।

6. रजः स्राव (Menstruation)—बालिकाओं में रज. स्राव का आरम्भ लैंगिक परिपक्वता का सूचक है। प्रथम रजः-स्राव को यौवनारम्भ की कसौटी नहीं माना जा सकता, परन्तु यह यौन विकास का एक महत्त्वपूर्ण चिह्न है। रज.-स्राव के सम्बन्ध में अनेकों भ्रान्त धारणाएँ एवं अन्धविश्वास प्रचलित रहे है। इनमें से कुछ तो स्त्री जाति के लिए तनिक भी शोभनीय नहीं है। इस घटना को अभिशाप माना जाता है तथा यह मान्यता भी है कि इन दिनों स्त्री शारीरिक एवं मानसिक रूप से दुर्बल हो जाती है, उसके छूने से भोजन खराब हो जाता है, उसे स्नान नहीं *करना चाहिए इत्यादि।* परन्तु *अब* इन धारणाओं में शनै शनैः परिवर्तन आ रहा है।

आर्तव-चक्र (Menstrual-cycle)—*के साथ होने वाली शारीरिक पीड़ा और* बेचैनी का अनुभव भिन्न-भिन्न बालिकाओं को भिन्न-भिन्न होता है। भाव दशा परिवर्तन यथा निरुत्साह, उदासीनता, उत्तेजनशीलता आदि की सीमा भी भिन्न-भिन्न बालिकाओं में भिन्न-भिन्न होती है। रजः-स्राव की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त यह है कि इन प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध इस बात से है कि स्त्री के रूप में अपनी भूमिका स्वीकार करती है अथवा नहीं। इस मत के अनुसार जो स्त्री रजः-स्राव को कठिन समझती है उसे नारीत्व के अन्य पहलुओं को अंगीकार करने में कठिनाई हो सकती है यथा माँ बनने में, बच्चों की देखभाल करने में, बच्चों को स्तनपान कराने में। यह भावना बहुत कुछ बालिका के माँ के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करती है। कई माताएँ भी उनकी पुत्री के रज-स्राव पर उदासीन, चिन्तित या क्रोधित हो जाती हैं; इससे बालिका इस सामान्य घटना नहीं मानकर एक रोग या विकार समझ बैठती है।

7. कान और आँख—बालक और प्रौढ़ आदमी के कानों में आकार के अन्तर के अतिरिक्त मुख्य अन्तर कान को गले से जोड़ने वाली नली यूस्टेकियन ट्यूब में होता है। बचपन में यह नली अत्यन्त कोमल स्थिति में होती है और गला खराब होने पर उसका असर कान पर भी पड़ सकता है। दोनों आँखों की दृष्टि में सामंजस्य का विकास भी इन्हीं दिनों होता है।

8. रक्त परिभ्रमण तंत्र—किशोरावस्था में पूर्व हृदय और फेफड़े का विकास बड़ी तेज़ी से होता है परन्तु बाद में हृत-पिण्ड बढ़ता रहता है परन्तु विकास नहीं होता है। इसी प्रकार प्रारम्भिक बाल्यावस्था में लड़के और लड़कियों के रक्तचाप में बहुत कम अन्तर होता है, परन्तु तेरह वर्ष की आयु के आस-पास लड़कियों का रक्तचाप लड़कों से अधिक रहता है। तेरह वर्ष की आयु के बाद लड़कों का रक्तचाप लड़कियों से अधिक रहता है और आयु के साथ यह अन्तर बढ़ता जाता है।

किशोरावस्था में शारीरिक क्रिया एवं योग्यता

किशोर की शारीरिक क्रियाओं के अन्तर्गत उसकी शक्ति, क्षिप्रता (speed) एव उसकी शारीरिक क्रिया का सामर्थ्य आते हैं। किशोर के जीवन दर्शन में अपने सम्बन्ध में उसकी अवधारणा एवं दूसरों के प्रति उसके व्यवहार में इन शारीरिक योग्यताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। शारीरिक क्रियाओं, विशेषतः खेलकूद की योग्यता का अधिकतर बालकों के जीवन में प्रमुख स्थान रहता है। परन्तु शारीरिक क्रिया एव शरीर संचालन बालिकाओं के व्यक्तित्व निर्माण एवं अभिव्यक्ति में भी समान महत्त्व रखते हैं।

किशोरावस्था के प्रारम्भिक भाग को "बेढंगी उम्र" (awkward age) कहा जाता है। अपनी अंगस्थिति तथा चाल-ढाल के बारे में बहुतेरे किशोर आत्म-संकोची हो जाते हैं। कुछ किशोरों की शारीरिक गति देखकर लगता है कि उन्हें कोई अन्तर्बाधा या हिचकिचाहट है, मानों उन्होंने अपनी पेशियों पर रोक लगा रखी हो और अपने को स्वाभाविक रूप से गतिशील होने देने की स्वाधीनता का अनुभव नहीं कर रहे हों। व्यक्ति ने बाल्यावस्था में अपने अधिकांश सामाजिक सम्पर्क शारीरिक क्रियाओं एवं गति-प्रेरक कौशल द्वारा ही स्थापित किए थे। किशोरावस्था में भी उसको अपना स्वरूप पहचानने में और दूसरों के बीच अपना स्थान प्राप्त करने में शारीरिक क्रियाएँ किसी न किसी रूप में भारी सहायता पहुँचाती हैं। इस शारीरिक क्रिया का बहुत-सा अंश तो खेल का रूप ले लेता है परन्तु यह खेल भी गम्भीर व्यवसाय है। विकास के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य खेल-सी प्रतीत होने वाली क्रियाओं के माध्यम से ही सम्पन्न होते हैं।

शक्ति, क्षिप्रता एवं शारीरिक क्रिया में परिवर्तन (Changes in strength, speed, and physical activity)—उत्तर बाल्यावस्था एव किशोरावस्था में शारीरिक आकार की अपेक्षा पेशीय शक्ति, क्षिप्रता समन्वित शारीरिक गति की क्षमता में जो वृद्धि होती है, उसी के माध्यम से शरीर की शक्तियों का प्रायः अधिकतम विकास हो जाता है। किशोरावस्था की समाप्ति के पहले भी कुछ कार्यों में अधिकतम योग्यता प्राप्त हो सकती है। बाल्यावस्था में बालक के सरकने या रेंगने से जो क्रियाशीलता आरम्भ होती है वह सत्रह अठारह वर्ष तक प्रबल रहती है परन्तु फिर धीरे-धीरे घटने लगती है। परिपक्वता का एक चिह्न है, बैठे रहने की प्रबल प्रवृत्ति।

प्रेरक कार्यों में वृद्धि की प्रवृत्तियाँ (Growth trends in motor performances)—प्रेरक एवं यांत्रिक कार्यों में लिंग-भेद देखे जाते हैं। जहाँ क्षिप्रता एवं गति की तीव्रता होती है, उन क्रियाओं में लड़के आगे रहते हैं। गति की परिशुद्धता जाँचने वाली क्रियाओं में लड़कियाँ आगे रहती हैं परन्तु इन सबका वास्तविक अन्तर लिंग-भेद के कारण उतना नहीं है, जितना की रुचि, अनुभव और अभ्यास की मात्रा में अन्तर के कारण है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि खेलकूद के मैदान या व्यायाम कक्ष में बालिकाओं को जो सीखना या करना होता है, वह प्रत्यक्षतः उनके सामाजिक हितों के प्रायः अनुरूप नहीं पड़ता है। इन कार्यों में अरुचि का कारण है—व्यायाम करने की शारीरिक प्रवृत्ति का अभाव, केश-विन्यास एवं शारीरिक सजावट पर इसका कुप्रभाव होने की सम्भावना, पेशियों के बढ़ जाने का भय, पोशाक में परिवर्तन करने की अनिच्छा।

शारीरिक योग्यता एवं अन्य व्यक्तित्व कारकों के बीच सम्बन्ध (Relationship between physical ability and other personality factors)—किशोरावस्था में लोकप्रियता का घनिष्ठ सम्बन्ध शारीरिक शक्ति एवं खेलकूद में दक्षता से होता है। बुद्धि, विद्यालय सम्प्राप्ति, सामाजिक-आर्थिक स्थिति का लोकप्रियता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता है। यह निष्कर्ष कैलिफोर्निया-अध्ययन पर आधारित है।

किशोर बालक की सामाजिक भूमिका तथा शारीरिक क्रियाओं के बीच क्या सम्बन्ध है, इसका अध्ययन टायन ने किया है। टायन ने बतलाया कि बहादुरी, नेतृत्व, खेलकूद में दक्षता, लड़ाई-भिड़ाई आदि गुणों का होना इस बात का सूचक है कि किशोर में शारीरिक कौशल, शक्ति, बहादुरी और परिस्थिति का सामना करने की क्षमता है। सामाजिक स्थितियों में व्यक्ति की सहजता एवं भिन्न लिंगियों से उसके समंजन का इन सहगामी गुणों से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर जहाँ ये गुण बहुत कम मात्रा में पाए जाते हैं, वहाँ दुर्बलता, खेलकूद में कौशल का अभाव और कदाचित् अन्य अवांछनीय बातें विद्यमान रहती हैं।

उपरोक्त अध्ययनों से यह स्पष्टतः लक्षित है कि किशोरावस्था खेलकूद एवं शारीरिक गतिविधियों की अवस्था है। विद्यालयों को अपने कार्यक्रम में शारीरिक शिक्षा एवं मनोरंजन को महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि वैयक्तिक मूल्यांकन में खेलकूद की योग्यता को ही सबसे प्रमुख अथवा एक मात्र मानक मान लिया जाए। यदि ऐसा कर भी लिया जाता है तो आगे चलकर इस योग्यता का ह्रास होने पर यही योग्यता किशोर के दुःख का सबसे बड़ा कारण बन जाएगी।

प्रेरक योग्यता (Motor ability) का सामाजिक आर्थिक स्थिति से बौद्धिक योग्यता की भाँति सम्बन्ध नहीं है। अच्छी सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले किशोरों में जहाँ बौद्धिक योग्यता अधिक होती है, प्रेरक-योग्यता उनमें कम होती है।

शारीरिक योग्यता का अर्थ :

1. शारीरिक रूप से बलशाली व्यक्ति अपने को अधिक समंजित पाते हैं।
2. जिन बालकों में परिपक्वता विलम्ब से आती है, उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनकी अपने समूह में लोकप्रियता भी कम हो जाती है।

3 शारीरिक क्रियाओं द्वारा व्यक्ति की नूतनता (novelty), साहस (adventure), उत्तेजना (excitement) आदि की चाह को अभिव्यक्ति मिलती है। इन क्रियाओं द्वारा सामाजिक अनुमोदन (social approval), अवधान (attention), प्रतिष्ठा (status) और मान्यता (recognition) की आवश्यकता भी व्यक्त हो सकती है। प्रभुत्व (mastery), सामर्थ्य (power), सफलता (success) एव उपलब्धि (achievement) की भावना इन क्रियाओं का प्रेरणा-स्रोत हो सकती है।

गामक कुशलता का अर्थ—शारीरिक कार्यों में बल, सामर्थ्य, सहनशक्ति तथा सारे शरीर की गतिविधि पर नियन्त्रण की योग्यता पर अधिक बल दिया जाता है। यह तो सत्य है कि कौशल एक महत्त्वपूर्ण गुण है परन्तु इस कौशल का प्रयोग भी तो शक्ति के साथ किया जाता है। बहुत से अन्य कार्य भी होते हैं जिनमें बल का महत्त्व कम होता है किन्तु उनकी सफलता के निमित्त गति, दक्षता एवं परिशुद्धता, समन्वय अथवा तालमेल की अधिक आवश्यकता होती है। सामान्यतः जिस प्रकार के कार्य में गामक कुशलता की विशेषता होती है, उसमें सामान्यतः प्रतिक्रिया-काल पर विशेष बल देते है यथा टपटप करना, लीवरों तथा क्रैंकों का द्रुत गति से हस्त-प्रयोग करना आदि।

शीघ्र तथा विलम्ब से आने वाली यौन परिपक्वता के मनोवैज्ञानिक प्रभाव

बालिका का शीघ्र परिपक्व हो जाना कई दृष्टियों से उसके लिए हानिप्रद है, जबकि बालक को इससे अनेक लाभ हो सकते हैं।

शीघ्र परिपक्व होने वाली बालिका को यौवनारम्भ के तनावों का सामना अपेक्षाकृत कम उम्र मे करना पड़ता है और ये तनाव कुछ तीव्रतर जान पड़ते है। वह बड़ी हो जाती और उसका शरीर ध्यानाकर्षी हो जाता है। उसके आकार, शारीरिक अनुपात एवं अधिक परिपक्व होने के साथ प्रकट होने वाले अन्य लक्षणों के कारण उसे तथा उसी उम्र की अन्य बालिकाओं को परस्पर एक-दूसरे के समान भाव से स्वीकार करने मे कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त, जब उसका शरीर बढ चुका होता है उस समय तक उसके समवयस्क अधिकाश बालिकाओं में बालपन बना रहता है और वे उसके इस शारीरिक परिवर्तन को समझ नहीं पाती हैं। सम्भवतः उसकी ओर बालको की अभिवृत्ति कुछ सतर्क हो जाती है। यह भी हो सकता है कि शारीरिक परिपक्वता के अनुरूप सामाजिक अथवा बौद्धिक परिपक्वता उसमें न दिखाई पड़े। ऐसी स्थिति में अपने समान शारीरिक विकास प्राप्त, किन्तु उम्र मे बड़ी बालिकाओं से मिलने-जुलने को वह तैयार न होगी। सम्भव है कि उसके माता-पिता अब भी उसे बहुत छोटी बालिका समझें और बालकों से उसके प्रेम मिलन पर सयानी लडकियों के समान पोशाक पहनने पर, ओष्ठ-रंजक लगाने पर तथा इसी प्रकार की दूसरी बातों पर रोक लगावें। फलत. उसके मन मे विशेष प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व चल सकते हैं।

किन्तु शीघ्र परिपक्वता प्राप्त करने वाली बालिका की परिस्थिति बिल्कुल अन्धकार-पूर्ण नही होती है। शीघ्र परिपक्वता प्राप्त करना तो सापेक्ष वस्तु है। कुछ समूहों मे यह लाभदायक हो सकता है, यदि समूह विशेष की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली सदस्याएँ शीघ्र परिपक्वता प्राप्त करने वाली हों। ऐसी परिस्थिति मे विलम्ब से परिपक्व होने वाली बालिका को लगता है कि वह पीछे छूट गई। जिन बालिकाओं से मिलना-जुलना

उसे पसन्द है, यदि वे परिपक्व हो जाती हैं, और वह नहीं होती तो अपने बारे में उसे चिन्ता होने लगती है। बारह वर्ष की एक बालिका को अपनी समवयस्काओं के बीच ऐसी ही कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा। जिन आधा दर्जन लड़कियों के साथ रहना उसे भाता था, उनमें तरुणाई प्रस्फुटित हो रही थी। वे अपने साथ बस पर सिनेमा जाने से उसे रोकती थीं। उनका कहना था कि वह चौदह वर्ष की तो नहीं लगती है और ऐसी छोटी लगने वाली लड़की को साथ ले जाने से लोगों के बीच चौदह-पन्द्रह वर्ष की लड़कियों के समान आचरण करने में उन्हें कठिनाई होगी। तथापि यह बालिका कुछ ऐसी जटिल स्थितियों से बच गई, जिनका सामना शीघ्र परिपक्व होने वाली बालिकाओं को करना पड़ता है।[1]

शीघ्र परिपक्वता प्राप्त करने वाली बालिका के विपरीत, शीघ्र परिपक्व होने वाले बालक को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। कुछ समय तक वह अनेक अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक बड़ा और बलवान बना रहेगा, यद्यपि कालान्तर में उनमें से कुछ बालक उससे कद और बल दोनों में ही आगे बढ़ सकते हैं। अधिक बलवान और बड़ा होने के कारण प्रतियोगी खेलकूद में उसे विशेष सुविधा प्राप्त हो सकती है। खेलकूद में अपने पराक्रम के फलस्वरूप अनेक समुदायों में उसके लोकप्रिय तथा सम्मानित होने की सम्भावना रहती है। लायम (1951) के एक अध्ययन में बताया गया है कि जूनियर हाई स्कूल स्तर के जिन बालकों में यौन परिपक्वता अधिक रहती है, खेलकूद के कार्यों में उनके नेता चुने जाने की अधिक सम्भावना रहती है।[2]

मानसिक एवं शारीरिक वृद्धि के पारस्परिक सम्बन्ध

यदि किसी व्यक्ति की बनावट का कोई प्रमुख अंग औसत से उच्चतर है तो लगभग सभी आयु-स्तरों पर इसकी अधिक सम्भावना रहती है कि अपनी बनावट-सम्बन्धी अन्य बातों में भी वह औसत से नीचा नहीं बल्कि ऊँचा रहेगा। इस प्रवृत्ति के अनुरूप ही, बुद्धि-परीक्षणों द्वारा मापित मानसिक-योग्यता तथा कतिपय शारीरिक मापों के बीच सकारात्मक उच्च सहसम्बन्ध (positive correlations) पाए गए हैं किन्तु मानसिक योग्यता एवं शारीरिक आकार के बीच, तथा वृद्धि एवं प्रेरक गति-योग्यता के बीच के सह-सम्बन्ध सार्थक एवं सकारात्मक होते हुए भी अल्प है।

शारीरिक रूप में मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक तत्त्वों का प्रायोगिक योग
(Interplay of psychological and physical factors in personal appearance)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि किशोर की स्व-सम्बन्धी अभिवृत्तियों (attitude regarding himself) पर तथा उसके प्रति दूसरों की अभिवृत्तियों पर उसके शारीरिक विकास का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यह भी सत्य है कि उसकी मनोवैज्ञानिक अभिवृत्तियाँ उसके शारीरिक रूप को प्रभावित करती हैं। हम नित्य, सामान्य

---

1. जरसिल्ड ए. टी., "द साइकोलोजी ऑफ एडोलेसेन्स", 1957, पृ. 43.
2. शोनफील्ड, डब्ल्यू. ए., "इनएडीकेट फिजिक", 1950, साइकोसोम मेड (Psychosom Med.) 12 (49-54).

बोल चाल में सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति की सूरत भद्दी है। वह उद्विग्न दिखाई पड़ता है; वह हमेशा थका-थका सा लगता है; वह सनकी जैसा, परेशान, चिन्तित, प्रसन्न, सुखी, झिलमिलाता हुआ दीख पड़ता है। इसी प्रकार के अन्य शब्दों व कथनों का भी प्रयोग किया जाता है।

अभिवृत्ति तथा शारीरिक रूप की ध्यान में आने वाली बातों के बीच जो सम्बन्ध है, वह तब प्रत्यक्ष हो जाता है, जब व्यक्ति स्पष्टतः अपने रूप को बनाकर दिखलाने की चेष्टा करता है। उदाहरणार्थ यह सम्बन्ध तब प्रगट होता है जब रंजित बालों और नकली भौं के कारण किसी बालिका के रूप में कृत्रिमता आ जाती है, या जब कोई किशोर मानों हठ ठानकर बेढंगा भेष बनाए रहता है। एक दूसरा उदाहरण लें, जिसमें यह कुछ अधिक सूक्ष्म रूपों से प्रकट होता है। हम प्रायः यह विचित्र बात देखते हैं कि जिन व्यक्तियों के होंठ खिंचे हुए होते हैं, बाल दृढ़ता से गुँथे रहते हैं तथा जिनकी मुखाकृति कुछ बनावटी होती है, उनके व्यवहार और बातचीत में भी कुछ औपचारिक रूक्षता होती है। हम यह उस समय भी देखते हैं जब अपने स्त्री-रूप को स्वीकार करने में असमर्थ सी लगती हुई बालिका अपने लिए इस ढंग की पोशाक आदि चुनती है, जो संभवतः उसे औरों की दृष्टियों से छिपा सके, जैसे कि वह ऊँचे गले के ब्लाउज, छातियों को छिपा देने वाले ढीले कपड़े अथवा अपने शरीर की स्वाभाविक आकृति को आवृत कर देने वाली पोशाक पहनती है।

यहाँ यह नोट किया जा सकता है कि कभी-कभी सफल मनोवैज्ञानिक परामर्श के परिणामस्वरूप व्यक्ति की साज-सज्जा और पोशाक अधिक स्वाभाविक और उपयुक्त हो जाती है। शिक्षकों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

शरीर की ऊँचाई तथा उसके विभिन्न भागों के आकार एवं आकृति को कोई परिवर्तित करना चाहे, तो निश्चय ही वैसा करने की अधिक गुंजाइश नहीं है किन्तु अपने शारीरिक लक्षणों की ओर वर्धमान व्यक्ति की अभिवृत्तियों को प्रभावित करने की दिशा में बहुत कुछ किया जा रहा है और किया जा सकता है। जो उसे प्राप्त है, उसका उत्तमोत्तम उपयोग करने के लिए वह बहुत सीख सकता है। जहाँ तक बालिकाओं का सम्बन्ध है, केश-विन्यास और बनावट, तथा पोशाक की समीचीन शैली के सहारे बहुत कुछ किया जा सकता है। एक अच्छा दर्जी कन्धे की गद्दियों तथा उस प्रकार के दूसरे साधनों द्वारा बालकों की भी प्राकृतिक त्रुटियों को सुधारने में सहायता कर सकता है। प्रत्यक्षतः किसी व्यक्ति की पोशाक में फेर-बदल करना उसके व्यक्तित्व के प्रति व्यवहार करने का कोई बहुत कारगर उपाय नहीं है किन्तु कुछ किशोरों के लिए पोशाक की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। सम्भवतः बहुत से किशोर ऐसे हैं, जिन्हें आत्म-सम्बन्धी अनुभूति में तथा शारीरिक रूप के सम्बन्ध में सहायता दी जा सकती है किन्तु यह तभी सम्भव है जब प्रौढ़ लोग उनकी समस्याओं को समझकर और विद्यालय के अधिकारी उस ओर ध्यान देकर नव-वयस्कों को पोशाक, साज-सज्जा और व्यक्तिगत सजावट के मामले में प्रयोग करने को प्रोत्साहित करें।

शारीरिक रूप-सम्बन्धी कुछ बातें प्रौढ़ व्यक्ति को कुछ तुच्छ-सी लग सकती हैं किन्तु किशोर की निजी दृष्टि से वे गर्व अथवा लज्जा की बातें है। यह एक कारण है

जिससे कि प्रचलित फैशन के अनुसार ओष्ठ रंजन तथा बनाव शृंगार की अन्य वस्तुओं के व्यवहार और पोशाक को लेकर माता-पिता और बालिका के बीच कटु विवाद उठ खड़े होते हैं। बालिकाएँ अधिकांशत अपनी माता के अनुसार शृंगार करने की इच्छा रखती हैं।

माता-पिता को नवयुवक व्यक्ति का दृष्टिकोण समझना और उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना आवश्यक है। प्रौढ़ व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने उद्देश्यों की जाँच करें। सम्भव है कि नवयुवक व्यक्ति की पोशाक तथा साजसज्जा सम्बन्धी इच्छाओं का विरोध वह किसी पूर्वाग्रह अथवा ईर्ष्या के कारण कर रहा हो, अथवा इसलिए कि बच्चे को बढ़ने देने में उसे भय लगता हो। अथवा इस विरोध का कारण यह भी हो सकता है कि प्रौढ़ व्यक्ति किशोरों के पहनावे और साज-सज्जा के सम्बन्ध में पड़ोसियों की रायों के अनुरूप चलना चाहता हो। उसका विरोध इस विषय के सम्बन्ध में किशोर के अव्यावहारिक विचारों के समान ही अविवेकपूर्ण हो सकता है।

एक बात स्पष्ट है कि शारीरिक लक्षणों की ओर व्यंग्यात्मक अथवा अनादर-सूचक ढंग से ध्यान आकृष्ट करने की भद्दी प्रथा से हमें बचना चाहिए।

किशोरों के पालन-पोषण के क्रम में ऐसी अनेक बातें होती हैं, जो अपने शरीर तथा उसके कार्यों के प्रति उनकी अभिवृत्तियों को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ काम (sex) के प्रति एवं काम के शारीरिक पक्षों के प्रति प्रौढ़ों की अभिवृत्तियों का प्रभाव किशोरों की अपनी जननेन्द्रियों एवं काम के सभी शारीरिक पक्षों सम्बन्धी अभिवृत्तियों पर पड़ता है। कुछ दूसरे प्रकार के प्रभाव भी होते हैं, उदाहरणार्थ, यह बात समझ में आती है कि यदि किसी किशोर को बारम्बार सीधे बैठने को कहा गया है, तो वह अपनी अंग स्थिति के लिए अपने को दोषी मान सकता है। यदि बारम्बार उसे कहा गया है कि बहुत अधिक मिठाई या बहुत कम पालक खाओगे तो बीमार पड़ जाओगे, या बहुत तेज दौड़ोगे अथवा अन्धाधुन्ध खेलोगे तो चोट आ जाएगी, तथा अनेक प्रकार से उसे चेतावनी दी गई है, तो हम समझ सकते हैं कि वस्तुत: बीमार हो जाने पर या पैर टूट जाने पर या इसी प्रकार का दूसरा कुछ होने पर, वह सम्भवत उसके लिए अपने को दोषी माने।

किशोर के शारीरिक रूप एवं व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली अभिवृत्तियाँ दीर्घकालीन वैयक्तिक अंतर्द्वन्द्वों में निहित हो सकती हैं। अपने शारीरिक रूप को घटाकर आँकने अथवा अपने को महाकुरूप समझने की उसकी प्रवृत्ति का कारण कदाचित् अपने सम्बन्ध में और अपनी योग्यता के सम्बन्ध में उसका हीन विचार है, जो उसके अन्तस्तल में बैठा हुआ है। यदि यौन मनोवेगों ने उसे विच [illegible] दिया है, या हस्तमैथुन के लिए वह अपने को अपराधी समझता है, तो संभव [illegible] में अपने शारीरिक लक्षणों के विषय में अन्य लोगों की धारणाओं [illegible] झुठला दे। वह [illegible] आँखों के

की लज्जालुता अंगस्थिति में व्यक्त हो सकती है। तेजी से बढ़ने के समय वह कम से कम अपनी दृष्टि से कुछ भद्दा सा प्रतीत हो सकता है। इसी प्रकार किसी बालक में अपनी जननेन्द्रियों के विषय में आत्म-संकोच की भावना आ सकती है। उसे आशंका हो सकती है कि कहीं उनके स्वरूप और आकार कपड़ों के भीतर से प्रकट तो नहीं हो रहे हैं। और कोई बालिका अपनी छातियों के आकार तथा रूप के सम्बन्ध में विशेष रूप से संवेदनशील हो सकती है। केवल शारीरिक परिवर्तनों के कारण नहीं, बल्कि नववयस्कों की आत्म सम्बन्धी अभिवृत्तियों के कारण भी भद्दापन एवं आत्म-संकोच विशेष रूप से प्रकट हो सकते हैं। किशोरावस्था की शारीरिक वृद्धि सम्पन्न हो जाने के बाद भी यह भद्दापन लगा रहता है। उत्तर-किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में पहुँचे हुए कुछ ऐसे व्यक्ति मिलते है जिनकी अंग-स्थिति और चाल-ढाल तथा किसी भी कमरे में प्रवेश करते समय की मुद्रा अथवा हाथ मिलाने का ढंग लगभग क्षमा-याचक के से लगते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हम नववयस्को को अच्छी तरह जान पाएँ। तभी हमे वैयक्तिक रूप के सम्बन्ध में शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के पारस्परिक योग के अन्य पहलुओं का भी पता चल सकेगा। हमें एक व्यक्ति ऐसा मिल सकता है, जो कि सुन्दर नहीं है लेकिन वह अपने को उसी रूप में स्वीकार करता है। दूसरी ओर हमारे सामने एक ऐसा व्यक्ति है, जो सुन्दर नहीं है, इस कारण उसमें प्रायः कटुता की भावना आ गई है। एक ओर तो हम उस बालिका को देख सकते हैं, जो सुन्दर है और तदनुरूप व्यवहार करती है, जिसकी प्रत्येक चाल-ढाल में सुघराई है परन्तु दूसरी ओर एक अन्य सुन्दर बालिका है; वह उन लोगों को कुछ सन्देह की दृष्टि से देखती है, जो उसके सौन्दर्य के कारण उसके प्रति मैत्री भाव प्रकट करते हैं। इस तरह उसका सौन्दर्य उसके लिए एक हद तक हर्ष का विषय न होकर कुछ भार सा बन गया है। इस सूची मे अन्य दृष्टान्त भी जोड़े जा सकते हैं। किशोरों का साथ पाने की चेष्टा में और उनके साथ काम करने में हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि शारीरिक रूप के मनोवैज्ञानिक पक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किशोर के आकार, रूपरेखा और शारीरिक गठन में बहुत परिवर्तन कर देना सम्भव नहीं है परन्तु शिक्षा तथा मार्गदर्शन के द्वारा यह बहुत सम्भव है कि अपने प्रति निजी अभिवृत्तियों को समझने में, अपने को स्वीकार करने मे, तथा जो उन्हे प्राप्त है, उसका सर्वोत्तम उपयोग करने में किशोरों की सहायता की जा सके।

सारांश

भ्रूणावस्था से किशोरावस्था के अन्त तक अनेक प्रकार के शारीरिक एवं गामक परिवर्तन होते रहते है। हर बालक का विकास पृथक् ढंग से होता है। आयु के साथ कद और भार में परिवर्तन होते है। वृद्धि की गति पर काम–परिपक्वता निर्भर करती है। अधिकांश बालकों में 14–15 वर्ष के बीच मे तथा बालिकाओं मे 12–13 वर्ष के बीच में काम-परिपक्वता का आरम्भ होता है। शीघ्र अथवा विलम्ब से आने वाली काम-परिपक्वता शरीर रचना पर भी प्रभाव पड़ता है, यथा देर से परिपक्व होने वाली बालिकाओं के कंधे प्रायः चौड़े होते हैं।

किशोर विकास के प्रमुख लक्षण हैं—(1) स्वर में गम्भीरता का आना (2) बालकों की जननेन्द्रियों के आकार में वृद्धि होना; (3) बालिकाओं के स्तनों की वृद्धि, श्रोणी के आकार में वृद्धि तथा वसा संग्रहीत होना; (4) यौवनारम्भ के साथ ही जघन-बाल तथा काँख के बाल उगना; (5) स्वेद-ग्रन्थियों की क्रियाशीलता में वृद्धि होना (6) किशोरियों

में रजः-स्राव का प्रारम्भ होना; (7) कान को गले से जोड़ने वाली नली तथा दोनों आँखों की दृष्टि में सामंजस्य का विकास; (8) हृदय और फेफड़े के विकास की गति का कम होना।

किशोर की शारीरिक क्रियाओं एवं योग्यताओं का प्रभाव उसके जीवन-दर्शन एवं व्यक्तित्व पर पड़ता है। किशोरावस्था का प्रारम्भ असंतुलित शारीरिक वृद्धि एवं विकास के कारण "बेढंगी उम्र" कहा जाता है। बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक शक्ति, क्षिप्रता एवं शारीरिक क्रियाशीलता में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। किशोरावस्था के पश्चात् यह घटती रहती है। प्रेरक एवं यांत्रिक कार्यों मे लड़के-लड़कियो से आगे रहते हैं। इसका मुख्य कारण सामाजिक व्यवस्था एवं प्रचलित मान्यताएँ हैं। किशोरावस्था में लोकप्रियता अर्जित करने का प्रमुख आधार शारीरिक शक्ति एवं खेलकूद मे दक्षता होता है। गामक कुशलता अर्जित करने के लिए बल से अधिक महत्त्व गति, परिशुद्धता एवं तालमेल की क्षमता को दिया जाता है।

शीघ्र एवं विलम्बित यौन परिपक्वता के लड़के-लड़कियों पर दूरगामी प्रभाव पड़ते हैं। शीघ्र परिपक्वता का आना लड़कियो को तनावों से भर देता है, जबकि बालकों को शीघ्र परिपक्व होने से कुछ सुविधाएँ प्राप्त हो सकती है। मानसिक योग्यता एवं शारीरिक आकार के बीच तथा बुद्धि एवं प्रेरक गति-योग्यता के बीच के सह-सम्बन्ध सार्थक एवं सकारात्मक होते हुए भी अल्प हैं।

किशोर की अभिवृत्तियो पर उसके शारीरिक रूप एवं विकास का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि किशोर कभी-कभी बेढगे वस्त्र भी पहनना पसन्द करते है। प्रौढ़ का कर्तव्य है कि वे किशोर की इस दिशा मे सहायता करें। उसे जो प्राप्त है, उसका उत्तमोत्तम उपयोग सिखाया जाए। किशोर के शारीरिक लक्षणों को और व्यंग्यात्मक अथवा अनादर सूचक भाव नही रखना चाहिए। इसी प्रकार उसे उसकी किसी आदत के लिए लगातार नही टोकते रहना चाहिए। ऐसा करने से वह परिणामों के लिए स्वयं को दोषी मानेगा। एक अपराध-भावना उसके मन मे जन्म लेने लगेगी, तथा वह तनावों एवं द्वन्द्वो से घिर जाएगा। प्रौढ़ किशोर के आकार, रूप-रेखा एव शारीरिक गठन में तो परिवर्तन नही ला सकते परन्तु उचित शिक्षा एवं मार्गदर्शन द्वारा किशोर अपने को जैसे हैं, उसी रूप में स्वीकार करने की अभिवृत्ति तो उत्पन्न कर ही सकते है।

□□□

अध्याय 4

मानसिक विकास
(Intellectual Development)

मानसिक विकास की प्रकृति के सम्बन्ध मे गत दशाब्दियों मे प्रचुर मात्रा में अनुसन्धान हुए हैं। इन अनुसन्धानो के अध्ययन से मानसिक विकास के सम्बन्ध मे तो बहुमूल्य सूचनाएँ प्राप्त होती ही है, साथ ही नए अध्ययन के क्षेत्र भी खुलते हैं।

मानसिक विकास के सम्बन्ध मे अध्ययन करते समय निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखना चाहिए—

1. शारीरिक एवं संवेगात्मक विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त मानसिक विकास के सम्बन्ध मे भी सत्य है।

2. किशोरावस्था में हुई मानसिक वृद्धि को शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था में हुई वृद्धि से पृथक् नही किया जा सकता है।

3. मानसिक विकास व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का ही एक अंग है।

विभिन्न व्यक्तियों में वैयक्तिक भेदो के कारण मानसिक विकास की मात्रा न्यून या अधिक होती है। *जैसा कि ऊपर बताया गया है कि जो तथ्य शारीरिक विकास के साथ* मे हैं, वही मानसिक विकास मे भी पाए जाते है। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली और मेधावी होते हैं, तो कुछ अत्यन्त मन्द बुद्धि एवं मूर्ख। यह भी सत्य है *कि जिस व्यक्ति का उपयुक्त मानसिक विकास नही हुआ है, उसका सामाजिक विकास भी* सभव नही है।

स्किनर के अनुसार मानसिक विकास मे निम्न योग्यताएँ सन्निहित हैं—

1. स्मृति (Memory)
2. कल्पना एवं आलोचनात्मक चिन्तन (Imagination & Critical thinking)
3. भाषा (Language) या शब्द-भण्डार वृद्धि
4. प्रत्यक्षण (Percepts)
5. संप्रत्यय (Concepts)
6. बुद्धि (Intelligence) एवं
7. समस्या समाधायक व्यवहार (Problem-solving-behaviour)

स्मृति मानसिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। इसके अभाव में बुद्धि का कोई अस्तित्व नही है। स्मृति, कल्पना, भाषा, प्रत्यक्षण, संप्रत्यय के सम्बन्ध मे मानसिक

जो कि व्यक्ति लक्ष्य तक पहुँचने अथवा समस्याओं के समाधान हेतु करता रहता है। यह व्यवहार ढाई या तीन वर्ष की आयु से ही आरम्भ हो जाता है। आयु-वृद्धि के साथ-साथ वह अपनी समस्या को अभिव्यक्त कर सकता है तथा उसके समाधान को भी समझा जा सकता है।

मानसिक विकास से सम्बन्धित सभी प्रदत्त सामग्री बुद्धि पर आधारित है। इसका सीधा सम्बन्ध बुद्धि-लब्धि से होता है। अत. यहाँ बुद्धि का विस्तार से विवेचन किया जा रहा है।

बुद्धि का स्वरूप

बुद्धि की परिभाषा विभिन्न लोगो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। उनमें आपस में कोई समनुरूपता नही है। वस्तुतः बुद्धि की उतनी ही परिभाषाएँ है, जितने कि इससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक। किन्तु उन परिभाषाओं मे अन्तर बाह्य हैं, वास्तविक नही। यहाँ कुछ विद्वानो की परिभाषाएँ दी जा रही है—

1. "नवीन मनोशारीरिक सयोगो के आयोजन द्वारा अपेक्षाकृत नवीन परिस्थितियों मे पुनर्व्यवस्थापन की शक्ति ही बुद्धि है।"[1]

2 "उन कार्यो को करने की शक्ति जिनमे कठिनाई, जटिलता, उद्देश्य प्राप्ति की क्षमता, सामाजिक मूल्य एव मौलिकता की अपेक्षा है तथा विशिष्ट परिस्थितियों मे ऐसे कार्य करने की क्षमता, जिनमे शक्ति के केन्द्रीयकरण की एवं सवेगात्मक शक्तियो पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता हो उसे बुद्धि कहते है।"[2]

3 "वास्तविक परिस्थिति के अनुसार अपेक्षित प्रतिक्रिया की योग्यता ही बुद्धि है।"[3]

4 "अमूर्त वस्तुओं के विषय मे सोचने की क्षमता ही बुद्धि है।"[4]

5. "वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने मे तथा भविष्य के सम्बन्ध मे पूर्वाभास करने मे अतीत के अनुभवों से लाभ उठाना ही बुद्धि है।"[5]

---

1. बर्ट, सिरिल : 1909 पृ. 168
   "The power of readjustment to relatively novel situations by organising new phycho-physical combinations."
2. "Studard G.T.: On the meaning of Intelligence" Psychological Review, 1941 Vol. 48 p. 250-260.
   "The ability to undertake activities that are characterised by difficulty, complexity, adaptiveness to a good, social value and the emergence of originals and to maintain such activities under conditions that demanda concentration of energy and a resistance of emotional forces.
3. Thorndike E.L.: "The measurement of Intelligence" 1921 p. 124—"The Power of good response from the point of view of truth or fact".
4. *Terman : "Intelligence-Its measurement". A symposium Journal of Educational Psychology,* 1921 ,P. 124—"The ability to carry out abstract thinking".
5. Gaddard, H. H.: "What is Intelligence ?" Journal of Social Psychology 1946 Vol. 24 p. 68.

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि वशानुगत योग्यता के रूप में बुद्धि तथा बुद्धि परीक्षाओं द्वारा मापी गई बुद्धि मे अन्तर मानना चाहिए। वास्तव में यदि हम बुद्धि के सम्बन्ध में कुछ जानते है तो केवल उसी बुद्धि के सम्बन्ध मे जो कुछ क्रियाओं द्वारा व्यक्त होती है अथवा बुद्धि परीक्षाओं द्वारा प्रदर्शित होती है। इसीलिए थार्नडाइक[1] ने बुद्धि के तीन स्तर या प्रकार बतलाए हैं—

1. अमूर्त बुद्धि (Abstract Intelligence)—पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अपने को व्यवस्थित करने की क्षमता ही अमूर्त बुद्धि है। विद्यालय के वातावरण में बुद्धि परीक्षा सबसे अधिक सफल सिद्ध होती है। इस परीक्षा के द्वारा यह सफलतापूर्वक बताया जा सकता है कि बालक में कौन-कौन सी विशिष्ट योग्यताएँ है। रुझान परीक्षा के द्वारा बालक की रुचि और रुझान के बारे मे हमें लाभदायक जानकारी प्राप्त होती है। अमूर्त बुद्धि स्वय अपने को ज्ञानोपार्जन के प्रति रुझान, पढ़ने-लिखने और शब्दों एवं प्रतीकों के रूप में आने वाली समस्याओं को हल करने के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करती है। यह वह शक्ति है, जो कि शब्दो और प्रतीकों के प्रति प्रभावशाली व्यवहार के रूप में व्यक्त होती हैं। जिस व्यक्ति मे इस प्रकार की बुद्धि होगी वह पाठशाला के ज्ञानोपार्जन के वातावरण में सबसे अधिक सफल होगा।

कोई भी व्यक्ति अमूर्त बुद्धि की कितनी मात्रा से युक्त है, इसकी जानकारी निम्न-लिखित विधि से की जा सकती है—

(क) बौद्धिक कार्यों में आने वाली कठिनाइयों के किस स्तर तक वह कठिन कार्य को कर सकता है।

(ख) समान कठिनाई के विविध बौद्धिक कार्यो की सख्या, जिन्हें वह कर सकता है।

(ग) किस वेग अथवा गति से वह इन कार्यों को पूरा कर सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि अमूर्त बुद्धि त्रिमुखी है। स्तर, क्षेत्र और वेग अथवा गति ही उसके तीन विभिन्न आयाम (dimension) है।

यदि इस अमूर्त बुद्धि मे किसी प्रकार की कमी हो तो इससे यह तात्पर्य नही कि अन्य दो प्रकार की बुद्धि में भी किसी प्रकार की कमी होगी। अमूर्त बुद्धि के कम होने पर भी अन्य-प्रकार की बुद्धि ठीक हो सकती है। बुद्धि की मात्रा विभिन्न व्यक्तियों में उनकी अनुभव करने, समझने और याद करने की शक्ति के अनुसार कम या अधिक होती है। बुद्धि की यह विभिन्नता तर्क मे प्रयुक्त प्रतीकों के सद्प्रयोग के ऊपर भी बहुत कुछ आश्रित होती है।

2. सामाजिक बुद्धि (Social Intelligence)—अपने को समाज के अनुकूल व्यवस्थित करने की योग्यता ही सामाजिक बुद्धि है। यह दूसरे लोगो के साथ प्रभावपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता है। दूसरों के साथ सदाचरण करने, उनसे मिल-जुल कर रहने, उनके साथ विकास के कार्यो मे भाग लेने और सामाजिक कार्यों में रुचि लेने की योग्यता ही सामाजिक बुद्धि है।

---

1. Thorndike E L.: "Intelligence and its Uses", Harpers Magazine 1920 Vol. 140 P. 227-235.

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सामाजिक बुद्धि नितान्त आवश्यक होती है। बहुत से व्यक्ति ऐसे भी देखे जाते हैं जिनमें अमूर्त बुद्धि तो प्रतिभा की सीमा तक होती है, किन्तु सामाजिक बुद्धि के अभाव के कारण वे जीवन की विविध परिस्थितियों में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। फिर भी प्रायः अमूर्त बुद्धि और सामाजिक बुद्धि का विकास साथ-साथ ही होता है।

3. गामक अथवा यान्त्रिक बुद्धि (Mechanical Intelligence)—यह यन्त्रों और मशीनों के साथ अनुकूलन की योग्यता है। इसके होने से व्यक्ति एक कुशल कारीगर, मिस्त्री, चालक अथवा दक्ष इंजीनियर हो सकता है। यह ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति उन परिस्थितियों में जिनका सम्बन्ध यन्त्रों अथवा भौतिक पदार्थों से होता है, अपने को सुव्यवस्थित कर लेता है। एक बालक जिसमें अपनी साइकिल ठीक करने, घड़ी को स्वयं बना लेने, यांत्रिक औजारों के ठीक-ठीक प्रयोग करने की क्षमता है, उसके लिए यह कहा जाएगा कि उसमें यान्त्रिक बुद्धि है।

विभिन्न व्यक्तियों में उनकी गामक बुद्धि मे भी अन्तर पाया जाता है। कोई व्यक्ति छोटे से औजार को भी ठीक नही कर सकता, थोड़ी सी साइकिल बिगड़ गई, उन्हें पता ही नहीं, क्या खराबी है। साइकिल वाले की दुकान पर लिए चले जा रहे है। दूसरा व्यक्ति अपने घर की बिजली सम्बन्धी खराबी स्वयं ठीक कर लेता है, साइकिल, घड़ी, मोटर आदि भी ठीक कर लेता है। हालांकि यह क्षमता अभ्यास के द्वारा बढाई भी जा सकती है, किन्तु बहुत से लोग लम्बे अभ्यास के उपरान्त भी कुशल कारीगर, मिस्त्री एव इंजीनियर नहीं बन पाते है जबकि दूसरे व्यक्ति थोड़े ही अभ्यास से यान्त्रिक कामों मे दक्ष हो जाते है। जिन व्यक्तियों मे गामक बुद्धि का विकास कम होता है, वे खेलों और अन्य शारीरिक कार्यों में भी कुशलतापूर्वक भाग नही ले सकते तथा हीन और दब्बू प्रकृति के होते है।

बुद्धि परीक्षा का इतिहास

बुद्धि मापने की सर्वाधिक उपयुक्त प्रविधि, जो आज अपनाई जाती है, उसका यह स्वरूप अनेक परीक्षणों के पश्चात् विकसित हुआ है। व्यक्ति की बुद्धि मापने की प्रविधियों का विकास प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की परीक्षण शालाओं में ही हुआ है। यूरोप मे वुन्ट महोदय ने, अमेरिका मे कैटेल ने, इंगलैण्ड मे डार्विन, स्पेन्सर और गॉल्टन ने इस दिशा मे कार्य किए। इस दिशा में सबसे उल्लेखनीय कार्य फ्रांस में हुआ। वहाँ के शिक्षा अधिकारियों के सम्मुख एक जटिल समस्या थी कि बालक असफल क्यों हो जाते हैं—इसका कारण आलस्य है अथवा योग्यता का अभाव। यदि योग्यता का अभाव है, तो उसका मापन किस प्रकार हो, ताकि उसी के अनुसार विशिष्ट शिक्षा का प्रबन्ध किया जाए। बिने तथा साइमन ने इस दिशा मे प्रयत्न किए। उनका विचार था कि बालक मे आयु-वृद्धि के साथ-साथ ज्ञान-वृद्धि भी होती है। यदि एक निश्चित आयु के लिए तैयार की गई प्रश्न-माला का उत्तर व्यक्ति नही दे सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह मन्द-बुद्धि है। वे उच्च मानसिक प्रक्रियाओं की परीक्षा करना चाहते थे। उन्होंने लिखा भी है—"यह केवल बुद्धि ही है, जिसे हम मापना चाहते हैं; व्यक्ति द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षा अथवा विद्या की माप हम नही चाहते।" समय के अनुसार बिने साइमन द्वारा तैयार परीक्षाओं मे संशोधन होता गया। ये परीक्षाएँ वैयक्तिक व सामूहिक दोनों ही प्रकार की होती हैं। इनको मौखिक

रूप से भी लिया जाता है तथा क्रियात्मक रूप से भी। भारत मे भी अब बुद्धि-परीक्षा के महत्व को समझा जाने लगा है। अमेरिका व यूरोप मे तैयार की गई परीक्षा भारतीय परिस्थितियों में अपनाई जानी कठिन थी अतः उन्हें परिनिष्ठित किया गया। इस सम्बन्ध में डॉ० भाटिया की कार्यात्मक परख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

मानसिक आयु और बुद्धिलब्धि

मानसिक आयु—मानसिक आयु किसी व्यक्ति के द्वारा प्राप्त विकास की वह अभिव्यक्ति है, जो उसके कार्यों द्वारा जानी जाती है तथा किसी आयु विशेष में उसकी अपेक्षा होती है। इससे तात्पर्य यह है कि यदि किसी बालक की मानसिक आयु 8 वर्ष बतलाई गई है तो वह परीक्षा के अनुसार अपनी 8 वर्ष की आयु के ही सामान्य बालकों के समान कार्य करने मे सफलता प्राप्त करे। इस प्रकार मानसिक आयु किसी विशिष्ट उम्र मे उसकी मानसिक परिपक्वता को बतलाती है कि बालक अपनी वास्तविक आयु पर मानसिक दृष्टि से कितना प्रौढ़ हुआ है।

बुद्धिलब्धि (Intelligence Quotient, I.Q.)

प्रत्येक व्यक्ति के पास बुद्धि की एक निश्चित मात्रा होती है। व्यक्ति के पास उपलब्ध बुद्धि की मात्रा को बताने वाली संख्या बुद्धिलब्धि कहलाती है। इसे निम्न सूत्र से निकाला जाता है—

$$IQ = \frac{M.A. \times 100}{C.A.} \qquad \text{बुद्धिलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु} \times 100}{\text{काल-क्रमिक आयु}}$$

उदाहरण के लिए किसी बालक की काल-क्रमिक आयु 14 वर्ष है तथा बुद्धि परीक्षण के आधार पर उसकी 'मानसिक' आयु 16 वर्ष आती है तो उसकी बुद्धिलब्धि उपरोक्त सूत्र के अनुसार निम्न प्रकार होगी—

$$\text{बुद्धिलब्धि} = \frac{\text{मा. आ} \times 100}{\text{काल-क्रमिक आयु}} = \frac{16 \times 100}{14} = 114$$

दशमलव के भाग को पूर्णांक बनाने के लिए, सुविधा की दृष्टि से 100 से गुणा कर दिया जाता है।

बुद्धिलब्धि किसी भी बालक की मानसिक योग्यता को दर्शाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि बालक का आयु के साथ-साथ मानसिक विकास किस मात्रा मे हुआ है अर्थात् उसमें कितनी प्रतिभा है। आई क्यू. तुलनात्मक या सापेक्ष स्थिति का सूचक मात्र होता है। एक उच्च आई. क्यू. का अर्थ है कि बालक अपनी आयु-समूह के अन्य बालको की तुलना में अच्छा कार्य कर रहा है। एक निम्न आई. क्यू. का अर्थ है कि बालक अपनी आयु-समूह के अन्य बालकों की तुलना मे उत्तम कार्य नही कर रहा है।

बुद्धि के कारक सिद्धान्त (Factor Theories)

बुद्धि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण उनके स्वीकृत आधारभूत तत्त्वो की संख्या के अनुसार किया गया है। इस आधार पर बुद्धि के निम्न चार सिद्धान्त हैं—

1. **एक कारक सिद्धान्त (Unifactor theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि अपने में पूर्ण है, एक अविभाज्य इकाई है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण बुद्धि एक समय

में सक्रिय होकर एक ही प्रकार का कार्य सम्पन्न करती है किन्तु इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि योग्यता की विभिन्न परीक्षाओं में कोई भी पूर्ण सह-सम्बन्ध नहीं होता है। पृथक्-पृथक् प्रकार की मानसिक योग्यताओं के लिए पृथक् प्रकार की बुद्धि परीक्षा ली जाती है।

2. द्वि-कारक सिद्धान्त (Two factor Theory)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक स्पीयर मैन थे। इसके अनुसार बुद्धि दो भागों—सामान्य बुद्धि (G) तथा विशिष्ट बुद्धि (S) से मिलकर बनी है। सामान्य बुद्धि सामान्य कार्य करती है परन्तु किसी विशिष्ट कार्य यथा कला-कौशल, शिल्प-कौशल आदि के लिए विशिष्ट बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। (G–general, S–special)।

3 त्रि-कारक सिद्धान्त (Three-factor-theory)—स्पीयर मैन ने आगे चलकर G और S कारकों के साथ एक समूह कारक को और जोड़ दिया। यह सामान्य बुद्धि और विशिष्ट बुद्धि के मध्य एक सर्वतोमुखी योग्यता होती है। यह सामान्य और विशिष्ट दोनों कारकों के बीच की खाई पाट देती है।

4. बहु-कारक सिद्धान्त (Multiple-factor-theory)—यह सिद्धान्त विस्तृत सांख्यिकीय विश्लेषण पर आधारित है। थर्स्टन[1] ने अपने शिष्यों की सहायता से गणित के आधार पर व्यक्ति के सहस्त्र गुणों के पृथक्करण और मापने की विधि निकाली। उनके अनुसार बुद्धि 9 प्रारम्भिक मानसिक योग्यताओं से मिलकर बनी होती है। वे इस प्रकार हैं—

(1) दृष्टि अथवा दैशिक योग्यता (Visual ability),
(2) प्रत्यक्ष ज्ञान योग्यता (Perceptual ability),
(3) सख्यात्मक योग्यता (Numerical ability),
(4) तार्किक अथवा शाब्दिक योग्यता (Logical or verbal ability),
(5) शब्द प्रयोग में धारा प्रवाहिता (Fluency with words),
(6) स्मृति (Memory),
(7) आगमनात्मक योग्यता (Inductive ability),
(8) निगमनात्मक योग्यता (Deductive ability) तथा
(9) समस्या समाधान पर नियन्त्रण की योग्यता (Ability to restrict the solution of a problem)।

अत थर्स्टन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि बुद्धि अनेक प्रकार की होती है या इसके अनेक कारक होते है। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई सहमति नही हो सकी है कि कारक क्या हैं तथा उनकी संख्या कितनी है। इस क्षेत्र में जुटे अनुसन्धानकर्त्ताओं यथा जे० ओ० कोनर[2], जे. जे डेम्पस्टर[3], जे. ई. डोपेल्ट आदि ने कारकों का अपने ढंग से विश्लेषण किया है और सख्या बतलाई है।

---

1. थर्सटन, आई. एल. "प्राइमरी एबीलिटीज् आकूपेशन्स", 1949, 27 : 527.
2. कोनर, जे. ओ., "द यूनिक इन्डीविजुअल", ह्यूमन इन्जीनियरिंग, लेबोरेटरी, बोस्टन 1948 पृ. 249.
3 डेम्पस्टर, जे. जे., "एन इन्वेस्टीगेशन इन टू द यूज ऑफ एस्टीमेटेड फेक्टर स्कोर्स इन डिसकार्डिंग एण्ड कम्पेगरिंग ग्रुप्स ऑफ सैकण्ड्री एण्ड सीनियर स्कूल बॉयज ऑफ इलेवन प्लस" लन्दन 1944.

वंशानुगत तथा मानसिक योग्यता

अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य की सामान्य योग्यता अथवा बुद्धि वंशानुगत होती है। वातावरण इस जन्मजात शक्ति के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करता है। वातावरण व्यक्ति में योग्यता उत्पन्न नही कर सकता। इस सम्बन्ध में निम्न विधियों का प्रयोग किया है—

1 **सह-सम्बन्ध प्रविधि** (The correlational technique)—इस प्रविधि मे *विभिन्न व्यक्तियों के समूह की बुद्धिपरीक्षा द्वारा उनके सह-सम्बन्ध* और उनके *रक्त सम्बन्ध* की विभिन्न मात्रा का आकलन किया जाता है। इन परीक्षणों से यह सिद्ध होता है कि मानसिक और शारीरिक विषमताएँ सदैव आगामी पीढी में संक्रमित होती है।

2. **परिवार-इतिहास अध्ययन** (Family history studies)—गोडार्ड, गोल्टन नन आदि मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि के संक्रमण की सम्यक् जानकारी के लिए क्रमश. कालीकॉक, ज्यूकस एवं एडवर्ड परिवार का इतिहासपरक अध्ययन किया। कालीकॉक एक सामान्य कोटि का सिपाही था। युद्धकाल मे एक निम्नकोटि की महिला से उसका सम्बन्ध हो गया। उससे उसके सन्तानें उत्पन्न हुई। युद्धोपरान्त उसने एक सम्भ्रान्त परिवार की श्रेष्ठ महिला से विवाह किया। इस प्रकार कालीकॉक के परिवार का सूत्रपात दो विभिन्न श्रेणी की महिलाओं-मन्दबुद्धि और प्रतिभाशाली से हुआ। प्रथम मन्दबुद्धि व निम्नकोटि महिला से उत्पन्न वशजो की संख्या 480 थी। उनके अध्ययन से पता चला कि उनमें 143 मन्दबुद्धि, 46 सामान्य, 36 अवैध सन्तानें, 33 वेश्याएँ, 24 शराबी, 3 मिरगी के रोगी तथा 3 जघन्य अपराधी थे। दूसरी पत्नी से उत्पन्न वशजों में 496 व्यक्ति हुए। इनमे से 491 सामान्य अथवा प्रतिभाशाली थे, केवल 5 व्यक्ति मन्दबुद्धि एवं दुराचारी निकले।

3. **यमजेक-नियंत्रण-पद्धति** (Co-twin control procedure)—इस पद्धति का प्रयोग गैसेल ने किया। उन्होंने पाया कि समरूप यमजो में शारीरिक और मानसिक गुणो मे बहुत अधिक समरूपता एवं सादृश्य होता है।

4. **पोष्य बालकों पर प्रयोग** (Foster children experiment)—इस सम्बन्ध मे न्यूमैन, फ्रीमैन एवं हाल्जिंगर के अध्ययन उल्लेखनीय है। उन्होंने समरूप यमजों के जोड़ों को भिन्न वातावरण मे पाला तथा प्रौढ़ होने पर उनका अध्ययन किया। इन अध्ययनो से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि व्यक्ति के ऊपर सामाजिक और शैक्षिक परिस्थितियों का तो प्रभाव पड़ता है परन्तु वातावरण जन्मजात योग्यता बुद्धि में कोई अन्तर नही ला सकता।

बुद्धिलब्धि पर वातावरण का प्रभाव

यह सिद्ध करना कठिन नही है कि व्यक्ति के परीक्षण प्राप्तांक, उस संस्कृति से, जिसमें कि व्यक्ति रहा है तथा उन अनुभवों से, जो कि परीक्षण के समय तक व्यक्ति को प्राप्त हुए है, मे प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि पोलीनीशिया के बालक सुन्दरता में अन्तर नही कर सकते क्योंकि उन लोगों की धारणा के अनुसार सुन्दरता उन लोगो के लिए अपरिचित भाव है। वे ऊँचा या अच्छा उसे मानते है, जो उच्च वर्ग से सम्बन्धित है जबकि अंग्रेजी संस्कृति में पलकर बड़े हुए किशोर इस प्रकार के परीक्षण को सरलता से

कर लेते हैं। इसी प्रकार भारतीय बालकों को यदि मनुष्य का चित्र खींचने को कहा जाता है, तो यूरोपीय बालकों की तुलना में उनका प्राप्तांक कम होगा लेकिन यदि उन्हीं बालकों को घोड़े का चित्र खींचने को कहा जाये तो उनका प्राप्तांक अधिक होगा। देहाती बालकों के भी प्राप्तांक नगरीय बालकों की तुलना मे कम होते हैं। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह है कि वे द्रुत गति से कार्य नही करते। दूसरा यह है कि आम तौर पर बुद्धि परीक्षण शहरी अनुभवों पर आधारित होते है। बिने परीक्षण में दिए गए एक प्रश्न को जिसमें कि गेंद को मैदान मे ढूँढने की बात हैं, देहाती बालक कठिनाई से समझ पाएँगे, क्योंकि उनके मस्तिष्क मे तो मैदान से तात्पर्य खेती करने, मेढ बनाने आदि का स्थान है। इसके अतिरिक्त शहरी बालकों के लिए इन परीक्षणों मे कोई नवीनता नही होती, वे तो इस प्रकार के परीक्षण देखते ही रहते हैं, अत. परीक्षण सामने आते ही उत्तर लिखना शुरू कर देते हैं परन्तु देहाती बालकों के लिए उनमें नवीनता होती है अतः उनका कुछ समय उनकी जाँच परख मे ही व्यय हो जाता है।

हाल ही मे किए गए एक अध्ययन मे तीन प्रकार के सह-सम्बन्धो को ध्यान मे रखते हुए परीक्षण किए गए—

1 बालकों की बुद्धिलब्धि एवं उनके माता-पिता का शैक्षिक स्तर
2. दत्तक बालकों की बुद्धिलब्धि एवं उनके प्रकृत माता-पिता का शैक्षिक स्तर
3. दत्तक बालकों की बुद्धिलब्धि एव उनके दत्तक माता-पिता का शैक्षिक स्तर

बालकों की भिन्न-भिन्न आयु में ये परीक्षण किए गए। इन अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि बालक अपने प्रकृत माता-पिता पर अधिक जाते है। दत्तक माता-पिता से तो उनका सम्बन्ध शून्य ही रहता है।[1]

प्राचीनकाल से मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि व्यक्ति के पास उतनी ही बुद्धि होती है, जितनी कि उसको वशानुगतता से प्राप्त होती है, सम्पूर्ण वातावरण तो केवल उसकी उद्दीप्तता को बढ़ा या घटा सकता है। इस प्रकार वशानुगतता का कारक वातावरण को पीछे धकेल देता है।

मानसिक वृद्धि (Mental growth)

मानसिक वृद्धि के सम्बन्ध मे दत्त-सामग्री (data) व्यक्ति या व्यक्ति समूह पर कई वर्षों तक बुद्धि परीक्षणों के पश्चात् उपलब्ध होती है। फ्रीमैन एवं फ्लोरी ने शिकागो वृद्धि अध्ययन के आधार पर अपनी रिपोर्ट दी। इसमें सैकड़ों बालकों की लगातार कई वर्षों तक बुद्धि परीक्षा ली गई। इन बालकों का बार-बार परीक्षण लिया गया। चार मानकीकृत परीक्षणों (standarized tests) का सम्मिश्रित रूप प्रयोग में लाया गया। ये चार मानकीकृत परीक्षण निम्नांकित थे—

(अ) शब्द भण्डार परीक्षण (Vocabulary test)
(ब) सादृश्य परीक्षण (Analogy test)

---

1. हान्जिक एम. पी. "डेवलपमेन्टल स्टीज ऑफ पेरेन्ट—चाइल्ड रिजेम्बलेंस इन इन्टेलिजेन्स" 28 : 215-225, 1957.

(स) समापन परीक्षण (Completion test)

(द) विलोम परीक्षण (Opposites test)

मूल प्राप्तांक के आधार पर खीचे गए वृद्धि वक्रों से ज्ञात होता है कि मानसिक विकास 17 या 18 वर्ष तक की आयु तक होता रहता है। इनसे यह भी पता चलता है कि औसत योग्यता के बालकों मे बौद्धिक वृद्धि प्रतिभाशाली की अपेक्षा अधिक समय तक होती रहती है।

यदि किसी बालक का मानसिक विकास मन्द गति से होता है तो इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाना चाहिए कि उसकी बुद्धि भी मन्द है। न ही यह सोचना चाहिए कि यदि उसका विकास तेजी से होता है तो वह तीव्र बुद्धि है। बालकों मे वृद्धि एवं विकास के भिन्न निर्धारक हैं। हो सकता है कि एक प्रतिभाशाली बालक आरम्भ में मन्द गति से चले, जबकि एक मन्द बुद्धि बालक आरम्भ में प्रभावकारी गति रखे। एक ही कालिक आयु के बालक अपनी परिपक्वता की आयु में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। श्रेष्ठ, औसत व मूढ बालको का मानसिक विकास वृद्धि सर्वेक्षणों की अनुरूपता सिद्ध करता है।

मानसिक वृद्धि का सातत्य (Constancy of mental growth)

अनुकूल शैक्षिक वातावरण का व्यक्ति की बुद्धिलब्धि पर क्या प्रभाव पडता है, इसे भली भाँति जानने के लिए इस दिशा मे बहुत से विद्वानों ने कार्य किया है। उन्होने यह भी खोज करने का प्रयास किया कि सामान्य वातावरण का बुद्धिलब्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है। इन सभी अध्ययनों के आधार पर विद्वान् लोग इस निष्कर्ष पर आए कि उपयुक्त शैक्षिक वातावरण से बुद्धिलब्धि में थोड़ी धनात्मक वृद्धि होने की सम्भावना होती है, जैसे किसी बालक की बुद्धिलब्धि 110 है तो उसे उपयुक्त वातावरण और अनुकूल प्रशिक्षण से 115 तक बढ़ाया जा सकता है।

यह भी देखा गया है कि बुद्धि परीक्षा की विभिन्न परीक्षा विधियो द्वारा एक ही व्यक्ति की विभिन्न बुद्धिलब्धि आती है। अतः अध्यापक को पहले से यह विचार नही कर लेना चाहिए कि एक बालक की बुद्धिलब्धि की मात्रा सभी बुद्धि-परीक्षाओं के परिणामस्वरूप समान होगी। तथा एक ही बुद्धि परीक्षा विधि के दोहराने से यह भी आवश्यक नही कि समान निष्कर्ष ही आएँ। परीक्षाओं के आधार पर यह भी देखा गया है कि व्यक्ति के विद्यालय जीवन में यदि प्रारम्भ से ही शैक्षिक वातावरण अच्छा है तो उसके बुद्धि निष्कर्षों में अवश्य ही शीघ्र परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन बुद्धि के उत्तरोत्तर विकास की दिशा में होता है। कॉलेज के विद्यार्थियों मे बुद्धि परीक्षा प्राप्तांक की भी अभिवृद्धि पाई जाती है।

बहुत से विद्वानों के अनुसन्धानो के आधार पर यह पूर्णतः सिद्ध हो चुका है कि विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक योग्यताओं के विकास की गति में अन्तर होता है। उनमे विभिन्न मात्राओं मे वृद्धि होती है। हॉरजाइक (Horzike) महोदय ने इस दिशा में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया। उन्होंने 21 मास के बालकों से लेकर 72 मास के बालको तक का अध्ययन किया। फ्रीमैन और फ्लोरे ने 8 वर्ष से 17 वर्ष तक के बालकों का अध्ययन और वेलमैन ने विद्यालय अवस्था के प्रथम से लेकर कॉलेज अवस्था तक का

अध्ययन किया। इनका मत है कि विभिन्न बालकों में मानसिक विकास विभिन्न गति और मात्रा में होता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने वातावरण, बालक और उसके विकास का सम्यक् अध्ययन कर यह देखा कि अनुपयुक्त वातावरण बालक के मानसिक विकास में बाधा डालता है और उनकी अभिवृद्धि की गति को धीमी बना देता है। यही कारण है कि शिक्षित परिवार में उत्पन्न बालकों को यदि उपयुक्त वातावरण में नहीं रखा गया और उन्हें समुचित शिक्षा नहीं मिली तो उनकी बुद्धि-वृद्धि रुक जाती है और अशिक्षित कुल में उत्पन्न होने पर भी उचित वातावरण मिलने से उनकी बुद्धि में अधिक विकास होता है। इस दिशा में अनेक विशेष अध्ययन किए गए हैं, जिनमें अशर का केन्टुकी गिरि बालकों का अध्ययन, (1935) (Asher's study of Kentucky mountain child), शरमैन और के महोदय का "अलग-अलग रहते हुए ही पहाड़ी बालकों का अध्ययन (1933)" (Isolated mountain children) और व्हीलर का ईस्ट टेनेमी बालकों का अध्ययन आदि उल्लेखनीय हैं।

उपरोक्त अध्ययनों से यह सिद्ध होता है कि बुद्धिलब्धि परिवर्तनीय है किन्तु सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके परिवर्तन का यह क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। एक व्यक्ति की बुद्धिलब्धि उसकी आयु वृद्धि के साथ बढ़ भी सकती है और घट भी सकती है किन्तु उसके विकास या ह्रास की मात्रा में जो परिवर्तन होगा वह बहुत थोड़ी सीमा तक होगा। अत. हम कह सकते हैं कि बुद्धिलब्धि लगभग स्थिर रहती है उसमें परिवर्तन अधिक से अधिक 10 अंक तक हो सकता है। चाहे स्वस्थ वातावरण से वह 10 अंक अधिक बढ़ जाए, चाहे दूषित वातावरण से 10 अंक घट जाए। इससे अधिक परिवर्तन की संभावना नहीं।

यदि बालकों की बुद्धिलब्धि में कुछ समय उपरान्त तक बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है तो बुद्धि परीक्षा की विधि में कोई त्रुटि अवश्य होगी। परीक्षा स्वयं या तो अविश्वसनीय होगी या परीक्षक अयोग्य होगा। अथवा बालक क्लान्त, भयभीत या अविरोधी होगा। कभी-कभी उन व्यक्तियों की बुद्धिलब्धियों में बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है जो पहले शारीरिक दोषों से ग्रसित थे किन्तु उन्हें अब मुक्ति मिल गई। यह दोष जैसे बहरापन, गूँगापन अथवा अन्धता आदि हैं।

बालक की प्रारम्भिक आयु में प्राप्त परीक्षण-प्राप्तांकों के आधार पर उसकी बुद्धिलब्धि के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना उचित नहीं है। इसका मुख्य कारण जैसाकि अन्डरसन ने बताया है, पूर्व विद्यालयी बालकों के लिए बुद्धि मापक उचित परीक्षणों का अभाव है।

किशोर काल में मानसिक वृद्धि के सम्बन्ध में किए गए अध्ययनों के आधार पर विभिन्न वक्र खींचे गए हैं। उन सभी में कुछ बातें समान हैं। पहला कारक जो समान है वह यह है कि किशोर काल में बुद्धि-वृद्धि में बाल्यकाल की अपेक्षा अधिक सातत्य होता है। इसके निम्न कारण हैं—

1 बाल्यकाल की तुलना में किशोरकाल में व्यक्ति को अधिक स्थिर वातावरण उपलब्ध होता है।

2. किशोरावस्था में प्रयुक्त परीक्षणों की प्रकृति
3. किशोरावस्था में प्रयुक्त परीक्षणों की जटिलता में वृद्धि
4. किशोरावस्था में किए गए परीक्षणों के सातत्य में वृद्धि

दूसरा कारक यह है कि किशोरावस्था में वृद्धि की दर घट जाती है। यौवनारम्भ के साथ भी शारीरिक एवं मानसिक वृद्धि वक्रों में एक तीव्र उठान आता है। जो कारक शारीरिक वृद्धि को प्रभावित करते है, वही मानसिक वृद्धि को भी प्रभावित करते हैं।

मानसिक वृद्धि की समापन आयु

वुद्धि की वृद्धि किस आयु पर आकर रुक जाती है, इस सम्बन्ध में वालक और किशोर विकास के अनुसंधाताओं ने अनेक अध्ययन किए हैं। प्रारम्भिक अनुसन्धानकर्त्ताओं के अनुसार मानसिक वृद्धि की सीमा तेरह से सोलह वर्ष की आयु के मध्य कही होती है। बाद के अनुसन्धानकर्ताओं ने इस आयु को क्रमशः बीस वर्ष तक ला दिया है। जोन्स एवं कोनार्ड के अध्ययन इस कथन की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार प्रारम्भिक वर्षों में मानसिक वृद्धि की गति तेज होती है। फिर सोलह वर्ष की आयु तक यह क्रमशः कम होती जाती है। उसके बाद इसमे निरन्तर कमी आती जाती है, जो उन्नीस या बीस वर्ष की आयु के बीच बिल्कुल ही रुक जाती है। वुद्धि के विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचने से यह तात्पर्य नहीं है कि बीस वर्ष की आयु के पश्चात् बौद्धिक वृद्धि बिल्कुल ही समाप्त हो जाती है। थार्नडाइक[1] के अनुसार यह योग्यता इसके बाद भी बढ सकती है। मानसिक वृद्धि की समापन आयु के सम्बन्ध में अभी कोई अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है परन्तु सभी अध्ययन इस बात पर सहमत हैं कि किशोरावस्था के पश्चात् भी लिखित परीक्षणों के प्राप्तांकों में वृद्धि होती रहती है। वस्तुतः बाद में वुद्धि नही बढ़ती। ज्ञान एक अर्जित शक्ति है जो वुद्धि नहीं है। वुद्धि तो वह जन्मजात योग्यता है, जिसके द्वारा व्यक्ति किसी भी समस्या को हल करने के संभव साधनों को अपनी क्षमता के अनुसार जुटाता है, उसे हल करता है और अपने को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करता है।

वैयक्तिक मानसिक योग्यताओं का विकास

प्राचीन काल में यह एक सर्वमान्य सत्य था कि मन अनेक क्षेत्रों मे विभाजित है, जो कि मस्तिष्क में स्थित रहते हैं। मस्तिष्क कई कार्यों को स्वतन्त्र रूप से कर सकता था तथा इनको इसी प्रकार सिखाया भी जा सकता था परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप ये मान्यताएँ भ्रान्ति मूलक सिद्ध हो चुकी हैं। हाँ कल्पना तथा तर्क सम्बन्धी क्षेत्र अब भी प्रचलित है। वुद्धि के अनेक विशिष्ट खण्ड हैं यथा स्मृति, कल्पना, सुझाव, तर्क आदि परन्तु ये सब पृथक् रूप से कार्य नही करते हैं। वास्तव मे ये समस्त योग्यताएँ किसी एक अकेले खण्ड की अपेक्षा कुल वुद्धि से सम्बन्धित होती है।

1. स्मृति (Memory)—कुछ लोगो के अनुसार बाल्यावस्था स्मृति के लिए सुनहरा समय है जबकि प्रौढ़ावस्था तर्क के लिए। भिन्न मानसिक कार्यों के अध्ययन से पता चलता है कि स्मृति, तर्क-शक्ति, आलोचनात्मक चिन्तन, व्याख्यात्मक योग्यता व अन्य मानसिक

---

1. आर०एल० थार्नडाइक, "ग्रोथ इन इन्टेलिजेन्स ड्यूरिंग एडोलेसेन्स" जर्नल ऑफ जैनेटिक साइकोलोजी, 1948 अंक 72 पृ० 11-15

कार्यों की व्यवस्थित रूप से वृद्धि होती है। इन कार्यों की वृद्धि भी सतत है, जो कि प्रारम्भिक आयु से शुरू होकर परिपक्वता तक चलती है परन्तु स्मृति के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या धारणाएँ हो गई हैं। इसके कई कारण हैं। प्रथम कारण यह है कि बालकों को जो भी याद करना होता है, उसे वे यन्त्रवत् याद कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में वे प्रौढ़ों से आगे रहते हैं। दूसरी बात यह है कि बालकों में समझ व साहचर्य का विस्तार नहीं हुआ होता है, अतः अर्थपूर्ण स्थितियों में भी वे अटकते नहीं हैं और यन्त्रवत् याद किए चले जाते हैं। बालक की मानसिक गतिविधियाँ अधिक सीमित होती हैं अतः कुछ सामग्री को याद करने पर वे अधिक से अधिक समय दे सकते हैं। स्मृति-योग्यता के लिए खींचा गया विकासात्मक वक्र अन्य मानसिक योग्यताओं के वक्र से मिलता जुलता ही होता है। ये वक्र बताते हैं कि स्मृति-योग्यता में आयु तथा अनुभवों के साथ-साथ वृद्धि होती है।

कविता तथा अर्थहीन अक्षरों को याद करने में आयु के प्रभाव के सम्बन्ध में स्ट्राइड तथा मॉल[1] ने अध्ययन किया था। दोनों ही प्रकार के स्मृति वक्र प्रकृति में समान थे। इन वक्रों से पता चलता है कि आयु के साथ-साथ स्मृति योग्यता में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। स्मृति-योग्यता व मानसिक आयु के बीच में घनिष्ठ सह सम्बन्ध है।

2 शब्द भण्डार वृद्धि (Vocabulary growth)—टर्मन, थार्नडाइक एवं अन्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा किए गए अध्ययन बताते हैं कि बाल्यावस्था से किशोरावस्था के बीच *शब्द-भण्डार के आकार में निरन्तर व सतत वृद्धि होती है।* शब्द-भण्डार के गुणात्मक पहलू पर किए गए अध्ययन बतलाते हैं कि शब्दों की परिभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी वृद्धि होती है। किशोरावस्था में शब्द-भण्डार के सम्बन्ध में निदर्शन एवं दृष्टान्त की अनुक्रिया में उतार आता है। और उसके स्थान पर विलोम एवं पर्यायवाची शब्दों में वृद्धि होती है।

3. संप्रत्य एवं सम्बन्ध की अवधारणा में वृद्धि (Growth of concepts of causal relations)—मानसिक विकास की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं *तथा वर्द्धमान किशोर की कारण-सम्बन्ध* बोध (causal relations) की योग्यता में भी वृद्धि होती है। उस वृद्धि का शैक्षिक वृद्धि से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि कक्षा 6 अथवा 7 के विद्यार्थी किसी समस्या को अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं तथा उसका युक्ति सगत उपायों से समाधान भी करते हैं परन्तु छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों में इस क्षमता का अभाव होता है।

कल्पना एवं आलोचनात्मक चिन्तन

कल्पना एवं आलोचनात्मक चिन्तन (Imagination & critical thinking) को मापने के साधन एवं तकनीकों का अभाव है। इस कारण इन मानसिक कार्यों के विकास का अध्ययन करना कठिन है। तो भी अध्यापकों एवं माता-पिता को आयु के साथ बढ़ती कल्पना सम्बन्धी योग्यता का आभास हो ही जाता है। किशोर की कल्पना उसकी कविताओं, कहानियों, आरेखन एवं चित्रण, संगीत व अन्य रचनात्मक क्रियाओं में अभिव्यक्त होती है।

1. स्ट्राइड जे. बी. तथा मॉल पी. "द इन्फ्लूएंस आफ एज अपोन लर्निंग एण्ड रिटेन्शन आफ पोयट्री एण्ड नानसेन्स सिलेबल्स': जर्नल आफ जैनेटिक साइकोलोजी, 1933 अंक 42 पृ. 242–250,

वर्नन[1] की मान्यता है कि 11 वर्ष की आयु से पहले बालक चित्र-कथाओं को समझने एवं उनकी व्याख्या करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होता है। उसकी कल्पना परिपक्वता को नहीं प्राप्त होती है। प्राक्किशोर द्वारा दी गई व्याख्या में मानसिक विकास की कमी के अतिरिक्त विगत अनुभवों का भी अभाव होता है। परन्तु आयु विकास के साथ अनुभवों में वृद्धि एवं मानसिक विकास होने से उसी चित्र कथा की व्याख्या अधिक स्पष्ट एवं सुन्दर हो जाती है।

आलोचनात्मक चिन्तन को मापने के लिए भी अनेक परीक्षण तैयार किए गए हैं। 1950 में सैन फ्रांसिस्को खाड़ी क्षेत्रों के कक्षा 10, 11 एवं 12 के लगभग 1100 छात्रों को ये परीक्षण दिए गए। इन परीक्षणों के भिन्न-भिन्न भागों के लिए लड़के लड़कियों के प्राप्तांकों में भी अन्तर था। इससे यह निर्देशन प्राप्त होता है कि जिस कौशल का उनमें अभाव है, वे सिखाए जाने चाहिए। साधारणतः सभी विद्यालय इसे अपना दायित्व समझते हैं कि वे *किशोर की आलोचनात्मक चिन्तन की योग्यता में वृद्धि करें।* इसके लिए अनिवार्य है कि वे समस्या को पहचानना सीखें तथा उसके समाधान की ठोस विधियाँ खोजना सीखें। इससे यह अर्थ निकलता है कि आलोचनात्मक चिन्तन के लिए ज्ञान अथवा सूचना अनिवार्य है। किशोर में आलोचनात्मक चिन्तन करने की योग्यता के अभाव के लिए निम्न या निम्न में से कोई एक कारण हो सकता है—

1. समस्या को समझने में असफल रहना,
2. समस्या के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचना का अभाव,
3. समस्या से सम्बन्धित सामग्री के संयोजन की अनुपयुक्त विधि।
4. समस्या समाधान की ओर अपनाई गई अभिवृत्ति

अन्तर्दृष्टि एवं व्याख्याएँ (Insight and interpretations)

साहित्यिक व्याख्याएँ करने की योग्यता के परीक्षण के लिए कई विधियाँ अपनाई गई हैं। एक विधि में बालकों को एक सरल कविता दे दी जाती है। साथ ही उसके पाँच कथन होते हैं। बालक को कविता पर आधारित प्रश्न का सही उत्तर का चयन इन्हीं पाँच कथनों में से करना होता है। निम्न कविता की कक्षा छह के तीन चौथाई विद्यार्थियों ने सही व्याख्या की—

> आह वह हरी सेव
> मैंने एक छोटी सेव खाई,
> उसका स्वाद अच्छा था, फिर भी
> मैं चाहता हूँ कि वह छोटी सेव
> और मैं कभी नहीं मिले होते।

प्रश्न : वह क्यों चाहता है कि सेव उसे कभी नहीं मिले होते?

1. हरी सेव ने उसे लुभा लिया
2. हरी सेव खट्टी थी

1. एम. डी. वर्नन, "द डेवेलपमेन्ट ऑफ इमेजिनेटिव कन्स्ट्रक्शन इन चिल्ड्रन", ब्रिटिश जर्नल ऑफ साइकोलोजी, 1948 अंक 39 पृ. 102-111

3. सेव में कीड़े पड़े हुए थे
4. यह भूखा नही था
5. क्योंकि हरी सेव बालकों के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं है ।[1]

इस योग्यता के परीक्षण के लिए कार्टून्स की व्याख्या भी करवाई जाती है। इन विभिन्न परीक्षणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आयु की वृद्धि के साथ-साथ व्याख्याओं एवं अन्तर्दृष्टि के गुणो में भी निरन्तर वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में चार प्रकार के उत्तर प्राप्त होते हैं–दोहरान, वर्णन, मूर्त व्याख्या, अमूर्त व्याख्या। अल्पायु स्तर पर दोहरान पाया जाता है। सरल कार्टून्स की व्याख्या कम आयु के बालक कर लेते हैं परन्तु जटिल कार्टून्स की व्याख्या के लिए क्षमता अधिक आयु मे ही प्राप्त होती हैं।

मानसिक वृद्धि के सह सम्बन्ध

(1) मानसिक वृद्धि में शरीर रचना तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध—यह तो स्पष्ट है कि एक पक्ष की वृद्धि एक प्रेरक शक्ति के रूप में अन्य पक्षों को प्रभावित कर सकती है। बहुत लोगों के मतानुसार शारीरिक तथा मानसिक श्रेष्ठता दोनों साथ-साथ नही चलती। समाचार-पत्रों के व्यंग्य चित्रकार की प्रचलित रूढ़ धारणा के अनुसार आप कभी नही देखते कि एक फुटबाल का खिलाड़ी बुद्धिमान है अथवा एक प्रतिभाशाली बालक हृष्ट-पुष्ट है अथवा एक प्रज्ञात्मक नारी की आकृति आकर्षक है। उसके तथा उसके पाठकों के मन में फुटबाल का खिलाड़ी गूँगा होना चाहिए, बुद्धिमान बालक दुर्बल तथा फुस-फुसा होना चाहिए और प्रज्ञात्मक नारी देखने मे साधारण होनी चाहिए।

जब लोगों ने इस समस्या का विधिवत् अध्ययन आरम्भ किया, तब उक्त सामान्य धारणा की असत्यता से वे विशेष रूप से प्रभावित हुए। वास्तव मे इन पहले के विधिवत् अनुसन्धानों ने सर्वमान्य मत को एक प्रकार से दूसरे छोर की ओर धकेल दिया है। तेजस्वी व्यक्तियों का माध्यक स्वास्थ्य होता है, इस परिणाम से सन्तुष्ट होने की अपेक्षा, उन्होंने इस प्रकार का सुझाव दिया कि अधिकतर प्रतिभाशाली मनुष्यों की शारीरिक स्वस्थता भी विशेष श्रेष्ठ होती हैं। फ्रासीस गाल्टन ने घोषणा की, कि जिन श्रेष्ठतम लोगों का अध्ययन उसने किया है, उनको मिलाकर फुटबाल की एक सशक्त टीम बन सकती है। बाद में एल० एम० टर्मन तथा श्रीमती लेटा एस० हालिंगवर्थ ने भी उक्त विचार का प्रबल समर्थन किया और दुर्लभ प्रतिभावान व्यक्ति की कल्पना को अस्वीकार कर दिया। जिस समूह का अध्ययन उक्त अनुसंधानकर्ताओं ने किया, वे बच्चे शारीरिक दृष्टिकोण से केवल सामान्य बच्चों के बराबर भी नही थे, बल्कि आकार तथा स्वास्थ्य दोनो मे उनसे वस्तुत. श्रेष्ठ थे।

शारीरिक आकार (Size)

बुद्धि-लब्धि का ऊँचाई के साथ विशेष सम्बन्ध नही है। फिर भी साधारणतः यह पाया जाता है कि लम्बे व्यक्ति अधिक संख्या में बुद्धिमान होते हैं। अन्य शारीरिक माप, भार और पेट की गोलाई का बुद्धि-लब्धि के साथ सह-सम्बन्ध नगण्य है।

---

1. डबल्यू. एच. पाइने, "एन एक्सपेरीमेन्टल स्टडी आफ द डेवेलपमेन्ट ऑफ सरटेन एसपेक्ट्स ऑफ रीजनिंग", जर्नल आफ एड्यूकेशनल साइकोलोजी, 1935 अंक 26 पृ. 539–546.

सिर अथवा मस्तिष्क का आकार

सामान्य विवेचना से यह मत प्रकट होता है कि बुद्धि तथा सिर अथवा मस्तिष्क के आकार के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। वास्तव में यह बात नहीं है। यदि हम एक जाति के पशुओं की तुलना अन्य जाति के पशुओं से करें, तब हम अवश्य देखते हैं कि औसत रूप से सीखने की योग्यता में वृद्धि प्रायः मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ होती है। किन्तु अपनी मनुष्य जाति में इस प्रकार का सम्बन्ध कुछ भी नहीं है। बुद्धि या उपलब्धि के साथ सिर अथवा मस्तिष्क के आकार का सम्बन्ध उससे अधिक घनिष्ठ नहीं है जो कि ऊँचाई या भार का बुद्धि या उपलब्धि के साथ है।

यदि आकार मात्र उचित नहीं है, तब मस्तिष्क का कौन सा गुण अथवा क्रिया है, जो बुद्धि को नियमित करती है? इसका उत्तर देना अधिक कठिन है। मस्तिष्क के साथ अनेक प्रकार की शल्य क्रियाओं द्वारा देखा गया है कि मस्तिष्क के विशेष क्षेत्रों में अधिक भाग के नष्ट होने से सामान्य बुद्धि के व्यवहार में कुछ भी नहीं अथवा बहुत कम परिवर्तन होता है। हमें इस बात को भी स्मरण रखना चाहिए, कि जिन रोगियों पर शल्य-क्रिया की गई, प्रायः उन सब में किसी प्रकार का दोष अवश्य रहा होगा, यथा मस्तिष्कीय रसौली अथवा व्यक्तित्व का विक्षोभ। जो पूर्णतया सामान्य व्यक्ति होते हैं, साधारणतया उन पर मस्तिष्कीय शल्य-क्रिया नहीं की जाती।

मौखिक आकृति

फोटो को देखकर बुद्धि का अनुमान करने का मूल्य बहुत कम अथवा कुछ भी नहीं है। यह बात सच है चाहे उक्त निर्णय करने वाले साधारण सरल प्रेक्षक हों और चाहे वे चरित्र विश्लेषण का व्यवसाय करने वाले हों। केवल आकार के अनुमान मात्र की अपेक्षा, साक्षात् अभिव्यक्ति, अवधान की सचेत अवस्था, और व्यक्ति के सामान्य व्यवहार से अधिक यथार्थ तथ्य प्रकट हो सकते हैं। यह भी प्रासंगिक मनोरंजन की बात है कि जब लोग अधिक आकर्षक फोटोग्राफों का चुनाव करते हैं, (बुद्धि के विषय की ओर ध्यान नहीं देते) तब वे बुद्धिमान् व्यक्तियों को चुनते हैं। दूसरे शब्दों में कहेंगे कि फोटोग्राफों से चुनाव करते समय यदि आप बुद्धि की अपेक्षा सुन्दरता की खोज करें तब आपको बुद्धिमान् व्यक्तियों को चुनने की अधिक सम्भावना है।

शरीर-गठन तथा बुद्धि के बीच सम्बन्धों की व्याख्या

जब कभी हम देखते हैं कि उपलब्धि का ह्रास प्रायः किसी शारीरिक दोष के साथ देखा जाता है, तब इस प्रकार के परिणाम पर एकदम विश्वास करना स्वाभाविक है, कि निम्न कोटि की उपलब्धि का कारण उक्त शारीरिक दोष है। यह बात सत्य भी हो सकती है परन्तु इन दोनों के बीच सरल तथा सीधे सम्बन्ध का निश्चय करने से पहले हमें अन्य सम्भव प्राक्कल्पनाओं पर भी विचार करना आवश्यक है। उदाहरणत यह प्रबल सम्भावना है कि उक्त भेद प्रायः हमारे परीक्षणों के अनुपयुक्त होने के कारण पाए जाते हैं। यदि किसी बच्चे के सुनने या देखने में कुछ दोष हो, तो इस बात पर विश्वास करना कठिन हो जाता है, कि उसको परीक्षा देने की पर्याप्त सुविधा थी। हमें किसी प्रकार के सामान्य कारण की भी ध्यान से खोज करनी चाहिए; यथा; गन्दी बस्ती के जीवन से शारीरिक दोष में वृद्धि की जोखिम भी है। गन्दी बस्तियों के जीवन से बुद्धिलब्धि भी सीमित हो

सकती है, और किसी शारीरिक दोष के विकास के बिना भी यह बौद्धिक दोष उत्पन्न कर सकता है। हमें इस बात का भी विचार करना चाहिए कि सीमित बुद्धि के कारण दुर्घटना तथा दुर्बल स्वास्थ्य दोनों की संभावना हो सकती है।

उपर्युक्त वैकल्पिक प्राक्कल्पनाओं में से प्रतिवर्तित कारणता (अर्थात् सीमित बुद्धि या अवाप्ति से शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है) पर बहुत कम काम किया गया है। सामान्य कारणों पर अनेक अनुसंधान किए गए हैं और इस बात का प्रमाण मिलता है कि शारीरिक दोष तथा बुद्धि के परस्पर सम्बन्ध के कुछ अंशों का सामान्य कारण आनुवंशिकता तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि का प्रभाव है। विकलांग बच्चे कम भाग्यशाली पर्यावरण में आते हैं। इससे अधिक यह बात है कि उक्त पर्यावरण से आने वाले बच्चों की बुद्धि परीक्षा में उच्च अंक प्राप्त करने की कम सम्भावना है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि गरीबी के कारण शारीरिक दोष तथा निम्न बौद्धिक स्तर दोनों उत्पन्न हो सकते हैं।

(2) सामाजिक वर्ग समूह (The social-class structure)—भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्ग समूह में पाए जाने वाले वातावरण की विभिन्न स्थितियाँ, एक ओर जहाँ किशोर में कुछ योग्यताओं के विकास में सहायक होती हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ योग्यताओं का ह्रास भी कर देती हैं। विद्यालय मे पढाए जाने वाले कई पाठ पिछली कक्षाओं के अनुभवो के अतिरिक्त पारिवारिक पृष्ठभूमि से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। यह मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से अधिक जुड़े होते हैं। अत मध्यवर्गीय परिवार के बालक इसमे श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।[1] मिडवेस्टर्न समुदाय के सभी 16 वर्षीय लड़के-लडकियों को बुद्धि परीक्षण, अध्ययन परीक्षण, यांत्रिक अभिवृत्ति परीक्षण आदि दिए गए। इन परीक्षा परिणामों के विश्लेषण के आधार पर निम्न निष्कर्ष प्राप्त हुए—

1. इन परीक्षणों मे केवल यांत्रिक परीक्षण को छोडकर अन्य सभी मे उच्च वर्गीय परिवार के लड़के-लड़कियो ने अच्छा कार्य किया।

2. नगरीय लड़के-लडकियों ने ग्रामीण लड़के-लड़कियों की तुलना मे अच्छा कार्य किया।

3 लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नही पाया गया।

अधिकांश विद्यालय मध्यवर्गीय मूल्यों को प्रोत्साहन देते है, अतः स्वाभाविक है कि विद्यालय के अनेक कार्यक्रमों मे मध्यवर्गीय विद्यार्थी अधिक सफलता प्राप्त करते है। निम्न वर्ग के बालक अधिकतर नुकसान मे रह जाते हैं।

(3) विद्यालयी उपलब्धि एवं बुद्धि—बुद्धि सम्बन्धी परीक्षणों एवं पारम्परिक उपलब्धि परीक्षणों की प्रकृति पर ध्यान से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उपलब्धि एवं बुद्धि के मध्य महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। शैक्षिक स्तर की वृद्धि के साथ-साथ बुद्धि-लब्धि भी प्रगति की ओर बढती जाती है। साधारणत 90 या उससे कम बुद्धि-लब्धि वाले विद्यार्थी शिक्षा पूरी करने से पूर्व ही विद्यालय छोड देते है। इससे स्पष्ट है कि विद्यालय में सफलता प्राप्ति का बुद्धि-लब्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

1. एल. एल. जन्के एण्ड आर. जे हेविगहर्स्ट, "रिलेशन बिटवीन एबीलिटि एण्ड सोशियल स्टेट्स इन ए मिडवेस्टर्न कोम्यूनिटी, 11, सिक्सटीन ईयर्स ओल्ड बॉयज एण्ड गर्ल्स," जर्नल आफ एड्यूकेशनल साइकोलोजी, 1945 अंक 36 पृ. 499–509

मानसिक वृद्धि से सम्बन्धित समस्याएँ

मानसिक वृद्धि एवं विकास के लिए उत्तरदायी कारक हैं—(1) सामाजिक एवं बौद्धिक माँगों में वृद्धि, (2) अधिक दायित्व ग्रहण करने की आवश्यकता तथा (3) निर्णय लेने की आवश्यकता। अनेक किशोर चयन सम्बन्धी अनुभव की कमी, दायित्व ग्रहण करने की क्षमता का अभाव तथा उचित निर्देशन के अभाव में कठिनाइयों में पड़ जाते है। इन सबसे निपटने की पूर्ण तैयारी नही होने के कारण अनेक समस्याएं उन्हें घेर लेती है।

ऐसे मे किशोर के सामने चिन्ता व झुंझलाहट भरा यह प्रश्न बना रहता है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में उसे सफलता प्राप्त होगी अथवा नहीं। वैसे भी वर्तमान समाज की प्रकृति प्रतियोगिताओं से परिपूर्ण है, इसकी झलक विद्यालय के कार्यक्रमो एवं घर के वातावरण में भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के समक्ष सामान्यतः परीक्षा में उत्तीर्ण होने, उत्तम अंक प्राप्त करने, विद्यालय में सम्मान प्राप्त करने, महाविद्यालय में प्रवेश प्राप्त करने आदि समस्याएं रहती है। इन सबकी माँग इतनी आवश्यक होती है कि किशोर यह भी भूल जाता है कि ये सब उसकी व्यक्तिगत मान्यताओं एवं मूल्यों से कितनी परे है। उसके सम्मुख तो यही चिन्ता बनी रहती है कि अध्यापक, अभिभावक एवं समकक्ष समूह के बालकों की दृष्टि से वह असफल सिद्ध नही हो जाए। विद्यालय में सफलता प्राप्त करना ही उसके लिए वास्तविक सफलता का मापदण्ड बन जाता है। यही कारण है कि जो किशोर विद्यालय मे असफल रह जाता है, उसमे व्यक्तिगत एवं सामाजिक कुसमायोजन एवं व्यवहारगत समस्याएं पाई जाती हैं। किशोर समूहों के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि वैयक्तिक समायोजन में बुद्धि की महत्ता या भूमिका नगण्य होती है। अनेक अन्य कारक इसके लिए उत्तरदायी है—

1. बालक की बुद्धि का पूर्ण स्तर;
2. बालक के लिए निर्देशित गतिविधियों हेतु आवश्यक बुद्धि का स्तर;
3. उसकी आकांक्षाओं से उत्पन्न सामाजिक दबाव;
4. उसकी स्वयं की इच्छाएं एवं आवश्यकताएं;
5. उसकी वास्तविक उपलब्धि।

ये सब कारक अनेक प्रकार से अन्योन्याश्रित हैं तथा इनके परिणामस्वरूप व्यवहार के जटिल प्रतिमान उभरते हैं।

प्रज्ञात्मक विसामान्यताएँ (Intellectual Deviates)

परीक्षण आन्दोलन से जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आता है, वह यह है कि बालक बौद्धिक प्रतिभा में एक दूसरे से असमान होते है। जैसा कि बतलाया जा चुका है, बौद्धिक उपलब्धि की कुल सीमा 20 से 200 तक होती है। यह एक अविभाज्य शृंखला है परन्तु सुविधा की दृष्टि से इसे स्तरों में बाँट दिया गया है। 90 से 110 बुद्धिलब्धि वाले बालक सामान्य माने जाते हैं, उससे कम वाले मन्द बुद्धि एवं अधिक वाले प्रतिभाशाली।

प्रज्ञात्मक विसामान्य बालक वे है जिनकी बुद्धि-लब्धि चरम सीमा पर है, इसलिए वे अपने समूह से पृथक् हैं। यहाँ हम इन्ही विसामान्य बालको के बारे मे चर्चा करेंगे।

प्रतिभाशाली किशोर

ऐसे बालक जिनकी बुद्धि-लब्धि 120 से ऊपर होती है, प्रतिभाशाली होते है।

यथार्थ रूप मे 2 प्रतिशत से अधिक बालक पाठशाला में इस श्रेणी के नहीं होते किन्तु इनमें कुछ बालक ऐसे भी हो सकते हैं, जिनकी बुद्धिलब्धि 180 और 190 भी हो सकती है। इस योग्यता के बालक भी हमारे सामने एक समस्या का रूप ले सकते हैं क्योंकि उनकी स्वयं की समस्याएँ बड़ी जटिल होती हैं। साथ ही साथ उनके लिए विद्यालय का संगठन तथा प्रबन्ध किस प्रकार का हो, यह भी एक जटिल प्रश्न है।

इस प्रकार के बालक एक साधारण बालक से बहुत अधिक योग्य होते हैं। वे लोग उस कार्य को बहुत शीघ्र कर सकते हैं, जो उन्हें दिया जाता है। एक साधारण बालक उतनी गति से उन्हें समाप्त नहीं कर सकता। कक्षा में जहां उन्हें साधारण बालकों के साथ रखा जाता है अथवा औसत से भी निम्न बालकों के साथ, तो कक्षा उनके लिए अरुचिपूर्ण हो जाती है और उन्हें कक्षा के कार्य में कोई उत्प्रेरणा नहीं मिलती है। ऐसे बालक पाठशाला के कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और अशोभनीय कार्यों में पड़ जाते हैं। उनके अन्दर सुस्ती, बेचैनी और नटखटपन उत्पन्न हो जाता है।

ऐसे बालकों के व्यवस्थापन के लिए जो ढंग बताए जाते हैं, वे ये है—(1) उनको शीघ्र उन्नति का अवसर देना चाहिए। (2) उनको नीची कक्षाओं से शीघ्र ऊँची कक्षाओं में उत्तीर्ण होने के अवसर देना चाहिए किन्तु यहा समस्या यह हो जाती है कि ऐसी अवस्थाओं में वे बालक अपने से बहुत बड़े और अधिक उम्र के बालकों के मध्य में पहुँच जाते है और उनके साथ वे शारीरिक कार्यों में पूर्ण रूपेण भाग नहीं ले पाते। वे नेतृत्व भी नही कर पाते क्योंकि वे केवल अपनी उम्र के ही बालको को अपनी योग्यताओं से प्रभावित कर सकते है। इस प्रकार उनका सामाजिक व्यवस्थापन पूर्णरूपेण नहीं हो पाता। अधिक उम्र के बालक उनका मजाक बनाते है क्योंकि वे शारीरिक दृष्टि से छोटे होते है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा के ये तत्त्व अध्यापकों के समक्ष समस्यात्मक रूप में आते हैं।

प्रतिभाशाली किशोरों की पहचान

प्रतिभाशाली बालकों को साधारण बालकों में से छाँट लेना भी बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है। बालकों को छाँटने के वास्ते कई प्रकार की चेष्टाएँ की गईं, जो निम्नलिखित है—

1. प्रतिभाशाली बालकों का अध्ययन करके यह पता लगाया गया है कि ऐसे बालक, जिनमें असाधारण योग्यता होती है, किस प्रकार के परिवारों में उत्पन्न होते है। यह पता लगा है कि ऐसे बालक उच्च कुल में अधिक उत्पन्न होते है। अधिकतर इनके माता-पिता, व्यापार या किसी स्वतन्त्र जीविका-उपार्जन के पेशे को अपनाए रहते है। छोटे पेशे को अपनाने वाले व्यक्तियों की संतानों मे बहुत ही कम मात्रा मे प्रतिभावान बालक होते है। प्रतिभावान लड़के और लड़कियाँ बराबर संख्या में पाए जाते हैं।

2. अध्यापकों का मत भी इस सम्बन्ध मे लिया गया परन्तु वह अधिक उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध न हो सका। उन्होंने कक्षा मे सबसे योग्य बालकों को ही प्रतिभावान बताना उचित समझा। इसी प्रकार परीक्षा का ढंग भी अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका। अध्यापक द्वारा व्यक्तिगत परीक्षा मे बहुत प्रतिभावान बालक पिछड़ जाते हैं क्योंकि अध्यापक उनकी प्रतिभा को नहीं पहचान पाते और उनके उत्तरों को त्रुटिपूर्ण समझते हैं।

3. बुद्धि की वस्तुनिष्ठ परीक्षाएँ, पाठशाला की सूचना सम्बन्धी तथा बुद्धि-सम्बन्धी परीक्षाएँ प्रतिभावान बालकों को सही रूप से स्पष्ट कर सकती हैं और उनके मानसिक मापों को भी ले सकती हैं। अब इस प्रकार की परीक्षाएँ संभव है और हम प्रतिभावान बालकों की सही प्रकार से पहिचान कर सकते है। यह ऐसे बालकों का पता लगाने का उचित तथा निश्चित ढंग है।

प्रतिभावान बालकों की मुख्य विशेषताएँ—निम्नलिखित विशेषताएँ प्रतिभावान बालको में देखी गई हैं। ये विशेषताएँ टरमैन और हॉलिंगवर्थ की पुस्तकों के अध्ययन के आधार पर हैं। यथा—

1. उनके माँ बाप उच्च कुल के होते है। ये बालक अच्छी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति वाले परिवार में अधिक संख्या में पाए जाते है।

2. शारीरिक गुणों में भी वे अपनी उम्र के अन्य बालकों की तुलना में प्रतिभावान होते है। वे पैदा होते समय औसतन दूसरे बालकों से अधिक बड़े होते हैं, जल्दी ही चलना आरम्भ कर देते हैं, उनकी साधारण स्वास्थ्य की स्थिति अच्छी होती है और उनमें किशोरावस्था के लक्षण शीघ्र आ जाते है।

3. उनमें से अधिकतर पढ़ाई में साधारण से अच्छे होते है। पढ़ने में उनकी वास्तविक रुचि होती है, वे ज्ञान प्राप्त करने मे रुचि लेते हैं। इसी प्रकार प्रतिभावान बालक कला, गायन विद्या आदि में भी रुचि लेते है।

4. वे अमूर्त वस्तुओं मे अधिक रुचि लेते है और इसी प्रकार कठिन विषयों में भी अधिक रुचि लेते है।

5. खेल में वे लोग अधिक रुचि नही लेते। वे लोग अपने से अधिक उम्र वाले साथियों के साथ चिन्तन-युक्त कार्यों में अधिक रुचि लेते है। वे लोग अपने पाठ्यक्रम से अधिक पढने में रुचि लेते है।

6. व्यक्तित्व को मापने वाली बहुत सी परीक्षाओं मे ये बालक निश्चित रूप से उत्तम होते हैं। वे बुद्धि मे भी अति उत्तम होते है। इसी श्रेष्ठता का वर्गीकरण इस क्रम से किया जा सकता है:(अ) इच्छा शक्ति सम्बन्धी, (ब) संवेगात्मक, (स) चारित्रिक, (र) शारीरिक, (य) सामाजिक।

प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा

1. प्रतिभावान बालकों के लिए अपने को व्यवस्थापित करना कठिन होता है क्योंकि पाठशाला की परिस्थितियां विशेष प्रकार की होती हैं। अतः प्रतिभाशाली बालक के पढ़ने की तीव्र गति के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। प्रतिभाशाली बालकों के लिए शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर विशेष कक्षाओं का प्रबन्ध भी करना चाहिए।

2. यद्यपि विशेष कक्षाओं का होना आवश्यक है फिर भी ऐसे बालकों को दूसरों से मिलने का अवसर देना चाहिए, जो उनसे कम बुद्धि वाले है। जब वे बड़े हो जाएँगे तो इन्ही लोगों के साथ उन्हें व्यवस्थापन करना पड़ेगा। अतः इस प्रकार के व्यवस्थापन के लिए पाठशाला के शिक्षा-काल में ही उन्हें अवसर देना चाहिए।

3. उन्हे कक्षा के बाहर की उन गतिविधियों में भी भाग लेने के अवसर देने

चाहिए जो शिक्षा से सम्बन्धित नही होती। यह आशा की जा सकती है कि प्रतिभाशाली उनमें नेतृत्व करेंगे।

4. अध्यापकों को प्रतिभाशाली बालकों का संवेगात्मक सन्तुलन बनाए रखने में सहायता करनी चाहिए। इसके लिए उन्हें अभिभावकों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

5 अध्यापन मे ऐसे अभ्यासों को जो केवल दोहराने के लिए ही होते हैं, या तो कम कर देना चाहिए या हटा देना चाहिए।

6. प्रतिभावान के लिए किसी भी झूठी उत्प्रेरणा की आवश्यकता नही होती। यदि विषय सामग्री बौद्धिक रूप से उनके समक्ष उपस्थित की जाए तो उनकी बौद्धिक उत्सुकता सदैव बनी रहती है।

7 आम तौर से योजना विधि प्रतिभाशाली बालको के लिए अधिक रूप से सफल सिद्ध हुई है। उन्हें योजना पर कार्य करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, उन्हे नियन्त्रित करने तथा उसके अनुसार कार्य करने के लिए भी कहना चाहिए।

8. प्रतिभाशाली बालकों को पढ़ाने के लिए विशेष प्रकार से योग्य अध्यापको की आवश्यकता होती है—जो स्वयं प्रखर बुद्धि के हों, उन्हे प्रतिभावान बालकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का पूर्ण ज्ञान हो तथा ईर्ष्या और अन्ध-विश्वासों आदि मनोवृत्तियों से दूर हों।

इस प्रकार के प्रतिभावान बालको के सम्बन्ध मे एस. हालिंगवर्थ का कहना है कि "प्रतिभावान बालको को सभ्य समाज मे स्थान देने के लिए हमें विशेष प्रकार से संस्कृति का उद्‌विकास बताना चाहिए। 8 अथवा 9 वर्ष के बालक इस संस्कृति की विशेषता को समझने के योग्य नही होते, अतः हमे उन्हे संस्कृति सम्बन्धी साधारण वस्तुएँ बतानी चाहिए जिन पर कि संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। साधारण वस्तुओ मे—भोजन, रक्षा, आवागमन और इसी प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित हैं। इस माध्यम से बालक उत्प्रेरित किए जा सकते हैं और उनके अन्तर की बौद्धिक उत्सुकता को सन्तुष्ट भी किया जा सकता है।

प्रतिभाशाली किशोर की समस्याएँ—प्रतिभाशाली किशोर को कई प्रकार की समस्याओं—बौद्धिक, व्यावसायिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक का सामना करना पड़ता है। उसकी प्रमुख बौद्धिक समस्या यह है कि वह अपनी बुद्धि को तीव्रतर किस प्रकार करे। दूसरी समस्या है अपनी रुचियों को किस प्रकार असीमित बनाए। वह विश्व की सभी बातों मे कुशलता प्राप्त करना चाहता है।

व्यक्तिगत स्तर पर अन्य किशोरों जैसी समस्याएँ तो उसके सामने हैं ही, परन्तु कुछ समस्याएँ वह स्वयं भी उत्पन्न कर लेता है। वह अपने साथियो से बुद्धि में तीव्र होता है अतः उनकी तुलना में वह अपना अध्ययन कार्य द्रुतगति से कर लेता है। उसे सब कुछ याद भी जल्दी से हो जाता है, अतः उन लोगों के प्रति जो मन्दबुद्धि हैं और पाठ समझने मे समय लगाते हैं, सहिष्णुता का व्यवहार करने की समस्या उसके लिए रहती है। एक और समस्या, जो उसके सामने आती है, वह है स्वयं पर समस्त ध्यान केन्द्रित रखना। ऐसे किशोर अपने साथियों का ख्याल बहुत कम रखते हैं। अपनी प्रतिभा के कारण उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता ही सफलता प्राप्त होती है, इस कारण भी वह अकेला पड़ जाता है और केवल स्वयं की विशिष्ट रुचियों का ही ध्यान रखता है। इस प्रकार

प्रतिभा के साथ उनके विनाश के बीज भी जुड़े होते हैं । विद्यालय का यह कर्तव्य है कि व
इस प्रकार की आदतों के विकास पर नियंत्रण रखे तथा उनके और उनके साथियो के बी
बढ़ती दूरी को कम करने के प्रयास करें ।

उनकी आधारभूत सामाजिक योग्यता मे कही दोष नही होता है परन्तु कभी-कभ
लापरवाही के कारण हो सकता है, वे अपनी सामाजिक योग्यताओ को विकसित नही करे
इससे उनके सम्मुख कुसमायोजन की समस्या उपस्थित हो सकती है । वे बौद्धिक कार्यो
व्यस्त रहने के कारण खेलकूद, नृत्य, संगीत व अन्य पाठ्येत्तर कार्यक्रमो मे भाग नही
सकते । इस प्रकार अपनी सामाजिक योग्यताओं को विकसित नही कर सकते ।

मानसिक न्यूनता से ग्रसित किशोर
(The Adolescent with Inferior Mental Capacity)

साधारण रूप से जिन बालकों की बुद्धिलब्धि 60 से कम होती है, उन्हें ह
मानसिक न्यूनता ग्रसितों की श्रेणी में रखते हैं । इस श्रेणी में 85 बुद्धिलब्धि तक के किशो
भी ले लिए जाते हैं ।

बहुत से अभिभावक इस बात पर विश्वास नहीं करते कि उनके बालक मन्द बुद्धि
है । उनका विचार यह होता है कि यदि बालक अच्छी प्रकार से अध्ययन नही कर पा रह
है तो वह उतनी मेहनत से नही पढ़ता जितनी कि उसे चाहिए । यदि कोई उनमे कहता
कि उनका बालक मानसिक रूप से अपूर्ण है तो वह उस पर क्रोधित होने लगते है । ऐस
बालक साधारण ज्ञान को प्राप्त करने मे भी असमर्थ रहता है । अत: अध्यापक का प्रथम
कर्तव्य यह है कि वह अभिभावकों को उनके बालको के मानसिक विकास के सम्बन्ध मे
अवगत कराए, जिससे कि वे अपने बालक के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था के बारे मे
सोच सके । बालकों की मानसिक योग्यता की परीक्षा होनी चाहिए और अभिभावकों को
इसका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए । अत: उन्हे बालक को अच्छा बनाने के लिए भरसक प्रयत्न
जो वे कर सकते हैं, करना चाहिए । मन्द बुद्धि वाले बालकों के प्रति अन्याय होगा, यदि
उनके अभिभावक उन्हे उनकी शक्ति से अधिक कार्य करने को बाध्य करें । बालक के
अन्दर बहुत-सी संवेगात्मक समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी और उसका व्यवस्थापन कठिन
हो जाएगा ।

मानसिक न्यूनता ग्रसितों के व्यवस्थापन की समस्या प्रतिभाशाली अथवा साधारण
बालको से बिल्कुल भिन्न है । मानसिक न्यूनता ग्रसितों के साथ हमारा व्यवहार बड़ा ही
सहानुभूतिपूर्ण तथा धैर्यपूर्ण होना चाहिए । हमें उनके चरित्र का भली प्रकार विकास करने
देना चाहिए ।

पाठशाला मे मूर्ख बालक कम होते है किन्तु अल्पबुद्धि तो बहुत से बालक होते हैं ।
यदि मानसिक न्यूनता ग्रसित बालक की साधारण पाठशाला में पढ़ाई आरम्भ करवा दी
जाती है तो या तो उसकी अल्पबुद्धि उसके आगे बढ़ने मे बाधक होगी अथवा वह निम्न
श्रेणियो में ही रहेगा और अधिक समय नष्ट करेगा । पाठशालाओं मे निम्न बुद्धि के बालक
साधारणतया प्रसन्न नही रहते, क्योंकि वे अपने प्रतिभावान साथियों के समान शिक्षा मे
उन्नति नही कर पाते जब कि उनके अभिभावक इत्यादि सदैव उनसे यह आशा करते है

कि वे प्रतियोगिता में प्रतिभावना का मुकाबला कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे मानसिक क्षोभ के शिकार हो जाते हैं।

अतः यह आवश्यक है कि मानसिक न्यूनता ग्रसितों को पाठशाला में उचित शिक्षा का अवसर देना चाहिए। उनको साधारण शब्दकोष सिखाना चाहिए। उनके पढ़ने की सामग्री रुचिपूर्ण होनी चाहिए और साधारण रूप से शिक्षा तथा सीखना दोनों ही साथ साथ चलना चाहिए।

ऐसे मानसिक न्यूनता-ग्रसितों को व्यावसायिक शिक्षा भी देनी चाहिए, जिससे कि वे सफलता प्राप्त कर सकें। उनको औद्योगिक शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि वे उद्योग में सफल हो सकें और अपनी जीविका चला सकें।

जिन बालकों की बुद्धिलब्धि 55 से कम है, उनको विशेष प्रकार की पाठशाला में भेजना चाहिए जिससे कि वे विशेष प्रकार के अध्यापक के सम्पर्क में रह सकें। इस प्रकार से बालक अच्छी प्रकार से अपने को नियन्त्रित करना सीख सकते है और उचित आदतों को उत्पन्न करना भी सीख सकते हैं। उन्हें ऐसी उत्प्रेरणा देनी चाहिए जो उन्हें नियन्त्रित करने वाली क्रियाओं में सहायता प्रदान कर सकें। उन्हें इस प्रकार के कार्यों को सिखाना चाहिए, जिससे कि वे अपनी जीवन सम्बन्धी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सकें, यद्यपि वे एक सफल नागरिक के रूप में विकसित नहीं किए जा सकते।

सृजनात्मकता

किशोरावस्था में व्यक्ति अनेक बौद्धिक क्षेत्रों में प्रगति करता है। बाल्यावस्था में वह जो कुछ सीखता है वह अनुकरण पर आधारित होता है। उसकी भाषा, बोलने चालने का ढंग, खेलकूद सभी वह दूसरों की देखा देखी सीखता है। विद्यालय में भी वह अनुकरण को ही अपनाता है। यहाँ तक कि जिन क्षेत्रों में यथा चित्रकारी, दस्तकारी आदि में जहा हम चाहते है कि वह कल्पनाशील बने, वह अनुकरण का मार्ग ही अपनाता है, क्योंकि यही वह एक मात्र मार्ग है जो कि वह आज तक अपनाता आया है।

व्यक्ति जो कुछ भी बनाता है वह एक प्रक्रिया का परिणाम होता है। सृजनात्मक वस्तु का निर्माण सृजन की प्रक्रिया से होता है। अनुकरणात्मक वस्तु अनुकरण की प्रक्रिया का परिणाम होती है। अनुकरण करने वाले व्यक्ति का यह लक्ष्य होता है कि वह किसी कार्य को करले। सृजनशील व्यक्ति का लक्ष्य कुछ नए निर्माण का होता है। अतः उत्पादन अनुकरण है या नवीन यह उस प्रक्रिया पर निर्भर करता है, जिसका कि वह परिणाम है।

सृजनात्मकता

इस प्रकार हमने देखा कि सृजनात्मकता सृजनात्मक प्रक्रिया पर आधारित होती है। सृजनात्मक प्रक्रिया का अर्थ है, "असम्बन्धित वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना"।[1] व्यक्ति के निर्माण में सृजनात्मकता है, यदि निर्मित वस्तु उसे तुष्टि प्रदान करती है,

---

1. क्रिएटीविटी : एक्सामिनेशन ऑफ द क्रियेटिव प्रोसेस—स. पाल स्मिथ, प्रकाशक हेस्टिंग्ज हाऊस, न्यूयार्क 1, पृष्ठ 18

उसके लिए उपयोगी है और ऐसी असम्बन्धित वस्तुओं को सम्बन्धित करती जो उसने अपने अनुभव में पहले कभी नही देखी हों और निर्मित वस्तु नवीन है आश्चर्यजनक है।

हैंस सेले[1] के अनुसार "वह सत्य होना चाहिए, ... वह विस्मयकारी होन चाहिए"। अतः सृजनात्मक निर्माण में—(1) नवीनता, (2) सत्यता, (3) उपयोगिता ए (4) विस्मय होना चाहिए। यह विध्वन्सक नही होना चाहिए। सृजनात्मक निर्माण व्यक्ति को जीवन एवं सृजन का आनन्द व आदर प्राप्त होता है।

अतः सृजनात्मकता वह गुण है जो कि सभी व्यक्तियों मे होता है और उनमे य क्षमता भी होती है कि वे उसे प्रदर्शित कर सकें। वैयक्तिक विभिन्नताओं के कारण सृजनात्मकता के प्रकार एवं प्रदर्शन में अवश्य ही अन्तर रहता है। उचित शिक्षा द्वार सृजनात्मकता के गुण मे वृद्धि भी की जा सकती है।

सृजनात्मकता सम्बन्धी साहित्य के विश्लेषण पर इससे सम्बन्धी चार उपागम (approaches) सामने आते हैं—

1. मानसिक प्रक्रिया—प्रथम उपागम के अनुसार सृजनात्मकता एक मानसिक प्रक्रिया (mental process) है जो कि दो या दो से अधिक वस्तुओं के बीच नए य अब तक नही देखे गए सम्बन्धों को देखती है या निर्माण करती है। सम्बन्ध देखे जाने वाले वे पदार्थ जितनी अधिक दूर है, उतनी ही अधिक सृजनशील वह मानसिक प्रक्रिय मानी जाएगी। इस प्रक्रिया के दो चरण हैं। प्रथम, चरण में उन दो या दो से अधिक वस्तुओं को देखा जाता है और दूसरे, चरण मे उनका संश्लेषण किया जाकर उन तत्वों का नए एवं मौलिक रूपों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

2. उत्पादन—दूसरे उपागम के अनुसार सृजनात्मकता मानसिक प्रक्रिया में नही है, बल्कि उत्पादन मे है। यदि किसी मानसिक प्रक्रिया के फलस्वरूप किसी नवीन रचना अथवा कार्य का निर्माण नही होता है तो प्रक्रिया कभी भी सृजनात्मक नही कहला सकती। मानसिक प्रक्रिया तभी प्रकाश मे आती है जबकि उत्पादन नवीन एवं उपयोगी है।

3. मानसिक योग्यताएँ—तीसरे उपागम के अनुसार सृजनात्मकता को मानसिक योग्यताओं के रूप में परिभाषित किया गया है। यह विचारधारा गिलफोर्ड (Guilford) एवं उनके साथियों की है। उनके अनुसार सृजनात्मकता का अर्थ है वे मानसिक योग्यताएँ जो कि नए निर्माण या उत्पादन में लगी रहती है। ये मानसिक योग्यताएँ निम्न है—

(1) धारा प्रवाहिता (Fluency)—एक बड़ी संख्या में विचारों को उत्पन्न करने की योग्यता।

---

1. माइल एलिस : "क्रिएटीविटी इन टीचिंग" वाड्सवर्थ पब्लिशिंग कम्पनी, 1962, पृष्ठ-6.

(2) लचीलापन (Flexibility)—भिन्न विचारों को रखने की या भिन्न उपगामों को प्रयोग मे लाने की योग्यता।

(3) मौलिकता (Originality)—असाधारण अनुक्रियाओं को करने की तथा दूरगामी, असामान्य सह सम्बन्धों को स्थापित करने की योग्यता।

(4) पुनर्परिभाषा (Redefinition)—कोई भी बात जो पूर्व में कही जा चुकी है उसे पुन सामान्य स्थापित तरीके से भिन्न रूप से कहना।

(5) समस्याओं की पहचान (Sensitivity to problems)—सबसे प्रमुख बात है समस्याओं के प्रति संवेदनशील होना तथा उन्हे अभिव्यक्ति देना।

4 सृजनशील व्यक्ति की विशेषताएँ—चौथे उपागम के अनुसार सृजनात्मकता की परिभाषा सृजनशील व्यक्तित्व की विशेषताओं के रूप मे की गई है। ये अनुसंधानकर्त्ता सृजनात्मक चिन्तन सम्बन्धी योग्यताओं के सन्दर्भ में सृजनात्मक उपलब्धि से सम्बन्धित व्यक्तिगत सम्बन्धी कारकों को भी महत्व देते है। ई पॉल टोरेन्स *(E. Paul Torrance)* ने व्यक्तियों के अनेक परीक्षण किए तथा–मिनेसोटा मल्टीफेजिक पर्सनेलिटी इन्वेन्टरी (Minnesota Multiphasic Personality Inventory), थेमेटिक एपरसेप्शन टेस्ट *(Thematic Apperception Test)*, *रोशाख परीक्षण (Ror Schach Test)* आदि। इन परीक्षणों के आधार पर उन्होंने सृजनात्मक व्यक्तियो की उनसे कम सृजनात्मक व्यक्तियों से तुलना की। इस सर्वेक्षण के आधार पर टोरेन्स ने चौरासी विशेषताओं की सूची बनाई तथा सृजनात्मक व्यक्तित्व का वर्णन किया। कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है–वे अव्यवस्था को स्वीकार करते है। रहस्य की ओर आकर्षित होते हैं, अद्वितीय बनाने की इच्छा रखते है, साहसी, दृढ़ निश्चयी, जिज्ञासु, एकान्तप्रिय, चुनौती लेने के इच्छुक आदि।

उपरोक्त चारो उपागमों के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृजनात्मकता को समझने के लिए इन चारों को मिलाना अधिक उपयुक्त है। अलग-अलग रखने से सृजनात्मकता को भली प्रकार परिभाषित नही किया जा सकता। सृजनात्मकता एक ऐसी अद्वितीय मानसिक प्रक्रिया है जो अनेक मानसिक योग्यताओं और व्यक्तित्व की विशेषताओं की सहायता से मौलिक तथा नवीन पदार्थ का निर्माण करती है।

सृजनात्मक प्रक्रिया की चार मुख्य आवश्यकताएँ हैं—

1. अनुभवों के प्रति खुलापन (Openness)—आसपास स्थित सामग्री का अनुभव करना। उनके प्रति प्रारम्भ मे ही किसी प्रकार का निर्णय नहीं ले लेना चाहिए। बिना किसी गठन के वह जैसी है, उसी स्थिति मे अनुभव करना चाहिए। इसके लिए व्यक्ति मे आन्तरिक शांति होनी आवश्यक है। पुरानी परिभाषाएँ एवं रूढ़ियुक्तियाँ मार्ग में बाधाएँ बनती हैं। पुरानी मान्यताओं को त्याग कर तथा पुरानी परिभाषाओं को परिवर्तित करने से ही सृजनात्मकता की सम्भावना हो सकती है। सृजनात्मक व्यक्तियों में सामान्य से भिन्न रूप मे सोचने की क्षमता अद्वितीय रूप से होती है।

2. अपने अनुभवों को केन्द्रित (Focus) करना—अनुभवों को गुंथेपन मे

निरीक्षण करने के साथ ही जुड़ा है उनको केन्द्रित करने का कार्य। यह प्रयत्न सचेतन भी हो सकता है अथवा उत्तेजना आधारित भी। व्यक्ति अनुभवों से ही कुछ बनता है।

3. अनुशासन—जब केन्द्र बिन्दु प्राप्त कर लिया जाता है, नया कार्य आरम्भ होता है। यह अनुशासित ढंग से होना चाहिए। सृजनात्मक कार्य में अनुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये लोग अपने कार्य में इतने तल्लीन हो जाते है कि घटों, दिनो यहाँ तक की महिनों कार्य में लगे रहते हैं, जब तक कि कुछ नए की खोज न हो जाए। इस अनुशासन में मुख्य अनुशासन सृजनशील व्यक्ति का स्व-अनुशासन है। निर्माण कार्य में तल्लीन व्यक्ति को शांति प्राप्त होती है। शान्त व्यक्ति अधिक समय तक कार्य कर सकता है।

4. समाप्ति—सृजनात्मक प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू उसका समापन है। प्रश्न उठता है कि सृजनशील व्यक्ति को यह कैसे पता लगे कि वह कहा पर समाप्ति करे? यह एक बहुत बड़ा गुण है चाहे वह लेखक हो, वक्ता हो या चित्रकार हो, या वैज्ञानिक हो। किसी न किसी बिन्दु पर उसे अपने कार्य की समाप्ति करनी हैं तथा अपने निर्माण आनन्दपूर्ण वस्तु की घोषणा करनी है। यह निर्णय नितान्त वैयक्तिक एवं ऐच्छिक होता है। सृजनात्मक प्रक्रिया प्रारम्भ से अन्त तक स्व के अनुसार चलती है, अतः इसका समापन एक प्रकार से स्व की खोज कहला सकता है। यह उसकी सीमाओं की एवं शक्तियो की खोज है।

सृजनात्मकता एवं बुद्धि

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि बुद्धि और सृजनात्मकता में क्या सह-सम्बन्ध है। इन सह सम्बन्धों से सम्बन्धित कई अध्ययन किए गए है। इसके अनुसार बुद्धि और सृजनात्मकता एक बिन्दु विशेष तक साथ-साथ चलती है, फिर पृथक् पृथक् हो जाती है। वह बिन्दु क्या है, यह अभी कुछ निश्चित नही है। कुछ अनुमानो के अनुसार यह 90—120 है। इसके बाद अधिक सृजनशील एवं न्यून सृजनशील में अन्तर करना कठिन हो जाता है। उच्च सृजनशील व्यक्तियों की औसत से उच्च बुद्धि-लब्धि हो सकती है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि वे उच्च बुद्धिलब्धि ही रखे। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि उच्च बुद्धिलब्धि वाले व्यक्ति सृजनशीलता में श्रेष्ठ हों। इन अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि बुद्धि और सृजनात्मकता का परस्पर सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध रेखीय (linear) नही है, अपितु वक्र-रेखीय (curvilinear) है।

अत्यधिक बुद्धिमान एवं अत्यधिक सृजनशील किशोरों की शैक्षणिक उपलब्धि, व्यावसायिक चयन, व्यक्तित्व की विशेषताएँ तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि मे अन्तर होता है या नही, इस सम्बन्ध में गेटजल्स जेकमन (Getzels Jackson) आदि ने 1958 मे अध्ययन किया। उन्होंने कक्षा 6 से 12 तक के विद्यालयी-क्षेत्रों का अध्ययन किया। उन्होंने छात्रों के दो समूह बनाए। प्रथम मे उन छात्रों को रखा जिनका सृजनात्मकता का प्राप्तांक ऊपर से 20 प्रतिशत था, परन्तु बुद्धि का यह नही था। दूसरे समूह में वे कि...

जिनका बुद्धि का प्राप्तांक ऊपर से 20 प्रतिशत था परन्तु सृजनात्मकता का नहीं था। अनुसंधानकर्ताओं ने पाया कि उच्च सृजनात्मकता वाले समूह की बुद्धिलब्धि 127 थी तथा उच्च बुद्धि वाले समूह की बुद्धिलब्धि 150 थी। इस प्रकार इन दो समूहों की बुद्धिलब्धि में 23 का अन्तर था, परन्तु इनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ समान उच्च स्तर की थीं। यह अवश्य है कि उच्च सृजनात्मक किशोरों का जीवन में सफलता की ओर कम झुकाव रहता है तथा आत्म-अभिव्यक्ति अर्थात् सृजनात्मकता की ओर अभिवृद्धि की ओर अधिक। कहानी कहने में तथा चित्रकथा पूरी करने में उन्होंने अधिक स्वर कल्पनाएँ, हिंसा, मजाक आदि दिखाए। इन दो समूहों की पारिवारिक पृष्ठभूमि में भी अन्तर था। उच्च सृजनात्मक समूह के किशोर ऐसे परिवारों से थे जिनका कम पुस्तकीय ज्ञान था, कम शिक्षा थी तथा जो अपनी माता पर कम निर्भर थे।

टौरेन्स ने भी 1962 व 1964 में इसी प्रकार का शोधकार्य किया और लगभग उपरोक्त ही निष्कर्ष निकाले।

किशोर में सृजनात्मकता का विकास

व्यक्ति सृजनात्मकता कब, कैसे और कहाँ सीखता है? किशोर किन परिस्थितियों में नए विचारों को सीखता है, नए निर्माण करता है? दूसरों के सृजनात्मक व्यवहारों एवं विचारों को ग्रहण करता है? सृजनात्मकता के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण क्या-क्या है? यह व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण क्यों है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे सामने रहते हैं। मानवीय परिस्थितियों में सृजनात्मकता का अत्यधिक महत्त्व है। व्यक्ति इस अपूर्ण संसार मे अपूर्ण आता है। उसका संसार की प्रगति के साथ-साथ विकास होता है। वह चिन्तन, मनन तथा क्रियाओं से घिरा रहता है। इन सब में निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं। उसकी यह आन्तरिक भावना या आवश्यकता होती है कि जो कुछ भी चारों ओर चल रहा है, उसमे वह सक्रिय होकर भाग ले। शैशवावस्था से ही यह भावना व्यक्ति में आ जाती है। आयु के साथ-साथ इस भावना में वृद्धि होती रहती है।

इस भावना की वृद्धि के लिए माता-पिता, अध्यापक एव अन्य प्रौढ़ को सहयोग देना चाहिए।

सृजनात्मकता के विकास के सम्बन्ध में टौरेन्स द्वारा किए गए अध्ययन से ज्ञात होता है कि सांस्कृतिक परिस्थितियो के अनुसार सृजनात्मक चिन्तन एवं निर्माण में अन्तर आता है। अमरीकी समाज मे पाँच, नौ तथा बारह वर्ष की आयु संक्रमण काल है, अतः इस आयु में सृजनात्मकता कम हो जाती है।

आयु का भी सृजनात्मक निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। लेहमन द्वारा किया गया अध्ययन इस पर प्रकाश डालता है। उन्होंने गणित, संगीत, साहित्य, दर्शन, अभिनय, प्रबन्ध, राजनीति आदि के क्षेत्रों में उच्चतम उपलब्धि की आयु जाननी चाही। लेहमन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि व्यक्ति सृजनात्मकता की ऊँचाई पर तीस वर्ष की आयु तक पहुँच जाता है और इस आयु के बाद उसमें कमी आती जाती है। यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी हैं। लेहमन ने यह भी बताया कि इसका कारण केवल आयु सीमा ही नहीं है बल्कि कुछ सामाजिक, संवेगात्मक एवं भौतिक कारक भी हैं जो कि आयु परिवर्तन के साथ जुड़े रहते है।

इन अन्वेषणों से इस बात की अनिवार्यता का पता चलता है कि किशोरावस्था में ही सृजनात्मकता को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

सृजनात्मक किशोर की शिक्षा

शिक्षक का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह बालक का सर्वांगीण विकास करे। उसकी सृजनात्मक प्रतिभा का भी वह विकास करे। सृजनात्मक किशोर का अध्यापन चार चरणों में किया जा सकता है। प्रथम चरण में उन सामान्य एवं विशिष्ट लक्ष्यों का निर्धारण करना चाहिए जो कि सृजनात्मक प्रतिभा को निर्देश दे सकें। दूसरे चरण में उन्हें विद्यालय में सृजनात्मक बालकों को पहचानने का कार्य करना है। तीसरे चरण में उनको सीखने के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करना चाहिए। चौथे चरण में उन बालकों में सृजनात्मकता को उत्तेजित करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो उसे सहज में ही प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं।

सारांश

बीसवीं शताब्दी में मानसिक विकास के अध्ययन के सम्बन्ध में नए आयाम खुले हैं। इस अध्ययन के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह व्यक्ति के अन्य विकासों से सम्बन्धित हैं, मानसिक विकास निरन्तर होता है तथा व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का एक अंग है।

मानसिक विकास के अन्तर्गत (1) स्मृति, (2) कल्पना, (3) भाषा, (4) प्रत्यक्षण, (5) संप्रत्यय, (6) बुद्धि, एवं (7) समस्या समाधायक व्यवहार आते हैं परन्तु ये सभी बुद्धि पर आधारित हैं। बुद्धि की उतनी ही परिभाषाएँ जितने कि उससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक। हम बुद्धि के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं वह उसी बुद्धि के सम्बन्ध में है जो कुछ क्रियाओं द्वारा व्यक्त होती है।

थार्नडाइक के अनुसार बुद्धि के तीन स्तर हैं—(1) अमूर्त बुद्धि-पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अपने को व्यवस्थित करने की क्षमता ही अमूर्त बुद्धि है। यह त्रिमुखी है, स्तर, क्षेत्र और वेग उसके तीन भिन्न आयाम हैं। (2) सामाजिक बुद्धि—अपने को समाज के अनुकूल व्यवस्थित करने की योग्यता ही सामाजिक बुद्धि है। (3) गामक बुद्धि—यह बुद्धि व्यक्ति को यन्त्रों से सुव्यवस्थित करने की योग्यता प्रदान करती है।

बुद्धि परीक्षा

सर्वप्रथम फ्रांस के शिक्षा अधिकारियों के सम्मुख यह प्रश्न आया कि बालक असफल क्यों हो जाते हैं? यदि योग्यता का अभाव इसका कारण है तो उसे कैसे नापा जाए। पश्चिम में बिने साइमन ने इस परीक्षण को किया, भारत में डॉ० भाटिया, जलोटा आदि अनेक मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि परीक्षणों का निर्माण किया है।

मानसिक आयु और बुद्धिलब्धि

बुद्धिलब्धि निम्न सूत्र द्वारा जानी जाती है—

$$\text{बुद्धिलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{जन्म आयु}} \quad I.Q. = \frac{M.A.}{C.A.}$$

बुद्धि के कारक सिद्धान्त

बुद्धि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण उनके स्वीकृत आधारभूत तत्वों की संख्या के अनुसार किया गया है। ये सिद्धान्त चार हैं—

1. एक कारक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि एक पूर्ण, अविभाज्य इकाई है।

2. द्वि-कारक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक स्पीयरमैन के अनुसार बुद्धि दो भागों, सामान्य एवं विशिष्ट से मिलकर बनी है।

3 त्रि-कारक सिद्धान्त—यह सिद्धान्त स्पीयरमैन के द्वि-कारक सिद्धान्त का संशोधन है। इसके अनुसार सामान्य एवं विशिष्ट के मध्य एक सर्वतोमुखी योग्यता होती है।

4. बहु कारक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक स्पीयरमैन के अनुसार बुद्धि नौ प्रारम्भिक मानसिक योग्यताओं से मिलकर बनी है—दृष्टि, प्रत्यक्ष ज्ञान, संख्यात्मक, तार्किक, धारा प्रवाहिता, स्मृति, आगमनात्मक, निगमनात्मक, समस्या समाधान।

वंशानुगतता तथा मानसिक योग्यता—मनुष्य की सामान्य योग्यता वंशानुगत है, वातावरण उसका विकास मात्र करता है। सह-सम्बन्ध प्रविधि, परिवार-इतिहास अध्ययन, यमजैक नियन्त्रण पद्धति, पोष्य बालकों पर प्रयोग, आदि विधियाँ इसकी पुष्टि करती है।

बुद्धिलब्धि पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि पोलीनीशिया के बालक सुन्दरता मे अन्तर नही कर सकते, जबकि अंग्रेज बालक कर लेते हैं।

मानसिक वृद्धि—तत्सम्बन्धी सामग्री कई वर्षो के परीक्षण के पश्चात् प्राप्त होती है। प्रयोग मे लाए जाने वाले मानकीकृत परीक्षण निम्न हैं—शब्द भण्डार परीक्षण, सादृश्य परीक्षण, समापन परीक्षण, विलोम परीक्षण। विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक योग्यताओं के विकास की गति मे अन्तर होता है।

बाल्यावस्था में व्यक्ति जो कुछ सीखता है, वह अनुकरण का परिणाम होता है। किशोरावस्था मे वह अन्य बौद्धिक क्षेत्रों में भी प्रगति करता है। सृजनात्मकता उन्ही में से एक है। उत्पादन या प्रतिफल सृजनात्मक है या अनुकरण, यह उस प्रक्रिया पर निर्भर करता है, जिसका कि वह उपयोग करता है। सृजनात्मक प्रक्रिया का अर्थ है, "असम्बन्धित वस्तुओं मे सम्बन्ध स्थापित करना।" हैस सेलें के अनुसार "सृजनात्मक निर्माण मे नवीनता, सत्यता, उपयोगिता एवं विस्मय होना चाहिए।"

सृजनात्मकता का गुण कम या अधिक मात्रा में सभी व्यक्तियों मे पाया जाता है। उचित शिक्षा द्वारा उसमें वृद्धि की जा सकती है। सृजनात्मकता के चार उपागम हैं—प्रथम उपागम के अनुसार सृजनात्मकता वह मानसिक प्रक्रिया है जो दो या दो से अधिक असम्बन्धित वस्तुओं को देखती है और फिर उनका संश्लेषण कर नए सम्बन्ध स्थापित करती है। दूसरे उपागम के अनुसार सृजनात्मकता नवीन उत्पादन मे निहित होती है। तीसरे उपागम के अनुसार सृजनात्मकता विशिष्ट मानसिक योग्यताओं में होती है। ये योग्यताएँ हैं—धारा प्रवाहिता, लचीलापन, मौलिकता, पुनर्परिभाषा एवं समस्याओं की पहचान। चौथे उपागम के अनुसार यह सृजनशील व्यक्तित्व मे निहित है। टोरेन्स ने अपने परीक्षणों के आधार पर सृजनशील व्यक्तित्व की चौरासी विशेषताओं की सूची बनाई है।

सृजनात्मक प्रक्रिया की चार प्रमुख आवश्यकताएँ हैं—

1. आस-पास स्थित वस्तुओं को पूर्वाग्रहों एवं रूढ़ि युक्तियों से मुक्त होकर खुलेपन से देखना।

2. उन अनुभवों को केन्द्रित करना
3. स्व अनुशासन एवं शान्ति
4. समापन का उचित बिन्दु योजना।

बुद्धि और सृजनात्मकता में सह-सम्बन्ध है। एक बिन्दु विशेष तक यह साथ-साथ चलती है, फिर पृथक् हो जाती है। यह बिन्दु बुद्धिलब्धि 120 के आस-पास होता है। अत्यधिक सृजनशील एवं अत्यधिक बुद्धिमान व्यक्तियों की शैक्षणिक उपलब्धि, व्यावसायिक चयन, व्यक्तित्व की विशेषताओं तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि में अन्तर होता है। किशोर की सृजनशीलता अध्यापकों एवं प्रौढ़ों के सहयोग से विकसित हो सकती है। लेहमन के अनुसार—"व्यक्ति सृजनात्मकता की ऊँचाई पर तीस वर्ष की आयु तक पहुँच जाता है फिर यह घटती जाती है।

किशोरावस्था में ही सृजनशीलता को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इसके लिए उचित अध्यापन होना चाहिए। इसके लिए लक्ष्यों का निर्धारण, प्रतिभा की पहचान, उचित वातावरण एवं उत्प्रेरणा अनिवार्य है।"

□□

अध्याय 5

संवेगात्मक विकास
(Emotional Development)

संवेगात्मक विकास

सामान्य अथवा असामान्य व्यक्तित्व में शैशवावस्था से वृद्धावस्था तक संवेगात्मक विकास किस प्रकार होता है, इसके सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। आधुनिक युग में बालक के बौद्धिक, नैतिक या सामाजिक पहलू पर विचार करने के स्थान पर अब उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार किया जाने लगा है। विकासमान व्यक्तित्व में संवेगों का महत्त्व एवं विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। विकसित होते लड़के-लड़कियों को उचित निर्देशन देने में इसकी आवश्यकता पड़ती है। इस अध्याय में संवेग क्या है? उनकी उत्पत्ति किन दशाओं में होती है? उनका विकास कैसे होता है? प्रमुख संवेग कौन-कौन से है? किशोरावस्था में उनकी अभिव्यक्ति कैसे होती है? उन पर नियन्त्रण कैसे किया जा सकता है? आदि विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा।

संवेग

आर्थर टी. जर्सील्ड के अनुसार "संवेग" शब्द किसी भी प्रकार से आवेश में आने, भड़क उठने अथवा उत्तेजित होने की दशा को सूचित करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेग के अन्तर्गत भाव, आवेग तथा शारीरिक एवं दैहिक प्रतिक्रियाएँ सभी आते हैं। ये भाव, आवेग तथा दैहिक प्रतिक्रियाएँ विभिन्न रूप में मिश्रित होकर तथा विभिन्न श्रेणियों में प्रकट होती हैं। इन भावों और आवेगों को भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं। हम प्रतिदिन व्यवहार में ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो संवेगात्मक दशा को सूचित करते हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसी संवेगात्मक दशाएँ भी होती हैं जिनको हम विशिष्ट नाम नहीं दे पाते और किसी संवेग को व्यक्त करने के लिए उसे उपयुक्त नाम देने में अपने को असमर्थ पाते हैं। "भाव" संवेग का अंग होता है। भाव शारीरिक दशा पर निर्भर न होकर मानसिक दशा पर निर्भर होता है। वह ऐसा स्वतन्त्र मानसिक अनुभव है, जो संवेग के कारण उत्पन्न होता है, जबकि संवेग में भाव, बाह्य उत्तेजना तथा शारीरिक अवयवों और ग्रन्थियों के परिवर्तन सभी शामिल हैं।

संवेगों की जागृति

संवेग एक ऐसी मिली जुली अनुभूति है, जो बहुत-सी परिस्थितियों में उत्पन्न होती

है। अत: किसी भी संवेग अथवा संवेगों के विशिष्ट कारणों को बताना अत्यन्त कठिन है। संवेगों के कारणों को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रतिदिन के जीवन में आने वाली आवश्यकताओं, प्रेरणाओं, इच्छाओं तथा लक्ष्यों एवं उनके मार्ग में आने वाली बाधाओं का सम्यक् अध्ययन करें। किसी भी व्यक्ति के संवेग बाह्य उत्तेजना, किसी बाह्य विषय वस्तु अथवा घटना द्वारा जाग्रत किए जा सकते हैं। किन्तु कभी-कभी संवेगों का कारण—व्यक्ति की अपनी मानसिक दशा या व्यक्तिगत घटना भी हो सकती है। अत. संवेगों के उत्पन्न होने के कारण बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही हो सकते हैं। जैसे यदि किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान पर प्रहार होता है अथवा शरीर पर आक्रमण होने की सम्भावना है, तो संवेगों का भड़क उठना स्वाभाविक है। इस प्रकार की घटना से प्राय: निषेधात्मक संवेग, जैसे भय, क्रोध, चिन्ता, आक्रामकता या अपमान आदि की मिली जुली अनुभूति होती है। संवेगों के उत्पन्न होने का कारण कोई ऐसी घटना अथवा ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती है, जो व्यक्ति के लक्ष्य प्राप्ति में बाधा डालती हैं।

वे परिस्थितियाँ जो संवेगों को उद्दीप्त करती हैं, व्यक्ति की रुचि और उसकी योग्यता-वृद्धि के साथ बदलती रहती है। शैशव काल में केवल वे उद्दीपन, जो बालक को स्पष्टत: शारीरिक हानि पहुँचाते हैं अथवा वे परिस्थितियाँ जो उसकी सुख-सुविधा में बाधा पहुँचाती हैं, बालक में संवेगों को उत्पन्न करने का कारण बन जाते है। जैसे-जैसे शिशु बड़ा होता जाता है, उसका कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है और उसी अनुपात में उसमें अधिक संवेगों के अनुभव करने की क्षमता भी बढ़ती जाती है।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि किसी भी घटना अथवा वस्तु के प्रति व्यक्ति की संवेगात्मक प्रतिक्रिया, घटना के स्वरूप और स्वयं व्यक्ति की अन्तर्दशा—दोनों पर ही निर्भर होती है। एक ही घटना एक व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सकती है और दूसरे व्यक्ति के लिए दुःख का कारण बन सकती है। अत: यह सब व्यक्ति की मनोदशा पर ही आधारित है। यदि किसी बालक को कार्यवश घर से बाहर जाना है, और उसी समय वर्षा होने लगती है तो वह खिन्न हो जायेगा, जबकि दूसरा बालक जो गर्मी की तीव्रता से ऊब चुका है, वह वर्षा को देख दौड़कर बाहर आएगा और वर्षा में खूब आनन्द मनायेगा। यहाँ एक ही वर्षा की घटना विभिन्न मानसिक दशा में विभिन्न प्रकार के दु:ख और सुख के संवेगों का अनुभव कराती है।

कोई भी घटना जो बालक के जीवन में घटित होती है, वह बालक में किस संवेग—भय, सुख-दुःख अथवा घृणा को उत्पन्न करेगी, यह इस बात पर आधारित होगा, कि बालक उस घटना में कैसे और कितना लाभान्वित होगा अथवा उसे क्या हानि उठानी पड़ेगी। वह अपने से स्वयं क्या आशा रखता है अथवा दूसरे उससे क्या आशा करते होंगे। संवेगों को जाग्रत करने की दूसरी परिस्थितियाँ है—रुचि और भय। जैसे-जैसे रुचि बदलती जाती है और व्यक्ति की योग्यता में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे बहुत से ऐसे संवेगों को ग्रहण करने की क्षमता उनमें घटती जाती है, जो कि बाल्यकाल में बहुत अधिक तीव्र होते है। उदाहरण के लिए, बालक अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ में अपने भाइयों के और बहिनों के प्रति ईर्ष्या करता है किन्तु, जैसे ही वह बाहर समाज में आने जाने लगता है, उसकी रुचियों और स्वार्थों का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, वैसे ही उसकी ईर्ष्या भावना में भी किसी मात्रा तक कमी होती जाती है। किन्तु यह कहना भी असंगत होगा कि संवेग

उम्र के साथ कम होते जाते है। वस्तुत. होता यह है कि पुरानी संवेगात्मक ग्रहण शक्ति नवीन संवेगों को ग्रहण करने योग्य हो जाती है और पुराने संवेगों का स्थान नए संवेग ग्रहण कर लेते हैं। वयस्क भी संवेगों से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कि छोटा बालक।

कुछ ऐसे संवेग होते है, जो व्यक्ति के विकास की प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक दशा में व्यक्ति द्वारा अनुभव किए जाते है; जैसे "डर" यकायक तीव्र आवाज से प्रत्येक व्यक्ति डर जाता है। यह संवेगात्मक अनुभव सभी अवस्था के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। कुछ ऐसे भी संवेग हैं, जो किसी क्षेत्र तक ही सीमित रहते है। वे तभी अनुभूत होते है जब बालक एक विशेष परिपक्वावस्था पर पहुँच जाता है।

संवेग एवं व्यवहार

संवेग किसी न किसी रूप मे, कम या अधिक मात्रा मे सभी प्रकार के व्यवहार में पाए जाते है।

संवेगात्मक विकास

सवेग के आत्मनिष्ठ (subjective) पक्ष में आयु के साथ परिवर्तन होते हैं या नहीं, यह कहना स्वभावतः असम्भव-प्रायः है। यह सम्भव है कि कुछ सवेग एक आयु से दूसरी तक उचित मात्रा में स्थिर रूप मे बने रहते है, और कुछ सवेगों के लक्षणों मे परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार एक कुण्ठित शिशु क्रोध अनुभव करता है, समान परिस्थितियों में कुण्ठाग्रस्त वयस्क भी शायद ऐसा ही अनुभव करे। जो विनाशकारी भय बच्चे पर छा जाता है, वह वयस्क लोगों के आकस्मिक तर्कहीन असमयोचित आतंक के समान होता हैं किन्तु यह सम्भव है कि जो संवेग समूह काम के साथ सम्बन्धित है उसका अनुभव बच्चे और वयस्क में अधिक भिन्न होता है।

आभ्यंतरिक सांवेगिक अनुभव के विषय मे जो कुछ भी सत्य हो; यह निसंदिग्ध बात है कि संवेगात्मक अभिव्यक्ति के प्रकार मे विशेष परिवर्तन होता है। उदाहरणत. बहुत छोटे शिशु के संवेगों में प्रायः कुछ भी अन्तर नहीं देखा जा[illegible] देखकर हम कह सकते है कि वह उत्तेजित है परन्तु [illegible] कठिन होता है, कि उत्तेजना का वर्णन सुखकर है अथवा दुःखकर। कुछ बड़े होने पर हम सरलता से सुखकर और दुःखकर संवेगों को अलग से पहचान सकते हैं परन्तु क्रोध और भय के बीच भेद करना इतना सरल नही है, और न ही स्नेह (affection) अथवा हर्ष (joy) मे भेद करना ही आसान है, जैसे-जैसे बच्चा आयु में बढ़ता है, वह विभिन्न मात्रा अथवा गुण का सांवेगिक व्यवहार व्यक्त करता है। दुःखकर संवेग केवल दुःखकर ही नहीं होता। यह भय या विरुचि (disgust) भी हो सकता है अथवा क्रोध या ईर्ष्या अथवा इनमें से कई एक का सम्मिश्रण। सुखकर उत्तेजना के भी भेद कर सकते हैं यथा हर्ष, उल्लास (elation) या स्नेह; और स्नेहभावना के ये अनेक भेद देखे जाते हैं, यथा, जो स्नेह माता के प्रति व्यक्त होता है, बड़े भाई के प्रति या समवयस्क मित्र के प्रति व्यक्त स्नेह से बहुत भिन्न हो सकता है। अधिक परिपक्व होने पर किशोर एक विस्तृत क्षेत्र के संवेगों को अनुभव करता है और उनको व्यक्त भी कर सकता है, जिनके सूक्ष्म भेदों-प-भेदों को सूचित करने के लिए सैकड़ों शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

संवेग अनुभवों के विकास में सूक्ष्म विभेदक अनुभवों के साथ-साथ उनकी अभिवृद्धि में संयम की वृद्धि होती है। हर्ष, भय या क्रोध की सम्पूर्ण अनवरुद्ध अभिव्यक्ति बहुत कम बार देखी जाती है। अब हर्ष का व्यवहार अट्टाहास के स्थान पर मन्द मुस्कान से व्यक्त होता है। क्रोध भी उच्च चिल्लाहट, लात मारने या दाँत काटने के स्थान पर भृकुटि या मुख की दृढ़ मुद्रा से प्रकट होता है। भय की अभिव्यक्ति का अत्यधिक निरोध होता है। अब वह गौण चिह्नों से ही व्यक्त होता है, यथा, स्वेद प्रवाह, विवर्णमुख या कँपकँपी।

कुछ लोगों का विचार है कि कम से कम अपनी सभ्यता में संवेगों की अभिव्यक्ति में एक निरन्तर संघर्ष होता रहता है। जैसे-जैसे हमारी आयु बढ़ती है, हम अन्य लोगों के सामने अपने संवेगों को छिपाने में विशेष कुशल हो जाते हैं। इस अवधि में हम एक-दूसरे की संवेग-निरोध की रक्षा पंक्ति को बींधने में भी अधिक कौशल अर्जित करते हैं। अब हम अरुचि या भय के अचेतन सूचकों को समझने में अधिक दक्ष हो जाते हैं। अब हम अधरोष्ठ दृढ़ता, त्वचा विवर्णता अथवा थूक निगलने के चिह्नों के प्रति अधिक सावधान रहने हैं।

1. क्रोध और आक्रामकता (Anger and Hostility)—जिन प्रबल संवेगों के साथ हमें बहुत बार निबटना पड़ता है, उनमें क्रोध की आवृत्ति अत्यधिक होती है। यह भी स्वाभाविक बात है कि लोग भय अथवा काम प्रेरणाओं की अपेक्षा क्रोध को अधिक सरलता से स्वीकार करते हैं। अथवा यह भी संभव है कि हमारी सभ्यता में क्रोध ही अधिक प्रचलित संवेग है।

जब बच्चा परिपक्व होता है, तब क्रोध उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में भी विशेष अन्तर देखा जाता है। जैसा हमने ऊपर कहा है, तब उसके अवखेद (annoyance) के प्रदर्शन में भी विशेष परिवर्तन होता है। जब कोई वस्तु छोटे बच्चे की स्वच्छन्द शारीरिक गति में बाधा उत्पन्न करती है, तब उस बच्चे पर क्रोध का दौरा चढ़ता है। यदि आप उसकी बाहों को सीधा पकड़ते है अथवा उसको वस्त्र पहनाते समय उसकी बाहों को इधर-उधर हिलाते हैं, तब वह क्रुद्ध होता है और अपना क्रोध प्रकट करने के लिए वह चिल्लाता है तथा शरीर को ऐंठ लेता है, मुख लाल कर लेता है, और सब तरफ हाथ-पैर पटकता है परन्तु यह क्रोध का व्यवहार अवखेद की तात्कालिक स्थिति के समाप्त होने के अनन्तर तुरन्त समाप्त हो जाता है।

प्राग्विद्यालयी बालक क्षणिक शारीरिक बाधा के प्रति अधिक सहनशील होता है परन्तु यदि कार्य की दीर्घकालिक इकाई में बाधा होती है, तब उसको अत्यधिक झुंझलाहट हो सकती है। जब उसके कार्यक्रम में बाधा डालकर उसका मुख धोने के लिए अथवा उसको शौच के लिए उठाकर ले जाते है तब वह उग्र रोष प्रकट करता है। वह बहुत विरोध करता है, रोता, चिल्लाता है, वयस्क के हाथों से छूटकर भागना चाहता है, हठ करता है, मचलने लगता है। इस प्रकार का व्यवहार दो वर्ष की आयु तक उग्रतम रूप में प्रकट होता है। इस अवस्था में क्रोध का सामाजीकरण होता है और बच्चों में बार-बार कलह होता है। शुद्ध आवृत्ति के दृष्टिकोण में वास्तविक बात यह है कि कलहप्रियता 3–4 वर्ष की आयु में चरम सीमा पर पहुँच जाती है घनिष्ठ साथियों में ही अधिक कलह

की सम्भावना होती है। इस प्रकार के अधिकतर कलह बहुधा खिलौना या अन्य "सम्पत्ति" को हथियाने के लिए संघर्ष से उत्पन्न होते हैं।

प्रारम्भिक बचपन में कलह प्राय संक्षिप्त और सामयिक होते हैं; जब तक वयस्क लोग उनके प्रति ध्यान नहीं देते और अपनी टाँग नहीं अड़ाते। जब वयस्क बीच में आते हैं, तब जोखिम बढ़ जाती है और कलह दीर्घकालिक हो सकता है। इन कलहों में प्रायः जोशपूर्ण चिल्लाना, लात घूसा मारना व कभी-कभी दाँत काटना व थूकना भी देखा जाता है। इनमें गाली गलौच का प्रयोग भी होता है।

प्राग्विद्यालयी बच्चों में क्रोध के अतिरिक्त एक प्रकार की गौण आक्रामकता भी होती है। आक्रामकता बालकों में बालिकाओं की अपेक्षा अधिक होती है।

प्रारम्भिक विद्यालय की अवधि में क्रोध प्राय एक सामाजिक विषय बनता जाता है। यह सच है कि इच्छा के विरुद्ध कार्य करने वाले यांत्रिक खिलौनों तथा सरलता से न खुलने वाली गाँठ आदि पर भी क्रोध होता है किन्तु सामाजिक अवखेद (annoyance) अब सबसे प्रमुख होता है। इस अवस्था में बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में अधिक कलह होता है और वे संघर्ष भी अधिक प्रत्यक्ष रूप से करते हैं। ऐसे कलह में कभी जमकर युद्ध होता है, प्रतिकार का कार्यक्रम ठीक किया जाता है, एवं अत्यधिक अपमानजनक शब्दों तथा गाली-गलौच का खुल कर विनिमय होता है।

किशोरावस्था में शारीरिक कुंठाओं का सहन करना बहुत कठिन होता है। यांत्रिक विफलता से भी गंभीर अवखेद (annoyance) की उत्पत्ति होती है। जूते का टूटा फीता, न चलने वाली मोटर गाड़ी आदि के कारण उग्र मनोदशा के तीव्र प्रदर्शन का अवसर बन जाता है किन्तु किशोरावस्था में इस प्रकार की भौतिक परिस्थितियों का महत्त्व कम होता जाता है। अब सामाजिक अपमान अधिक देर तक चुभता रहता है। अनुचित व्यवहार के प्रति रोष होता है। झूठी बात करना, व्यंग्य, तानाशाही आज्ञा, दोष दिखाना, बहिन-भाइयों के सद्‌गुणों का स्मरण कराना आदि किशोर युवक की झुँझलाहट का कारण बन सकते हैं। इसी अवस्था में माता-पिता के अवखेदक आचरण या लक्षण पर भी रोष होता है, चाहे उनके कारण उक्त किशोर के अपने कार्य में किसी प्रकार का व्यतिकरण (interference) न भी हो।

सबसे तीव्र रोष संभवत उस समय होता है जब किसी पार्टी में उसको बुलाया नहीं जाता है; उसको झिड़की दी जाती है या सामान्य महत्त्वहीन समझा जाता है। इस अवस्था में ये परिस्थितियाँ बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में अधिक देखी जाती हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के व्यवहार में संघर्ष की प्रवृत्ति कम पाई जाती है। जहाँ बालक प्रायः परस्पर हाथापाई से वारा न्यारा चाहते हैं, वहाँ बालिकाएँ एक तीसरे व्यक्ति के पास शिकायत कर सकती हैं अथवा उनसे अपनी आवश्यकताओं के प्रति संवेदना या समर्थन प्राप्त करने की इच्छा रखती हैं। दोनों प्रकार के लैंगिक दलों में शाब्दिक अभिव्यक्ति अधिकाधिक बार देखी जाती है। उन खेलों के सिवा जहाँ शारीरिक सम्पर्क का अवसर होता है, उच्च विद्यालयी छात्रों में चाहे वे बालक हों या बालिकाएँ, रोष की अभिवृत्ति का मुख्य साधन शाब्दिक आक्रामकता होती है। लगभग इसी आयु में अनेक छात्र अपने "मिजाज" को संयत रखने अथवा रोष की बाह्य अभिव्यक्ति का विरोध करने में कुशलता

प्राप्त करते हैं। अनुभवों की वृद्धि के साथ कुछ व्यक्ति तो क्रोध के प्रमुख अर्ध-स्वचालित सूचकों पर भी निरोध करने योग्य हो जाते हैं। वह एक प्रकार से मौखिक विस्फोट और कोपकंपी को रोकना सीख लेते हैं और धीर-संयत ढंग से बोलते हैं।

किशोर अवस्था में एक अद्भुत मात्रा की शत्रुता या आक्रामकता का निरीक्षण देखा जाता है। किशोर कल्पना अथवा प्रक्षेपण के अध्ययनों में विद्वेष या शत्रुता ही सर्वाधिक प्रभावशाली विषय-वस्तु होती है। साइमण्ड्स[1] के अध्ययन में लगभग एक चौथाई कल्पनाओं का विषय था, *शत्रुता, प्रतिकार, अथवा किसी को उसके उचित स्थान में धर रखना।* इसमें भी आश्चर्य हो सकता है, कि शत्रुता की कल्पनाएँ भावना अथवा काम से कहीं अधिक थीं। आक्रामक विषयों की कल्पनाएँ प्रायः कोमल कल्पनाओं से एक और चार के अनुपात में अधिक थीं।

शत्रुता का एक अधिक विस्तृत भाग माता-पिता के विरुद्ध देखा जाता है। यह विशेष रूप से उत्तर-किशोर अवस्था में देखा जाता है। इस शत्रुता का उद्गम प्राय. उस चिरंतन समस्या में होता है, जिसमें माता-पिता द्वारा अत्यधिक, प्रत्यक्ष आज्ञा, अधिक उपदेश, धूड़-ताड़ अथवा रोब दिखाया जाता है।

पहली बार देखने से कि किशोर अवस्था में कल्पना का अत्यधिक अंश शत्रुतापूर्ण होता है, हमें परिस्थिति विशेष भयावह तथा खेदजनक प्रतीत होती है। हम ऐसा सोच सकते हैं कि उसका आभ्यंतरित कल्पना-लोक अधिक उन्नत और महत्त्वपूर्ण दिशा की ओर विस्मित होना चाहिए अथवा अधिक सुखद और रचनात्मक कल्पनाओं से परिपूर्ण होना चाहिए किन्तु इस विषय में क्या हो सकता है अथवा क्या करना चाहिए, इन विषयों पर इस अवस्था में निर्णय नहीं लिया जा सकता। तो भी निश्चय ही अध्यापक को इस परिस्थिति की जानकारी होनी चाहिए। इन समस्याओं की संवेदनात्मक अभिज्ञता उसे कक्षा में सहायक हो सकती है।

2. भय और आकुलताएँ (Fear and anxiety)—शिशु में किसी तीव्र अथवा अप्रत्याशित उत्तेजक के समक्ष भय अनुभव करने की सम्भावना होती है। उच्च कोलाहल, प्रकाश की आकस्मिक चमक, शरीर का आकस्मिक हिलना, एक प्रबल धक्का जिसके लिए वह तैयार न था, इनमें से प्रत्येक घटना छोटे शिशु में भय की अनुक्रिया प्रेरित कर सकती है।

बड़ा होने पर वह नवीन प्रकार के भय अर्जित कर सकता है। उसको ऊँचे स्थान से, अंधकार से, और अपरिचित व्यक्तियों से भी भय लगने लगता है। कुछ और बड़ा होने पर वह काल्पनिक जीवों से, एकान्त से, अथवा किसी अन्य प्रकार के सामान्य भय से आतंकित हो सकता है।

जैसे-जैसे नवीन प्रकार के भय विकसित होते हैं, कुछ पुराने भय समाप्त होते जाते हैं। उच्च कोलाहल का भय कम सांवेगिक प्रभाव करता है। अपरिचित लोगों से अब प्राथमिक बालक सामान्यतः भय नहीं खाता और इसी प्रकार उच्च स्थानों के प्रति भी कुछ सहनशीलता विकसित हो सकती है।

---

1. साइमण्ड्स, पी. एम.—इन्वेन्टरी ऑफ थीम्स इन अडोलेसेन्ट फैन्टेसी, 1945

जो परिवर्तन ऊपर कहे हैं, उनमें सीखने का और अनुभव का निस्सन्देह अधिक प्रभाव होता है। अनुभव के द्वारा बालक नवीन भयप्रद परिस्थितियों को पहचानने लगता है और कुछ प्रकार के खतरों का अध्ययन भी हो जाता है किन्तु हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि सभी प्रकार के परिवर्तन का आधार शिक्षा होती है अथवा अनुभव। अपरिचित लोगों का भय इतनी अधिक बार देखा जाता है कि कुछ विचारकों का विश्वास है कि इसका आधार परिपक्वता मात्र है। यह बात तो निश्चित है कि भयप्रद परिस्थितियों के परिवर्तन का आधार सर्वदा बच्चे का प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ अनेक बच्चों के जीवन में जंगली पशुओं का भय रहता है, परन्तु उनमें से बहुत कम ने पशुओं द्वारा आक्रमण अथवा व्याकुलता का अनुभव किया होता है।

संभवतः आयु और परिपक्वता मुख्य रूप से बोध की क्षमता की वृद्धि करते हैं और इसके कारण नवीन प्रकार के प्रत्यक्ष अथवा शंकित खतरों से भय का उद्भव होता है। उदाहरण के लिए, रोग के ज्ञान के बिना उसका भय प्रायः असंभव है और इसी के परिवर्तित रूप में रोग के ज्ञान एवं बोध से उसका भय उत्पन्न हो सकता है और संभवतः उसके सूचक चिन्ह भी उदित हो सकते हैं। अनेक लोगों का मत है कि चिकित्सा के छात्रों के रोग प्रायः उनके पठित विकृति विज्ञान (Pathology) के अनुरूप चलते हैं।

भय में परिवर्तन के विषय में, जो कुछ भी कहा गया है, वह सब कुछ आकुलता के परिवर्तन के विषय में भी उपयुक्त है। जबकि प्रथम श्रेणी के बच्चों को अपनी आकुलताओं की सूची बनाने को कहा जाता है, तब वे बहुधा दुर्घटना, बाल अपहरण अथवा अन्य प्रकार के शारीरिक आघात तथा हानि की चर्चा करते हैं। नौ वर्ष की आयु तक अंधकार का भय एक समस्या स्वरूप बना रहता है और माता-पिता की मृत्यु की संभावना का भय भी महत्त्व ग्रहण करने लगता है। किन्तु प्रारम्भिक विद्यालय की अवधि के अन्त तक यह भय बहुत कम हो जाते हैं। अब बच्चे उन बुरे अभ्यासों से व्याकुल होते हैं, जिनको तोड़ना उनके बल से बाहर होता है। लगभग एक तिहाई बच्चे कहते हैं कि उनको दाँतों से नख काटने की आकुलता सताती है और आयु में बड़े बच्चों को यह और भी अधिक व्याकुल करती है।

चौथी श्रेणी में हमें विद्यालयी विषयों की आकुलता का संकेत प्राप्त होता है और गणित तथा भूगोल की अधिक चर्चा होती है। कुछ बच्चों को इस अवस्था में भी अपने व्यावसायिक जीवन की चिन्ता होती है। बाद में इन विषयों का महत्त्व बढ़ जाता है। उच्च विद्यालय तथा कालेज के छात्रों में पाठ्यविषय सम्बन्धी आकुलता का भाग अधिक होता है। विद्यालयी विफलता की चर्चा विशेषतया उच्च विद्यालय तथा कालेज के छात्रों में प्राप्त होती है। सामाजिक स्तर का ह्रास, सामाजिक भद्दापन अशिष्ट व्यवहार प्रायः उच्च विद्यालयी छात्रों को आकुल करते हैं और कालेज में भी ये समस्यात्मक बने रहते हैं। उत्तर किशोरावस्था में आर्थिक विषयों की चर्चा बहुत बार होती है। कालेज के छात्रों में भी शैक्षिक विफलता का भय विस्तृत होता है और आर्थिक विषय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इस उच्च विद्यालय तथा कालेज की अवधि में कुछ नैतिक अयोग्यता और धर्म अथवा पर्याप्त जीवन दर्शन के विषय में आकुलता प्रकट होती है। किशोरावस्था [illegible] विषयों पर चिन्ता और अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगती है।

3. हर्ष अथवा प्रसन्नता—जब किसी बच्चे को जीवन के अधिक आनन्दमय दिन का वर्णन करने को कहा जाता है, तब वह अनेक प्रकार की घटनाओं का स्मरण कर सकता है। बारह वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिए आनन्दपूर्ण स्मृतियों का उत्कृष्ट अवसर किसी छुट्टी अथवा उत्सव की घटना होती है। बारह वर्ष के अनंतर इन दिनों की आकर्षकता कुछ कम हो जाती है परन्तु इनकी चर्चा होती रहती है। बारह वर्ष से अधिक आयु की बालिकाएँ अत्यधिक बार सम्बन्धियों अथवा मित्रों की घनिष्ठ सहचारिता की घटनाओं को सूचित करती हैं। प्रसन्नता का यह उद्गम छोटी आयु की बालिकाओं में भी उच्च कोटि में देखा जाता है परन्तु बालकों के लिए इसका महत्व सामान्य सा होता है। पर्यटन, कैम्पिंग (camping) या किसी मनोरंजन की चर्चा भी सभी आयु के बालक बालिकाओं में देखी जाती है और पन्द्रह वर्ष से ऊपर के बालकों में तो ये उत्कृष्ट घटनाएँ बन जाती हैं। बालक प्रायः खेल-कूद की भी चर्चा करते हैं, और बालक की आयु के साथ इसका महत्व भी बढ जाता है। पन्द्रह वर्ष से पहले की आयु में बहुत कम देखे जाने वाले प्रसन्नता के दो स्रोत पन्द्रह वर्ष के बाद महत्व प्राप्त करने लगते हैं। ये हैं विद्यालय के भीतर या बाहर सफलता अथवा उपलब्धियों की स्मृतियाँ अथवा इस प्रकार की घटनाएँ जिनका लाभ मुख्यतः व्यक्तिगत की अपेक्षा सामान्य होता है, यथा युद्ध की समाप्ति।

4. स्नेह—जैसे-जैसे बच्चे का परिचय अधिक लोगों से होता है, वैसे-वैसे उसके स्नेह पात्रों का समूह भी बढ़ता है। निश्चय ही इस अवस्था में इनमें से कुछ समूह से बाहर हो जाते हैं और अन्य समूह के अन्दर प्रवेश करते हैं। नवीन मित्र अथवा प्रेमी-जन पुराने का स्थान ग्रहण कर लेते हैं किन्तु अधिकतर नवीन मित्र पुराने मित्रों के साथ दुर्घटनाओं के अभाव में घुल-मिल जाते हैं। माता-पिता के प्रति स्नेह बना रहता है और उसके साथ अपने खेल के साथियों तथा अन्य व[illegible]
के पुराने मित्रों के प्रति स्नेह प्रायः कालेज के मि[illegible]
एक प्रेम-पात्र के प्रति श्रद्धा अनिवार्य रूप से घर के प्रति प्रेम या अपनी मंडली या कार्यालय के मित्रों के प्रति स्नेह को कम नहीं करती।

यद्यपि नवीन मित्र प्रायः पुराने मित्रों का स्थान अनिवार्य रूप से ग्रहण नहीं करते तथापि यह सत्य है कि स्नेह-संबंध चक्रीय क्रम के अनुसार चलते हैं और अन्त में शिथिलता अथवा अलगाव भी हो सकता है।

बहुत अधिक बार पहला-पहला स्नेह अतिरेक भरा एवं अयथार्थ होता है। प्रेम के कारण बच्चे को माता-पिता प्रायः सम्पूर्ण आदर्श लगते हैं। अपने चाव के कारण वह नवीन मित्र को इस प्रकार से विभूषित देखता है, जिस प्रकार कोई मनुष्य अधिक देर तक दिखाई नहीं दे सकता है। जब भ्रम का अनिवार्य निवारण होता है तब परिणाम स्वरूप विराग और क्रोध में स्नेह की पुनरावृत्ति असंभव हो सकती है। किन्तु सौभाग्य से इस दोलन के अनन्तर सामान्यतः एक अधिक पूर्ण एवं सहनशील बोध के आधार पर एक अधिक यथार्थ स्नेह का सम्बन्ध पनपता है। माता-पिता में त्रुटियाँ होती हैं, परन्तु उनमें अनेक सद्गुण और विस्तृत आकर्षकता भी होती है। हमारा मित्र हमें अनेक प्रकार से व्याकुल तथा उत्तेजित कर सकता है परन्तु अपनी मानवता के विचार से वह एक आश्चर्य-जनक व्यक्ति है।

जब तक ये शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं, आयु के साथ बच्चे के मित्रों का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। स्वभावतः कुछ मित्र अलग हो जाते हैं तथा अन्य मित्राचार पुराने प्रतिमान के अनुकूल ही होता है। प्रत्येक नवीन मित्रता के संग स्नेह का दोलन अतिरेक से भ्रम-निवारण की ओर और उक्त भ्रम हीनता से एक संतुलित अवस्था प्राप्त करना है किन्तु मित्रों के संबंध समूह में एक वर्धमान, यथार्थवादी मूल्यांकन होना चाहिए, जिसमें दोषों के होते हुए भी स्नेह का बना रहना संभव हो सके। इसके अतिरिक्त जब छात्र बड़ा होता है तब वह नवीन मित्रों को स्वीकार करने से पूर्व उन्हें अनेक प्रकार की कसौटियों पर गंभीरता से कसता है; यथा शिष्टाचार, चरित्र सामाजिक स्तर अथवा उनका आकार, आदि।

संवेगात्मक विकास में विद्यालय का महत्त्व

अधिकांश बालक-बालिकाओं के जीवन में इस सम्बन्ध में कि स्वयं अपने बारे में तथा दूसरों के बारे में हर एक की भावनाएँ क्या होंगी, घर के बाद सबसे बुनियादी प्रभाव शायद स्कूल का ही पड़ता है। कुछ बातों में तो स्कूल का प्रभाव घर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि स्कूल के जीवन में अनुभव के ऐसे क्षेत्र भी शामिल रहते हैं, जो घर की पहुँच के बाहर होते हैं। जब बच्चा स्कूल जाता है, तो वह एक ऐसी दुनियां में कदम रखता है, जो उसे घर पर मिलने वाले संरक्षण या अतिसंरक्षण अथवा तिरस्कार से अलग होती है। उसे अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है। उसे ऐसे समय पर एक अजनबी बड़े आदमी के हाथ में—जिसमें वह अपने माता-पिता का नया रूप देखता है—सौंप दिया जाता है, जबकि उसे किसी बड़े के सहारे की जरूरत रहती है। उसे अपने विकास की ऐसी अवस्था में अपने साथियों के साथ व्यवहार रखना पड़ता है। जब अपनी उम्र के दूसरे लड़कों के साथ सामाजिक सम्बन्ध रखना उसके लिए महत्त्वपूर्ण होने लगता है। उसके प्रति दूसरों का जो रवैया होता है या वे उसके बारे में जो राय कायम करते हैं, उनका स्वयं अपने बारे में उसकी विकासमान संकल्पना पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

शैक्षिक सफलताओं का संवेगात्मक विस्तार

अधिकांश विद्यालयों में विद्यार्थी के सामने जो मुख्य काम होता है, वह बौद्धिक होता है। विद्यार्थी की बौद्धिक सफलताएँ उसके संवेगों को प्रभावित करती भी है और उनसे प्रभावित होती भी हैं। प्रारम्भिक अवस्था से ही सफलता से बच्चे को सुख भी मिलता है, आत्म प्रतिष्ठा बढ़ती है, जब कि असफलता क्रोध तथा आत्मग्लानि का स्रोत होती है। यद्यपि सफलता का आभास निराशा उत्पन्न करता है परन्तु हर व्यक्ति को अपने जीवन में इसका अनुभव होता अवश्य है, और यदि जिस कार्य में विद्यार्थी को असफलता हुई है, वह उसके लिए इतना महत्त्वपूर्ण हो कि उसमें दुबारा प्रयत्न करने का तीव्र आवेग उत्पन्न हो तो निराशा का अनुभव स्वतः हानिकारक नहीं होता।

परन्तु दूसरी परिस्थितियों में (उन परिस्थितियों में जो बहुधा स्कूलों में पाई जाती है) असफलता बहुत विनाशकारी सिद्ध हो सकती है। जब सीखने वाला न केवल स्वयं निराश होता हो बल्कि दूसरे भी उसे दोष देते हों और उसका तिरस्कार करते हों तो असफलता जीवन में किसी भी समय कटु लगती है परन्तु जब सीखने वाला न केवल यह अनुभव करे कि दूसरे उसका तिरस्कार कर रहे हैं बल्कि साथ ही वह यह भी अनुभव

करने लगे कि उसमें सफल होने की योग्यता नहीं है या उसे इसका अधिकार ही नहीं है, तो असफलता बहुत ही विनाशकारी बन जाती है। जब वह ऐसा अनुभव करने लगता है तो अपने आपको अस्वीकार कराने की शुरूआत होती है। जब ऐसा होता है तो वह अपने आपको सफलता के किसी वस्तुनिष्ठ मानक से न नापकर एक ऐसे मानक से नापता है, जो उसने स्वयं अपने लिए निर्धारित कर लिया है। वह अपने आपको आत्मनिष्ठ मानक से परखता है।

दो संकल्पनाएँ (concepts) जो अपने विद्यार्थियों के संवेगों को समझने के लिए (और अपने संवेगों को समझने के लिए) बुनियादी महत्त्व रखती है उनमें पहली है आत्म स्वीकृति (self acceptance) और आत्म तिरस्कार (self rejection) की संकल्पना। दूसरी संकल्पना यह है कि जिस मानक (standard) से विद्यार्थी अपने आपको नापता है उसे वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से भी देखा जाना चाहिए।

संवेगों के वस्तुनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ पक्ष

कभी-कभी वस्तुनिष्ठ (objective) और आत्मनिष्ठ (subjective) मानक बहुत कुछ एक-जैसे ही लगते हैं परन्तु बहुधा वे एक जैसे होते नहीं। बहुत से विद्यार्थी दस में से आठ प्रश्नों का उत्तर ठीक देते है परन्तु अस्सी प्रतिशत अंकों का अर्थ अलग-अलग विद्यार्थियों के लिए अलग-अलग हो सकता है। एक ऐसे विद्यार्थी के लिए जो गणित को बहुत अधिक कठिन समझता हो अस्सी अक पा जाना बहुत बड़ी सफलता है दूसरे विद्यार्थी के लिए जो पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, अस्सी अंक पाना बहुत बड़ी असफलता है। तीसरा विद्यार्थी ऐसा भी हो सकता है जिसके लिए अंकों का कोई महत्त्व ही न हो, चाहे सत्तर अंक मिले या अस्सी उसे तो बस पास होने से मतलब है। इस तरह एक ही विषय के संवेगात्मक अर्थ बिलकुल अलग-अलग होते है :—एक प्रसन्न होता है, दूसरे को अपने आप पर और शायद अपने अध्यापक पर, क्रोध आता है और शायद वह अपने आपको अपराधी भी समझता है; तीसरे को कुछ अनुभव ही नही होता न बहुत अच्छा लगता है, न बुरा।

यह बात तो स्पष्ट है कि किसी घटना का संवेगात्मक प्रभाव केवल उस घटना से नहीं बल्कि उन परिस्थितियों से भी निर्धारित होता है, जो उस व्यक्ति के निजी जीवन में पाई जाती हैं परन्तु यदि हम संवेग को समझना चाहते है तो किसी भी दूसरे तथ्य के मुकाबले में हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा। ऐसा करने में दो कठिनाइयां होती है—इस आत्मगत तत्त्व का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर ही नहीं बल्कि हमारे ऊपर भी पड़ता है। एक अध्यापक को कोई विद्यार्थी अच्छा लगता है परन्तु दूसरे अध्यापक को वही विद्यार्थी बुरा लगता है, जो बच्चा बहुत उत्साह दिखाता है, उससे एक अध्यापक खुश होता है, जबकि दूसरे अध्यापक को ऐसे लड़के से डर लगता है। जो अध्यापक यह चाहता है कि दूसरे उस पर निर्भर रहे, वह इस बात से खुश होता है कि जब स्कूल बंद होने लगे तो सब लोग उदास होकर उसे विदा करें। दूसरा अध्यापक हँसी-खुशी की विदाई से प्रसन्न होता है। इसी तरह के और भी बहुत से उदाहरण हो सकते है। अपने विद्यार्थियों की तरह ही अध्यापक की भावनाएँ भी बाहरी दुनिया की घटनाओं से क्रियाशील होती हैं, परन्तु वे अध्यापक के अपने आंतरिक जीवन के तत्वों से भी प्रस्फुटित होती हैं।

स्वीकृति और अस्वीकृति की संकल्पना

स्वीकृति और अस्वीकृति की संकल्पना, और विशेष रूप से आत्म-स्वीकृति और आत्म-अस्वीकृति की संकल्पना, संवेगों के विकास और संवेगात्मक स्वास्थ्य को समझने के लिए नितांत आवश्यक है। आत्म-स्वीकृति से हमारा अभिप्राय है भरोसे, विश्वास और स्वस्थ आत्म-प्रतिष्ठा की अभिवृत्तियाँ, जिनके कारण विद्यार्थी अपनी क्षमताओं का उपयोग करने, अपनी संभाव्यताओं को फलीभूत करने की स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और साथ ही संशोधन तथा आलोचना से भी लाभ उठाने के लिए स्वतन्त्र रहता है। आत्म-अस्वीकृति से हमारा अभिप्राय है अपने प्रति ऐसी अभिवृत्तियां जो अपनी क्षमताओं को फलीभूत करने तथा उनका उपभोग करने में व्यक्ति के मार्ग में बाधा डालती है, शिकायत अपराहीनता अथवा आत्म-निन्दा के अन्य रूपों की दिशा में ऐसी अविवेकी प्रवृत्तियाँ वाले रवैये जो अपने साधनों का उपयोग करने और अपनी कमियों का सामना करने से उसे रोकती है।

यदि शिक्षा का हमारा उद्देश्य केवल बुद्धि का विकास ही हो, तो भी अपने प्रति विद्यार्थी की अभिवृत्तियों से सम्बन्धित उसके संवेगों की ओर सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए। विद्यार्थी की बौद्धिक संभाव्यताएँ अभिन्न रूप से उसके संवेगों के साथ सम्बद्ध होती है। यदि उसके संवेग जंजीरों में जकड़े होंगे तो उसकी बुद्धि भी स्वतन्त्र नहीं होगी। यदि हम उन विद्यार्थियों पर विचार करें, जो संवेगात्मक अशांति के कारण स्कूल में अच्छा काम नहीं कर पाते, तो हमें यह बात काफी तर्कसंगत मालूम होगी। पिछले कुछ वर्षों में इस बात के काफी प्रमाण मिलते हैं कि बहुत से बच्चे जिन्हें पढ़ने में कठिनाई होती है, और बहुत से निम्न निष्पत्ति वाले बच्चे, जो अपनी क्षमता भर काम नहीं कर पाते, वास्तव में संवेगात्मक कठिनाइयों के शिकार होते हैं। इन बच्चों में संवेगात्मक तथा बौद्धिक तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया काफी स्पष्ट दिखाई देती है। परन्तु संवेगों की भूमिका उन बच्चों में भी देखी जा सकती है, जो स्कूली पढ़ाई की औपचारिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल ही नहीं, बल्कि बहुत प्रतिभाशाली भी सिद्ध होते हैं।

किशोरावस्था में संवेगों की अभिव्यक्ति

जब बालक किशोरावस्था तथा लैंगिक परिपक्वता की ओर बढ़ता है तो यौवनारम्भ (puberty) के साथ ही व्यक्ति के वातावरण के साथ (orientation) अभिविन्यास में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आता है। यह परिवर्तन उसकी रुचियों एवं विश्वासों में प्रगट होता है। आयु-वृद्धि के साथ-साथ संवेगों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ (overt manifestations) न्यून होती जाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी 8 या 9 वर्ष के बालक से उसकी पसन्द के चलचित्र के बारे में पूछा जायेगा, तो उसका उत्तर होगा मारधाड़, घुड़सवारी, कार-रेस आदि के दृश्यों से भरी हुई फिल्म परन्तु वही बालक जब 14-15 वर्ष का हो जाता है, तो यौन आवेग की अधिकता के कारण उसे प्रणय-पूर्ण दृश्य पसन्द आएँगे।

किशोरावस्था में भय

शैशव काल में व्यक्ति को कुत्ते, बिल्ली, चूहे आदि से भय लगता है; बाल्यावस्था

में अँधेरे या अकेलेपन का भय बढ़ने लगता है परन्तु किशोरावस्था में उपरोक्त भय घटने लगते हैं तथा सामाजिक भय बढ़ने लगते हैं यद्यपि 50 प्रतिशत किशोरों को पशु-पक्षियों, विभिन्न ध्वनियों, अँधेरेपन व अकेलेपन के भय से मुक्ति नहीं मिलती है[1] और कुछ को तो जीवन-पर्यन्त ही भय घेरे रहते हैं। सभी किशोरों में सामाजिक स्वीकृति विद्यालय में असफलता, समकक्ष समूह में अप्रिय होना आदि भय बने रहते हैं। किशोरों में पाए जाने वाले भय को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. पदार्थों से भय (fears of material things)—इसमें पशु-पक्षी, आँधी, तूफान, अँधेरा आदि का भय सम्मिलित है।
2. स्वयं से भय (fears relating to the self)—इसमें मृत्यु, विद्यालय में असफलता, लोकप्रियता, व्यक्तिगत दोष आदि का भय सम्मिलित है।
3. सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित भय (fears involving social relations) —इसमें घबराहट, सामाजिक घटनाओं, लोगों से मिलना-जुलना, स्वयं से अधिक परिपक्व समूह से मिलना, प्रणय-निवेदन आदि का भय सम्मिलित है।[2]

कुंठा-आक्रामकता-प्राक्कल्पना

प्राप्त साक्ष्य इस दृष्टिकोण से सहमत है कि भग्नाशा के कारण क्रोध संवेग उठता है, जिसका परिणाम आक्रामक व्यवहार होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी भूखे शिशु से दूध की बोतल छीन ली जाये तो प्राप्य नहीं मिलने के कारण उसे हताशा होगी तथा क्रोध आयेगा, जिसके कारण वह हाथ-पैर इधर-उधर पटकेगा; उसका व्यवहार *आक्रामक बन जायेगा।*

संवेगात्मक व्यवहार में परिवर्तन

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, आयु वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति में क्रोध व भय को उत्पन्न करने वाली दशाएँ या स्थितियाँ बदल जाती हैं और वह नए-नए अनुभवों को प्राप्त करता है। अतः यह परिपक्वता एवं शैक्षिक वृद्धि उसमें नए-नए भय भरती है तथा व्यवहार के पुराने प्रतिमानों को भी बदलती है। उसके व्यवहार में दब्बूपन आ जाता है। आवाज में परिवर्तन के कारण लड़के कक्षा में कविता पाठ करने या गाना गाने में झिझकने लगते हैं। विद्यालय में परीक्षा के कारण भी उनमें भय व तनाव उत्पन्न होता है। यद्यपि कुछ सीमा तक परीक्षा में सफलता हेतु यह अपरिहार्य भी है, परन्तु इसकी अधिक मात्रा कुसमायोजन की समस्या उत्पन्न कर सकती है।

किशोर की चिन्तायें

किशोर की चिन्ताओं के सम्बन्ध में अनेक अध्ययन किए गए हैं। इनसे ज्ञात होता है कि लड़के और लड़की दोनों ही सबसे अधिक चिन्ता पारिवारिक एवं विद्यालयी दशा एवं स्थितियों की करते है। फिर नम्बर आता है व्यक्तिगत कमियों का, आर्थिक समस्याओं का एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी परेशानियों का। इसमें काल्पनिक चिन्ताओं का तनिक भी

---

1. हिक्स जे.ए. एण्ड हेज एम, "स्टडी आफ द केरेक्टरिस्टिक्स आफ 250 जूनियर हाई स्कूल चिल्ड्रन", चाइल्ड डवलपमेंट, 1938, अंक 9, पृ० 219-242.
2. गैरीसन कार्ल सी०, "साइकोलोजी आफ एडोलेसेन्स", पंचम संस्करण, प्रेन्टिस हॉल, 1960 पृ० 103.

समावेश नहीं होता है।[1] चिन्ता के इन स्रोतों का ध्यानपूर्वक अध्ययन बतलाता है कि चिन्ता की प्रवृत्ति की नींव में भय की भावना छिपी होती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ लड़के-लड़कियों में अपने लिंग की भूमिका निर्वहन की भी चिन्ता बढ़ती जाती है।

सहानुभूति की अभिव्यक्ति

किसी के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने का कौशल अनुभव एवं परिपक्वता के साथ-साथ आता है। माँ को दुःख में रोता देखकर छोटा बालक भी उसके साथ-साथ रो लेगा या चिल्ला लेगा परन्तु उसे सहानुभूति जताना नहीं आएगा परन्तु बड़े होने पर उसमें यह योग्यता आ जाएगी। यह क्षमता भी निम्न आर्थिक सामाजिक स्तर के लोगों में कम होती है। उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर के किशोर अधिक संवेदनशील होते हैं। लड़कियों पर सामाजिक आर्थिक स्तर का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। अधिक संवेदनशील किशोर अपने साथियों में अधिक प्रिय होते हैं।

आदतें और नियन्त्रण

सभी प्रकार की वृद्धियों में अन्तर्सम्बन्ध होता है। अतः किशोर की संवेगात्मक वृद्धि उसकी शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक वृद्धि से प्रभावित रहती है। किशोर का संवेगात्मक जीवन एवं व्यवहार उसके आवयविक परिवर्तनों (Physiological changes) तथा सामाजिक परिस्थितियों एवं सम्पर्कों से प्रभावित रहता है।

संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास (Emotional and Social Development)–बालक के शारीरिक एवं सामाजिक वातावरण में ऐसे अनेक कारक हैं जो कि उसके संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। इसकी पुष्टि के लिए एक छोटा-सा उदाहरण पर्याप्त है—निम्न परिवार के बालक मार-पीट एवं लड़ाई-झगड़ों में अधिक व्यस्त रहते हैं, इसके विपरीत अपेक्षाकृत उच्च परिवार के बालक अपने संवेगों को इतना शीघ्र व्यक्त नहीं करते तथा मारपीट एवं लड़ाई-झगड़े से बचना चाहते हैं परन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि निम्न वर्ग समूह के सभी बालकों में संवेगात्मक नियंत्रण का अभाव रहता है। जिस प्रकार विभिन्न वर्ग-समूहों के किशोरों में अन्तर पाया जाता है, उसी प्रकार एक ही वर्ग-समूह के किशोरों में भी अन्तर होता है। सभी वर्ग समूहों में ऐसे परिवार पाए जाते हैं जो कि सुखी होते हैं एवं तनावों से मुक्त रहते हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि किशोर की संवेगात्मक आदतें अनेक कारकों से प्रभावित रहती है। परिवार एवं समुदाय की विपरीत परिस्थितियाँ किशोर की संवेगात्मक वृद्धि पर भी विपरीत प्रभाव ही छोड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें संवेगात्मक अस्थिरता एवं रुकावटें आ जाती हैं।

संवेगात्मक नियन्त्रण

यदि संवेगों से कार्य एवं व्यवहार विचित्र एवं बेढब हो जाता है, तो उन पर तथा उनकी अभिव्यक्ति पर नियंत्रण अनिवार्य है। परन्तु यहा यह ध्यान रखना चाहिए

---

1. आर. पिन्टनर एण्ड जे. लेवी, "वरीज ऑफ स्कूल चिल्ड्रन" जनरल ऑफ जेनेटिव साइकोलोजी, 1940 अंक 56 पृ० 67–76.

कि नियंत्रण एवं दमन में बड़ा अन्तर है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति संवेगों को अनुभव ही नही करता है तो उसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें कुछ मनोवैज्ञानिक कमी है; वह सामान्य व्यक्ति नही है। संवेगात्मक अनुभवों के अभाव में जीवन एकरस हो जाता है। संवेगों के अभाव में समस्त पारिवारिक बन्धन ही समाप्त हो जाएँगे—पति-पत्नी का प्यार, बच्चों का प्यार, माता-पिता से प्यार, सभी तो समाप्त हो जाएँगे। न धर्म रहेगा, न ही ईश्वर। राष्ट्रप्रेम, सुरक्षा व बचाव की भावना के अभाव में सरकारें चकनाचूर हो जाएँगी। यह सुनिश्चित है कि यदि संवेग जीवन में खरास देते हैं, तो मिठास भी वही देते हैं। अतः संवेगों के सम्बन्ध में कवि टेनीसन के कथन को ध्यान मे रखना चाहिए— "मनुष्य के जीवन का सुख संवेगों के अभाव में नहीं उनके नियंत्रण में हैं।"

सारांश

किशोरावस्था में संवेगों का महत्त्व एवं विकास महत्त्वपूर्ण है। विकसित होते किशोरको उचित निर्देशन देने हेतु इसकी अधिक आवश्यकता है। संवेग शब्द किसी भी प्रकार के आवेश को प्रगट करता है। संवेग के अन्तर्गत भाव, आवेग एवं शारीरिक एवं दैहिक प्रतिक्रियाएँ सभी आते हैं। संवेगों की जागृति किसी भी बाह्य उत्तेजना, विषय-वस्तु, घटना अथवा व्यक्ति की स्वयं की मनोदशा के कारण हो सकती है। सभी प्रकार के व्यवहार में संवेग पाए जाते है। आयु के साथ संवेगों में परिवर्तन आता रहता है। पुराने संवेगों का स्थान नए संवेग ग्रहण कर लेते है। आयु के साथ संवेगों को छिपाने में भी व्यक्ति कुशल बनता जाता है। संवेग दु.खकर व सुखकर दोनों ही प्रकार के होते हैं। स्नेह, हर्ष, भय, क्रोध, आक्रामकता आदि अनेक प्रकार के संवेग हैं। इनके भी अनेक सूक्ष्म भेदोपभेद हैं।

हमारी सभ्यता मे सबसे अधिक प्रचलित संवेग क्रोध है। इसे लोग सरलता से स्वीकार भी कर लेते हैं। आयु वृद्धि के साथ-साथ क्रोध उत्पन्न करने वाली स्थितियाँ बदलती रहती हैं तथा क्रोध पर नियंत्रण की भावना में भी वृद्धि होती है। क्रोध से ही जुड़ा संवेग है आक्रामकता का। लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा यह संवेग अधिक तीव्र होता है। इसी प्रकार बाल्यावस्था से ही भय और आकुलताएँ भी व्यक्ति को घेर लेती है। परिपक्वता के साथ-साथ भय के कारण एवं रूप परिवर्तित होते रहते हैं। हर्ष एवं प्रसन्नता भी ऐसे हीं संवेग हैं, जो आयुवृद्धि के साथ परिवर्तित होते रहते है। आयु-वृद्धि के साथ स्नेह का सीमित दायरा भी विस्तृत होता जाता है। समय के प्रवाह में कुछ मित्र व सम्बन्धी अलग हो जाते हैं, कुछ जुड जाते हैं। माता-पिता के प्रति स्नेह यथावत् बना रहता है।

किशोर के संवेगात्मक विकास में सबसे अधिक प्रभाव घर का होता है। उसके लगभग बराबर ही विद्यालय का स्थान आता है। विद्यालय में वह माता-पिता के अतिरक्षण या तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से भिन्न वातावरण मे बहुत सारे साथियों के बीच अपने को घिरा पाता है। यहाँ वह सामाजिक सम्बन्ध बनाना सीखता है। इसके अतिरिक्त विद्यालय से उसे बौद्धिक क्षेत्र, खेल का मैदान, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि में सफलता या असफलता का भी सामना करना पड़ता है। ये भी इसके संवेगों को प्रभावित करती हैं।

संवेगों को समझने के लिए दो संकल्पनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं—(1) संवेगों के वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ पक्ष; (2) स्वीकृति और अस्वीकृति की संकल्पना। एक ही बात को देखने के

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण एवं मापदण्ड होने के कारण उसका संवेगात्मक प्रभाव भी भिन्न होता है। दूसरी प्रकार की संकल्पना में दूसरों द्वारा स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के साथ ही जुड़ी है आत्म-स्वीकृति अथवा आत्म-अस्वीकृति की संकल्पना। संवेगात्मक कठिनाइयों के कारण ही बालक विद्यालय में सुचारु रूप से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते।

किशोरावस्था में यौवनारम्भ के साथ ही व्यक्ति के वातावरण के साथ अभिनियोजन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आता है। किशोरावस्था में उसे पदार्थों से, स्वयं से एवं सामाजिक सम्बन्धों से भय रहता है। कुंठाओं में वृद्धि के साथ आक्रामकता में भी वृद्धि होती है। किशोरावस्था में नए कार्यों के साथ ही संवेगात्मक व्यवहार में भी परिवर्तन आता है। किशोर को सबसे अधिक चिन्ता विद्यालय एवं परिवार सम्बन्धी होती है। परिपक्वता के साथ ही साथ अपने लिंग की भूमिका निर्वहन की भी चिन्ता होती है। बालक दूसरों के साथ सहानुभूति रख तो सकता है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति उसे बड़े होने पर ही सम्भव है। सहानुभूति की अभिव्यक्ति की कुशलता उच्च वर्गीय परिवारों में अधिक पाई जाती है। अभिव्यक्ति की कुशलता की भांति ही संवेगों पर नियंत्रण भी उच्च सामाजिक, आर्थिक स्तर के परिवार अधिक रख सकते हैं। संवेगों का अनुभव जीवन में नितान्त आवश्यक है। इनके अभाव से जीवन सूना है, परन्तु इनके नियंत्रण के अभाव में कटु है।

□□□

अध्याय 6

सामाजिक विकास

(Social Development)

सामाजिक विकास

परिपक्व होते हुए किशोर का केवल शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास ही नही होता बल्कि इसी के अनुरूप उसकी सामाजिक क्रियाओं तथा चरित्र का भी विकास होता है। सामाजिक क्रियाओं के कारण फलीभूत होने वाले विकास को ही सामाजिक विकास कहते हैं।

सामाजिक व्यवहार का विकास

सामाजिक व्यवहार का अस्पष्ट आरम्भ उस समय से होता है जब दूसरे लोगों की उपस्थिति में शिशु मुसकर प्रतिक्रिया करता है। बच्चा जब पास के वयस्क लोगों के ध्यान का पूरा भोग करता है, *तब उसकी प्रतिक्रिया भी अधिक स्पष्ट तथा विस्तृत हो जाती है* किन्तु प्रारम्भिक आयु मे ही वह अन्य बच्चों की उपस्थिति पर एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया भी करता है। वह उनको बहुत ध्यान से देखता है; कभी शब्द-क्रीड़ा करता है और उनकी ओर बढ़ने की प्रतिक्रिया भी करता है।

जब बच्चा लगभग दो वर्ष का होता है तब समानांतर खेल की घटना देखी जा सकती है। खेल के मैदान में अथवा रेत के ढेर के साथ अनेक बच्चे एक समान कार्य करेंगे। वे एक दूसरे को देखते हैं और एक दूसरे का अनुकरण भी करते हैं। समान खिलौनों अथवा उपकरणों के लिए वे उग्र संघर्ष भी करते हैं। परन्तु प्रत्येक बच्चा व्यक्तिगत रूप से अलग खेलता है। उनकी बातचीत ही स्वगत या एकालापों (monologues) का संग्रह मात्र होती है। प्रत्येक बच्चा अपने ही कार्य का वर्णन करता है। एक स्वगत/एकालाप पर उसके खेल के साथी की शब्दक्रीड़ा का प्रभाव हो सकता है परन्तु इससे एक नवीन विषय की भी रचना होती है। यह किसी प्रकार भी उक्त पड़ौसी के शब्दो के प्रति एक निर्देशित अनुक्रिया नही होती।

तीन वर्ष की आयु के लगभग, समानांतर खेल में कुछ परिवर्तन होता है और एक अल्प-विकसित सहयोग के स्थानान्तरण का आभास होता है।

प्रारंभिक विद्यालय की प्राथमिक श्रेणियो मे ही सामाजिक खेल *अधिक औपचारिक* और अधिक संगठित हो जाता है। अनेक प्रकार का खेल बारी-बारी से क्रमावर्तित (rotating) खेल होता है। लँगड़ी टाँग या रस्सी कूदने के खेल मे प्रत्येक बच्चे को उचित मात्रा मे जटिल कार्य करने का अवसर बारी-बारी से देते हैं और अन्य लोग दर्शक अथवा

आकस्मिक सहायक मात्र का कार्य करते है। प्रारम्भिक विद्यालय की अवधि के अन्त तक इन क्रमावर्तित खेलों के स्थान पर और अधिक सुव्यवस्थित दलगत खेल आरम्भ होते हैं, यथा, बेसबॉल, बास्केटबॉल अथवा फुटबाल, जिनमें प्रत्येक खिलाड़ी का निश्चित विशेष कार्य होता है और जिसमें उक्त दल के प्रति विशेष भावना की आवश्यकता होती है।

सामाजिक कार्यवाही के प्रकार के परिवर्तन के साथ उसमें भाग लेने वाले लोगों की संख्या मे भी परिवर्तन होता है। जैसे बच्चा बड़ा होता है; वह अधिक लोगो के सम्पर्क में आता है। *कम से कम एक आकस्मिक ढंग से अब उसके लिए अधिक आवश्यक होता है* कि वह अन्य लोगों का उचित विचार करे और उनकी अधिकाधिक संख्या के साथ कुशलता पूर्वक मिले। अब घर तथा इसके निकट पड़ौसियों मात्र से उसका सांसारिक जीवन संगठित नही होता। अब वह गली में घूमता है; विद्यालय जाता है; अपने समुदाय के सम्पर्क में आता है; और इन सब में बहुसंख्यक लोगों के साथ मिलने का कौशल अथवा यथोचित सामाजिक व्यवहार सीखना आवश्यक होता है।

सामाजिक संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व

अपने जीवन के आरम्भ में एक शिशु, सामाजिक उत्तरदायित्व तो दूर रहा, स्वयं अन्य लोगो के सामाजिक व्यवहार पर पूर्णतया निर्भर करता है। जब वह अपने लिए अधिक दायित्व स्वीकार करता है तब वह सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर पहला कदम बढ़ाता है। एक अधिक आदिम स्तर पर वह एक स्थान से दूसरे तक जाने के लिए क्रमशः अन्य लोगों की सहायता के आधार को छोड़ कर अपने ऊपर दायित्व लेने लगता है। वह भोजन करने, वस्त्र पहनने और अपने आपको स्वच्छ रखने में भी कुछ दायित्व सम्भालने लगता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे अपने सरल कार्यों के लिए अधिक दायित्व ग्रहण करता है।

अन्य लोगों द्वारा स्वीकृत होना

सामाजिक समायोजन प्राय. दो तरफी घटना होती है। इसमे केवल हमें अन्य लोगों की अनभिज्ञता प्राप्त करना तथा उनके कार्य मे भाग लेना ही पर्याप्त नही होता प्रत्युत् यह भी आवश्यक है कि अन्य लोग भी हमे स्वीकार करें तथा न्यूनाधिक मात्रा मे पसंद करें। कुछ लोगों में अधिक उत्कट इच्छा होती है कि सब लोग उनको पसन्द करे। अन्य लोगों की इच्छाएँ कम विस्तृत होती हैं परन्तु प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्वीकृति की आवश्यकता अनुभव करता है।

जितनी बार किसी बच्चे को पसन्द किया जाता है, उसकी संख्या से हमें उसकी सामान्य लोकप्रियता अथवा उक्त दल मे उसकी स्वीकृति की मात्रा की सूचना मिलती है। इसके दूसरी ओर एक पारस्परिक पसंद *एक अन्योन्य मित्रता की सूचना देती है। अब हम* सर्वप्रथम उन कारकों पर विचार करते हैं, जो सामान्य स्वीकृति अथवा लोकप्रियता के साथ सम्बन्धित हैं।

हर्लोक[1] के अनुसार स्वस्थ सामाजिक विकास के लिए किशोर को अग्रांकित बातों की आवश्यकता रहती है—

---

1. हर्लोक ई. बी., "एडोलेसेन्ट डेवेलपमेन्ट" द्वितीय संस्करण, मैक्ग्रो हिल बुक कम्पनी, 1955, पृष्ठ 103.

1. सद् व्यवहार, वार्तालाप की योग्यता, समूह से मिलती-जुलती रूचियाँ ।
2. लाभकारी अभिवृत्तियाँ जैसे दूसरों को पसन्द करना, उनके अच्छे कार्यों की प्रशंसा करना, उनके प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना ।
3. सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता—वह छोटे-बड़े समूहों में निश्चिन्त रहे तथा स्नेह एवं सहायता हेतु दूसरों पर अधिक निर्भर नहीं रहे ।
4. दायित्व की भावना का आना ।
5. समितियाँ एवं सामूहिक बैठकों में भाग लेना ताकि किशोर समूह योजना की प्रशंसा कर सके ।
6. साथियों के साथ समायोजन ।
7. पड़ौसियों के साथ मैत्रीपूर्ण उदार एवं सहयोगी भावना रखना ।
8. समुदाय के प्रति व्यवहार इस प्रकार का हो कि समुदाय को लगे कि वह दायित्व वहन करने की इच्छा करे ।
9. सांसारिक कार्यों के प्रति कल्याणकारी दृष्टिकोण ।

लोकप्रियता

जिस छात्र की अधिक पूछ होती है अथवा जिसकी मित्रता की चाह अधिक संख्या में छात्र करते है वह प्रायः उन लोगों के समान ही होता है, जो उसका सम्मान करते हैं । उसकी बुद्धि औसत से कुछ अधिक हो सकती है । वह प्रायः उसी सामाजिक आर्थिक समूह से उदित होता है और समान धर्मावलम्बियों के साथ अधिक लोकप्रिय होता है । प्रारूपक परिस्थिति में वह अपने पसंद करने वालों के पास-पड़ौस में ही रहता है । बहुधा उसके माता-पिता जीवित होते है, जो उसके मित्रों का अपने घर में स्वागत करते हैं । वह देखने में औसत से अधिक सुन्दर तथा विशेष शारीरिक बाधा से मुक्त होता है । वह दयालु एवं हसमुखी होता है; उसे कुछ परिहास का बोध होता है; उसे सभी अच्छा खिलाड़ी मानते हैं और वह सहयोगी भावना वाला होता है । नेतृत्व के लिए उसमें सामान्य अभिक्षमता होती है और उसमें विशेष आत्म-विश्वास होता है और अपनी भविष्य की उपलब्धि का विचार करते समय वह उच्च लक्ष्य की कल्पना करता है । जो सहपाठी उसके पक्ष में मत देते हैं, वे भी उससे औसत से अधिक उपलब्धि की आशा करते हैं । अनेक अध्ययनों का सामान्य परिणाम यह है कि उसका मानसिक स्वास्थ्य भी औसत से बेहतर होता है । वह अपने विद्यालयी कार्य में भी कुछ आगे रहता है यद्यपि विशेष श्रेष्ठता नहीं देखी जाती । निश्चय ही वह कक्षा में अधिक आयु वाले छात्रों में से नहीं होता और न ही उनमें से होता है जो विद्यालय को शिक्षापूर्ण करने से पहले छोड़ जाते है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोकप्रियता के लक्षण अधिक सतही मात्र होते है । कालेज की उच्च कक्षाओं के छात्र कुछ क्षणों के प्रत्यक्षालाप से ही सही अनुमान लगा सकते हैं कि किसी नये छात्र को किसी मित्र-मंडली में सम्मिलित होना सम्भव है या नहीं ।

कुछ लोगों का सुझाव है कि अधिक बार पसन्द आने वाले व्यक्ति में अन्य लोगों की भावनाओं को समझने की योग्यता औसत से अधिक होती है । यह जानने में भी वह विशेष चतुर होता है कि उसको कौन पसन्द कर सकता है किन्तु इस मत को चुनौती दी गई है ।

दूसरे लोगो का विचार है कि बार-बार चुने जाने वाला व्यक्ति, अपने अनेक प्रकार के सम्पर्क के कारण भाँप सकता है कि अन्य लोगों की दृष्टि मे उसका क्या स्थान है ?

जब परिस्थिति में परिवर्तन करने के लिए कुछ नही किया जाता, तब लोकप्रियता भी बुद्धि या उपलब्धि के समान सतत स्थिर रहती है । यह तथ्य प्रायः सामान्य लोकप्रियता या मित्रता के पक्ष में सही होता है । किन्ही दो बच्चों के बीच विशेष मित्रता की घटनाओ मे इस प्रकार की समरूपता नही देखी जाती ।

सामाजिक प्रतिभागित्व

अभी तक हम उस छात्र की चर्चा करते रहे है, जिसको सहपाठी अनेक बार पसन्द करते है । उस छात्र के विषय में क्या कह सकते है जो स्वयं अधिकाधिक सम्पर्क बनाना चाहता है और विस्तृत बाह्य विद्यालयी कार्यक्रमों मे भाग लेता है । स्वभावतः किसी हद तक भाग ग्रहण और स्वीकृति एक साथ चलते है । हम देखते है कि भाग ग्रहण करने वाला व्यक्ति आत्म-विश्वासी होता है और उसमें स्वीकृति की भावना भी होती है । विद्यालय के शिविर मे विविध समूहों के साथ वह अनन्यता अनुभव करता है । उसके अनेक मित्र होते है और वह अनेक प्रकार के लोगों के प्रति सहिष्णु होता है । उसमे अधिक सामान्य संयम होता है, यद्यपि उसकी ख्याति अधिक सीधे अथवा निष्कपट व्यवहार के लिए भी होती है । उसकी शैक्षिक उपलब्धि भी अति सामान्य होती है ।

मित्रताएँ

जैसा कि ऊपर बताया गया है मित्रता का स्वीकृति या लोकप्रियता से भेद होता है । इसमे एक बात तो यह है कि यह उभय पक्षीय घटना होती है और इसमे व्यक्तिगत भावना की विशेषता होती है, जो लोकप्रियता मे आवश्यक नही होती । किसी व्यक्ति मे अन्य के प्रति जो मित्रता की भावना होती है, उसका प्रत्यक्ष परास (range) घनिष्ठ मैत्री से लेकर पहचान मात्र तक हो सकता है । इसके एक छोर पर तो भाई जैसे विश्वास पात्र होते हैं जो अधिक समय एक साथ ही विताते हैं; वे एक दूसरे के समक्ष अधिक स्वच्छदता और विश्वास अनुभव करते है । प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह उचित स्वतन्त्रता से अपने आप को व्यक्त कर सके । किसी एक परिस्थिति मे एक व्यक्ति का प्राय एक ही मित्र हो सकता है परन्तु कालेज छात्र का एक अनन्य-सखा किसी शिविर मे बन सकता है और एक अन्य उसके गृह नगर मे । घनिष्ठ मैत्री के अतिरिक्त विविध प्रकार की मैत्री, अवस्थाएँ होती है, जैसे वह घनिष्ठ व्यक्ति, जिसके साथ हम अधिक सतही स्तर पर वार्तालाप और हँसी, मजाक कर सकते है; परिचित मनुष्य जिसे हम पसंद करते हैं परन्तु कुछ संयम के साथ, वह व्यक्ति, जिसके साथ हम कार्य करते है और जिसे मुख्यतः दफ्तर या कार्यालय, या समिति के सम्बन्ध से जानते हैं; और अन्त में वह व्यक्ति है, जिसे हमने देखा मात्र है और अंशत उसको ख्याति से जानते है और जिसके साथ अवसर के अनुसार हम कभी 'हलो-हलो' का आदान-प्रदान करते है ।

किशोरावस्था में सामाजिक विकास

सामाजिक लैंगिक-विकास (Social-Sex development)

डॉ जॉन के अनुसार शैशवकालीन कामभावना की पुनरावृत्ति किशोरावस्था मे

अधिक तीव्र एवं उच्चतर रूप में होती है। व्यक्ति तरुणावस्था को प्राप्त करते ही सन्तानोत्पत्ति के योग्य बन जाता है और लिंगीय दृष्टि से पूर्ण विकसित होता है।

कामभावना का विकास किशोर में धीरे-धीरे होता है। उसकी तीन प्रमुख और स्पष्ट अवस्थाएँ होती हैं—(1) स्वप्रेम (Auto erotism), (2) समलिंगीय प्रेम (Homosexuality) और (3) विषमलिंगीय प्रेम (Hetro-sexuality) की अवस्था। उपरोक्त अवस्थाएँ व्यक्ति में क्रम से आती हैं। किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि किसी व्यक्ति में ये तीनों ही प्रकार के प्रेम एक साथ पाए जाते हों। अतः एक-एक करके सभी की चर्चा कर लेना उचित होगा।

1. स्वप्रेम (Auto Erotism)—किशोर अपने ही शरीर से प्रेम करने लगता है और अपनी कामभावना की तृप्ति के लिये अपने लिंग अवयव को स्पर्श करता है। यह स्पर्श हस्तमैथुन जैसे अप्राकृतिक कार्यों तक पहुँच जाता है। हैवलॉक एलिस के विचार से "यह स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। काम भावना के जाग्रत हो जाने पर उसकी तुष्टि के विषय के अभाव में इस प्रकार के परिणामों का होना स्वाभाविक ही है। काम-भावना की पूर्ति न होने के फलस्वरूप प्रौढ़ावस्था से पहले तो इस प्रकार की क्रियाएँ दृढ़तापूर्वक स्वाभाविक ही समझी जाती हैं।"[1]

2. समलिंगी कामुकता (Homo-Sexuality)—यह वह अवस्था है जबकि समान लिंग के व्यक्तियों में परस्पर प्रेम उत्पन्न हो जाता है और यह कामुकता की दशा को पहुँच जाता है। किशोर काल के प्रारम्भ में लड़के लड़कों से और लड़कियाँ लड़कियों से मिलना जुलना अधिक पसन्द करती हैं। उनमें समान लिंगों के प्रति ही अधिक रुचि दिखाई पड़ती है। फिर भी कुछ किशोर और किशोरियों में विषमलिंगी के प्रति भी रुचि देखी जाती है। भारतवर्ष में जहाँ कि लड़के लड़कियों से बिल्कुल पृथक रखे जाते हैं, समाज उन्हें स्वतन्त्र रूप से मिलने जुलने की आज्ञा नहीं देता, अतः यहाँ समलिंग कामुकता की अवस्था स्पष्ट लक्षित होती है।

यह प्रवृत्ति उन शिक्षण-संस्थाओं में अधिक पाई जाती है, जिनमें या तो केवल बालक ही बालकें पढ़ते हैं अथवा केवल बालिकाएँ। उन शिक्षा-संस्थाओं में जहाँ बालक-बालिका साथ-साथ पढ़ते हैं, समलिंगी कामुकता की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम पाई जाती हैं क्योंकि वहाँ वे विषम लिंगी के प्रति आकर्षित हो जाते है और उनकी काम-भावना को स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है।

3. विषम-लिंगी कामुकता की अवस्था (Hetro-Sexual Phase)—इस अवस्था में कामुकता विषमलिंगी होती है। इस प्रवृत्ति का विकास किशोरावस्था के उत्तर-काल में होता है किन्तु वह अन्य दो प्रारम्भिक प्रवृत्तियों के विकास काल के समय उनके साथ-साथ पाई जाती है।

विषम-लिंगी प्रेम में यह भी सम्भावना हो सकती है कि दो व्यक्तियों का प्रेम विशुद्ध

---

1. "Its manifestations are natural, they are inevitable results of the action of the sexual impulse when working in the absence of the object of sexual desire and they ara emphatically natural when they occur bebore adult age." Elli Havelock, "Psychology of Sex."

आदर्श के आधार पर स्थित हो; उनमें कुछ भी शारीरिक सम्बन्ध न हो। ऐसा प्रेम प्लेटोनिक प्रेम (Platonic Love) के नाम से पुकारा जाता है। बहुत से लोगों की यह धारणा होती है कि यदि किशोरावस्था में बालक बालिकाओं को स्वतन्त्र रूप से मिलने दिया जाएगा तो अनुभवहीनता और कामुकता की उत्तेजना के कारण वे अपनी काम वासना को मैथुन के रूप में परिणत कर देंगे, जो सर्वथा हेय एवं निन्दनीय है, किन्तु यह धारणा सर्वथा सत्य नहीं होती। प्राय: किशोर बालक बालिकाओं से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने से हिचकता है तथा किशोरियाँ तो स्वभाव से ही शर्मीली होती हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें कितना ही आकर्षण क्यों न हो, उनके शारीरिक सम्बन्धों की सम्भावना कम ही रहती है, जब तक कि बालक अथवा बालिका किसी अत्यन्त दूषित वातावरण में न पले हो। उनका प्रेम प्राय: आदर्श प्रेम की सीमा तक ही सीमित रहता है क्योंकि आदर्शवादिता किशोर का एक प्रमुख लक्षण होता है।

वस्तुतः हमारे समाज की वर्तमान स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है। वैसे तो भारतीय युवकों में सभी प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह पाया जाता है किन्तु लैंगिक पृथक्करण के प्रति उनके मन में भारी असन्तोष है तथा इससे जनित मानसिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व की समस्या को हल करने में वे असमर्थ हैं। युवकों के अन्दर विषमलिंगी के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है किन्तु उससे बातचीत करने तथा उससे सम्पर्क स्थापित करने की स्वीकृति समाज नहीं देता। इसका परिणाम यह होता है कि किशोर का व्यवहार अभद्र एवं समाज-विरोधी बन जाता है। किशोर लड़कियों को छेड़ने लगता है; उन्हें चिढ़ाता है; कक्षा में बैठकर बालिकाओं पर टिप्पणी करता है; उनके प्रति भद्दे शब्दों का प्रयोग करता है तथा साथी लड़के एवं लड़कियों के बारे में भद्दी कहानियाँ गढ़ने में आनन्द लेता है। इन किशोर-कालीन समस्याओं का समाधान केवल एक ही विधि से हो सकता है कि बालक और बालिकाओं में सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने का अधिक समय दिया जाए, जिससे वे समझ सकें कि विषम-लिंगी भी उन्हीं के समान मानव हैं, उनमें कुछ इतर विशेषताएँ नहीं है। वस्तुतः उनकी लिंग सम्बन्धी जिज्ञासा की अपूर्णता ही उन्हें बालापराध करने और तत्सम्बन्धी समस्याओं को जन्म देने के लिए सहज रूप से प्रेरित करती है। इसलिए किशोर और किशोरियों को अधिक मिलने-जुलने उनको सामूहिक एवं सहकारी रूप से सामाजिक कार्यों में भाग लेने की सुविधा प्रदान करनी चाहिए जिससे विषम-लिंगी से मिलने का अभाव उन्हें खटकता न रहे। जब एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है तो उनके सम्पर्क के अभाव से जनित समस्याओं का समाधान उनके सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने में ही हो सकता है। इसलिए उन्हें सहयोगी कार्यों और खेलों में भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए। किशोरावस्था में काम-सम्बन्धी शिक्षण भी परम उपयोगी होता है। उससे किशोर की काम सम्बन्धी जिज्ञासा की पूर्ति होती है; वह अन्धकार में नहीं भटकता है; उसे लिंग सम्बन्धी जानकारी सही-सही और पूर्ण प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार काम सम्बन्धी शिक्षण युवकों को उनके व्यवहार के व्यवस्थापन में बहुत सहायता पहुँचाता है।

सामाजिक परिपक्वता के स्तर

सामाजिक स्तरों का महत्त्व

हम कभी-कभी लोगों को बड़े तिरस्कार के साथ यह कहते हुए सुनते हैं कि उसकी

हरकतें बिल्कुल बच्चों जैसी है। इस बात का स्पष्ट आशय यह है कि कुछ हरकतें ऐसी होती हैं, जो बच्चों के लिए तो बिल्कुल उपयुक्त मानी जाती है लेकिन बड़े आदमी में वही हरकतें सामाजिक अपरिपक्वता की सूचक बन जाती हैं। इसमें यह आशय भी निहित है कि हमें सामाजिक आचरण के एक स्तर से प्रगति करके दूसरे स्तर तक पहुँचना चाहिए।

सामाजिक स्तरों की परिभाषा

आचरण चाहे सामाजिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार का, उसके स्तरों की परिभाषा आसानी से नहीं की जा सकती। मनुष्य का आचरण इतना जटिल है और मूल्यांकन इतने विभिन्न पहलुओं से किया जा सकता है, कि व्यवस्थित मनोविज्ञान के विद्यार्थियों तक में ऐसे महत्त्वपूर्ण सवाल पर भी कोई मतैक्य होना बहुत कठिन है कि आचरण के स्तर होते भी हैं या नहीं।

सामाजिक स्तरों की परिभाषा करने के लिए हमे कुछ नकारात्मक अनुबन्ध करने होंगे। यहाँ पर "स्तरों" का प्रयोग अन्तर्जात भेद के अर्थ में नहीं किया गया है। यह तो मानी हुई बात है कि सामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही प्रकार की योग्यता मे इस प्रकार के अन्तर्जात स्तर होते हैं। सैंडीफोर्ड की इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि बुद्धि की व्यापकता में भी विकास होता है और उसके स्तर भी अर्थात् अनुप्रस्थ भी (horizontal) और ऊर्ध्वाधर (longitudinal) भी।[1] सीधे-सादे शब्दो मे कहा जाए तो इस संकल्पना का अर्थ यह है कि कुछ काम अपेक्षाकृत छोटे "मस्तिष्कों" से पूरे किये जा सकते है, कुछ दूसरे काम ऐसे होते हैं जिन्हे पूरा करने के लिए अधिक जटिल मानसिक क्रियाओं की जरूरत होती है। इन "मानसिक-मस्तिष्क" स्तरों का विचार ऊर्ध्वाधर दिशा में जड़ बुद्धि के मानसिक आयु-स्तर तक होता है परन्तु किसी भी ऊर्ध्वोन्मुख स्तर पर अनुप्रस्थ विकास बहुत व्यापक हो सकता है। कभी-कभी किसी अनुप्रस्थ स्तर विशेष पर जो विकास होता है उसे गलती से उच्चतर ऊर्ध्वाधर स्तर का विकास समझ लिया जाता है। कई ऐसे लोगो को बहुत विद्वान् और बुद्धिमान समझ लिया जाता है, जिन्होंने केवल बहुत-सी ऐसी जानकारी का भंडार जमा कर लिया है, जिनमें से किसी एक जानकारी के लिए, या जानकारी के समूह के लिए भी, ऊर्ध्वाधर दिशा में काफी निम्न स्तर की योग्यता की आवश्यकता होती है।

बहुधा तथ्यों के किसी समूह के विशेषक (traits) जिनमें सामाजिक तथ्य भी शामिल हैं, पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने की भरपूर मानसिक योग्यता रखते हुए भी कुछ लोग इसमें सफल नहीं हो पाते, क्योंकि किसी भी मानसिक आयु-स्तर पर कोई व्यक्ति ऐसे आचरण का परिचय दे सकता है, जो अनुप्रस्थ दिशा मे होते हुए भी प्रगामी और अनुक्रमिक हो सकता है। लगभग हर साधारण व्यक्ति में अपने समूह का लोकाचार पूरी तरह सीखने की मानसिक क्षमता होती है फिर भी बहुत से लोग ऐसा नही कर पाते। जो लोग ऐसा नही करते वे सामाजिक परिपक्वता की निम्न अवस्था में होते है। (ऊर्ध्वाधर तथा अनुप्रस्थ स्तरों का अन्तर स्पष्ट रखने के लिए किसी भी स्तर पर विकास को व्यक्त करने के लिए अवस्था शब्द का प्रयोग किया गया है।)

1. सैंडीफोर्ड पी., "एजुकेशनल साइकोलोजी", न्यूयार्क : लॉगमैन, ग्रीन एण्ड क., 1933 पृ० 150.

आदर्श के आधार पर स्थित हो; उनमें कुछ भी शारीरिक-सम्बन्ध न हो। ऐसा प्रेम प्लेटोनिक प्रेम (Platonic Love) के नाम से पुकारा जाता है। बहुत से लोगों की यह धारणा होती है कि यदि किशोरावस्था में बालक बालिकाओं को स्वतन्त्र रूप से मिलने दिया जाएगा तो अनुभवहीनता और कामुकता की उत्तेजना के कारण वे अपनी काम वासना को मैथुन के रूप मे परिणत कर देंगे, जो सर्वथा हेय एवं निन्दनीय है, किन्तु यह धारणा सर्वथा सत्य नही होती। प्राय किशोर बालक बालिकाओं से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने से हिचकता है तथा किशोरियाँ तो स्वभाव से ही शर्मीली होती हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें कितना ही आकर्षण क्यों न हो, उनके शारीरिक सम्बन्धों की सम्भावना कम ही रहती है, जब तक कि बालक अथवा बालिका किसी अत्यन्त दूषित वातावरण में न पले हो। उनका प्रेम प्राय आदर्श प्रेम की सीमा तक ही सीमित रहता है क्योंकि आदर्शवादिता किशोर का एक प्रमुख लक्षण होता है।

वस्तुत: हमारे समाज की वर्तमान स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है। वैसे तो भारतीय युवको मे सभी प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह पाया जाता है किन्तु लैंगिक पृथक्करण के प्रति उनके मन में भारी असन्तोष है तथा इससे जनित मानसिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व की समस्या को हल करने मे वे असमर्थ हैं। युवकों के अन्दर विपर्मलिंगी के प्रति स्वाभाविक आकर्पण होता है किन्तु उससे बातचीत करने तथा उससे सम्पर्क स्थापित करने की स्वीकृति समाज नही देता। इसका परिणाम यह होता है कि किशोर का व्यवहार अभद्र एव समाज-विरोधी बन जाता है। किशोर लड़कियों को छेड़ने लगता है; उन्हें चिढाता है; कक्षा मे बैठकर बालिकाओं पर टिप्पणी करता है; उनके प्रति भद्दे शब्दों का प्रयोग करता है तथा साथी लड़के एवं लड़कियो के बारे में भद्दी कहानियाँ गढ़ने में आनन्द लेता है। इन किशोर-कालीन समस्याओं का समाधान केवल एक ही विधि से हो सकता है कि बालक और बालिकाओं मे सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने का अधिक समय दिया जाए, जिससे वे समझ सकें कि विपम-लिंगी भी उन्ही के समान मानव हैं, उनमें कुछ इतर विशेषताएँ नही है। वस्तुतः उनकी लिंग सम्बन्धी जिज्ञासा की अपूर्णता ही उन्हें बालापराध करने और तत्सम्बन्धी समस्याओं को जन्म देने के लिए सहज रूप से प्रेरित करती है। इसलिए किशोर और किशोरियों को अधिक मिलने-जुलने उनको सामूहिक एवं सहकारी रूप से सामाजिक कार्यों में भाग लेने की सुविधा प्रदान करनी चाहिए जिससे विपम-लिंगी से मिलने का अभाव उन्हें खटकता न रहे। जब एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है तो उनके सम्पर्क के अभाव से जनित समस्याओं का समाधान उनके सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने में ही हो सकता है। इसलिए उन्हे सहयोगी कार्यों और खेलों में भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए। किशोरावस्था में काम सम्बन्धी शिक्षण भी परम उपयोगी होता है। उससे किशोर की काम सम्बन्धी जिज्ञासा की पूर्ति होती है; वह अन्धकार मे नही भटकता है; उसे लिंग सम्बन्धी जानकारी सही-सही और पूर्ण प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार काम सम्बन्धी शिक्षण युवको को उनके व्यवहार के व्यवस्थापन मे बहुत सहायता पहुँचाता है।

सामाजिक परिपक्वता के स्तर

सामाजिक स्तरों का महत्त्व

हम कभी-कभी लोगों को बड़े तिरस्कार के साथ यह कहते हुए सुनते हैं कि उसकी

हरकतें बिल्कुल बच्चों जैसी है। इस बात का स्पष्ट आशय यह है कि कुछ हरकतें ऐसी होती हैं, जो बच्चों के लिए तो बिल्कुल उपयुक्त मानी जाती हैं लेकिन बड़े आदमी में वही हरकतें सामाजिक अपरिपक्वता की सूचक बन जाती हैं। इसमें यह आशय भी निहित है कि हमें सामाजिक आचरण के एक स्तर से प्रगति करके दूसरे स्तर तक पहुँचना चाहिए।

सामाजिक स्तरों की परिभाषा

आचरण चाहे सामाजिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार का, उसके स्तरो की परिभाषा आसानी से नही की जा सकती। मनुष्य का आचरण इतना जटिल है और मूल्यांकन इतने विभिन्न पहलुओं से किया जा सकता है, कि व्यवस्थित मनोविज्ञान के विद्यार्थियों तक में ऐसे महत्त्वपूर्ण सवाल पर भी कोई मतैक्य होना बहुत कठिन है कि आचरण के स्तर होते भी हैं या नहीं।

सामाजिक स्तरों की परिभाषा करने के लिए हमें कुछ *नकारात्मक अनुबन्ध* करने होंगे। यहाँ पर "स्तरों" का प्रयोग अन्तर्जात भेद के अर्थ में नही किया गया है। यह तो मानी हुई बात है कि सामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही प्रकार की योग्यता में इस प्रकार के अन्तर्जात स्तर होते है। सैंडीफोर्ड की इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि बुद्धि की व्यापकता में भी विकास होता है और उसके स्तर भी अर्थात् अनुप्रस्थ भी (horizontal) और ऊर्ध्वाधर (longitudinal) भी।[1] सीधे-सादे शब्दो में कहा जाए तो इस संकल्पना का अर्थ यह है कि कुछ काम अपेक्षाकृत छोटे "मस्तिष्कों" से पूरे किये जा सकते है, कुछ दूसरे काम ऐसे होते हैं जिन्हें पूरा करने के लिए अधिक जटिल मानसिक क्रियाओं की जरूरत होती है। इन "मानसिक-मस्तिष्क" स्तरों का विचार ऊर्ध्वाधर दिशा मे जड़ बुद्धि के मानसिक आयु-स्तर तक होता है परन्तु किसी भी ऊर्ध्वोन्मुख स्तर पर अनुप्रस्थ विकास बहुत व्यापक हो सकता है। कभी-कभी किसी अनुप्रस्थ स्तर विशेष पर जो विकास होता है उसे गलती से उच्चतर ऊर्ध्वाधर स्तर का विकास समझ लिया जाता है। कई ऐसे लोगों को बहुत विद्वान् और बुद्धिमान समझ लिया जाता है, जिन्होंने केवल बहुत-सी ऐसी जानकारी का भंडार जमा कर लिया है, जिनमें से किसी एक जानकारी के लिए, या जानकारी के समूह के लिए भी, ऊर्ध्वाधर दिशा में काफी निम्न स्तर की योग्यता की आवश्यकता होती है।

बहुधा तथ्यों के किसी समूह के विशेषक (traits) जिनमे सामाजिक तथ्य भी शामिल हैं, पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने की भरपूर मानसिक योग्यता रखते हुए भी कुछ लोग इसमें सफल नहीं हो पाते, क्योंकि किसी भी मानसिक आयु-स्तर पर कोई व्यक्ति ऐसे आचरण का परिचय दे सकता है, जो अनुप्रस्थ दिशा मे होते हुए भी प्रगामी और अनुक्रमिक हो सकता है। लगभग हर साधारण व्यक्ति मे अपने समूह का लोकाचार पूरी तरह सीखने की मानसिक क्षमता होती है फिर भी बहुत से लोग ऐसा नही कर पाते। जो लोग ऐसा नही करते वे सामाजिक परिपक्वता की निम्न अवस्था में होते है। (ऊर्ध्वाधर तथा अनुप्रस्थ स्तरों का अन्तर स्पष्ट रखने के लिए किसी भी स्तर पर विकास को व्यक्त करने के लिए अवस्था शब्द का प्रयोग किया गया है।)

---

1. सैंडीफोर्ड पी., "एजुकेशनल साइकोलोजी", न्यूयार्क : लाँगमैन, ग्रीन एण्ड कं. 1933 पृ० 150.

प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी सामाजिक समंजनों के लिए केवल सामान्य योग्यता की आवश्यकता होती है। यद्यपि यह बात मोटे तौर पर सच है परन्तु शब्दशः सच नहीं है। अति समंजित लोगों में जो सामाजिक प्रविधि (social technique) मौजूद होती है उसे मानसिक योग्यता के वैसे ही उच्च स्तरों में रूपान्तरित करना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए सामाजिक समंजन का एक अंश ऐसा होता है, जिसका सम्बन्ध शुद्धत मांसपेशियों और प्रेरक तन्त्र से होता है और इसका परिचय उचित ढंग से उठने बैठने और चलने फिरने में मिलता है। पर्याप्त अभ्यास करने पर सामान्य शरीर रचना वाले अधिकांश लोग इस प्रकार के प्रेरक समंजन कर सकते हैं। परन्तु जैसा कि लियरी ने तर्क तथा अधिगम के उच्च स्तरों के बारे में अपनी विवेचना में बताया है, सामाजिक समंजन बहुत जटिल, अमूर्त तथा अत्यधिक शाब्दिक होता है। कोई व्यक्ति सामाजिक समजन और समाजीकरण के किस स्तर पर पहुँच गया है इसका पता इस बात से चलता है कि उसकी आयु और उसके समूह के लोगों में प्रेरक संवेगात्मक और अमूर्त मानसिक नियन्त्रण में सामान्यतः जितना समंजन होना चाहिए; उसमें और उस व्यक्ति के आचरण में क्या सम्बन्ध है।

सामाजिक विकास की समस्याएँ

1. अनुरूपता (Conformity)—हम में से अधिकतर लोग वाह्य दवाव से सामाजिक बहुमत को बहुत कम स्वीकार करते हैं। वाह्य दवाव के बिना ही अधिकतर लोग अपने अल्प-मत विचार-व्यवहार से व्याकुल होते है। हमे दु.ख होता है, जब हमे बताया जाता है कि अधिकतर लोगों का मत हमसे भिन्न है। यदि कोई प्रभावशाली अपरिचित व्यक्ति हो (जिसे संभवतः अनुसधानकर्ता ने वहाँ बिठाया था) तब हम उसका मत तुरन्त स्वीकार कर लेते है। परन्तु यदि एक समूह है, जिसके लिए हमें अधिक रुचि है, तो उसका विचार हम पर विशेष प्रभाव डालता है। यदि किसी समूह या संस्था के साथ अधिक मोह होता है, तब व्यावहारिक अनुरूपता की आवश्यकता से हम तार्किक परिणाम अथवा प्रत्यक्षानुभव से प्रतिकूल कार्य भी कर सकते है। कभी-कभी हम अपने आवश्यक समूह की बहुसंख्या के विपरीत औपचारिक मतदान करते है। परन्तु उस परिस्थिति मे हम अपने आप स्वीकार करते है, कि अन्य सदस्यों मे से अधिकांश वास्तव मे हमारे पक्ष मे ही मत देते, यदि उनको मतदान की स्वतन्त्रता होती।

अल्पसंख्यक विचार-व्यवहार मे हमें दु.ख केवल महत्त्वपूर्ण विचार-वस्तु के विषय में ही नही होता, किन्तु बहुत सामान्य या तुच्छ बातों के लिए भी हो सकता है। कल्पना करें कि आप दो x और y की लंबाई रेखाओ को कुछ दूर से देख कर तुलना कर रहे हैं और आपको लगता है कि x से y अधिक लम्बी है। परन्तु आपको पता लगता है (अथवा किसी प्रकार आपको विश्वास होता है) कि अधिकतर लोग उन रेखाओं की तुलना करते हुए y के अधिक लम्बे होने का निर्णय करते है। इस प्रकार की परिस्थिति में हमारे जैसे अधिकाश लोग अपना मत बहुमत के अनुकूल परिवर्तित करेंगे। बहुमत का प्रभाव 75-25 के अनुपात तक बढता रहेगा। इससे अधिक अनुपात से प्रभाव मे अधिक वृद्धि नही होती। जब परिस्थिति शकापूर्ण होती है अथवा सामग्री अपरिचित होती है, तब बहुमत का प्रभाव अधिक होता है। परिस्थिति के अनुसार 30 से 80 प्रतिशत वयस्क अपने निर्णय को बहुमत के

अनुकूल परिवर्तित करते हैं। जो लोग बहुमत के दबाव का विरोध करते हैं और अपने प्रत्यक्ष अनुभव (या तर्क) पर स्थिर रहते हैं, वे अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान होते है और उनमें "अहम्" शक्ति अधिक निर्धारित होती है।

अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए सामूहिक दबाव का प्रयोग करना

एक वांछित समूह के मानव-व्यवहार की अनुरूपता की प्रेरणा का प्रयोग युवक कार्यकर्ता और सुधारक चिरकाल से करते आ रहे है, विशेषतः जब वे समूहों तथा उनके नेताओ पर प्रभाव करने का प्रयास करते हैं। समूह-गतिवाद और सामाजिक इंजीनियरी के वृहत् नवीन संचलन में इस जानकारी को सुव्यवस्थित किया गया है। उदाहरणार्थ यदि एक छात्र समूह की पठन-अभिरुचि के क्षेत्र को कॉमिक पुस्तिकाओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य के लिए विस्तृत करने का प्रयास किया जा रहा है तथा एक ही समय में प्रत्येक सदस्य को समझाने का प्रयत्न कर यह आशा की जाती है कि इस प्रकार सारे समूह की अभिवृत्ति में परिवर्तन हो सकता है किन्तु प्रत्येक छात्र के साथ हमें, उक्त अपरिवर्तित समूह के खिचाव के विरुद्ध कार्य करना होगा। यह कार्य सामूहिक वाद-विवाद द्वारा अधिक सरलता व शीघ्रता से हो सकता है।

अनुरूपता को परिमित रखना

अनुरूपता अपने आप में न तो अच्छी है, और न ही बुरी। कभी-कभी व्यावहारिक अनुरूपता, यथा मार्ग पर सही रास्ते से आना, परमावश्यक है किन्तु विश्वास की अनुरूपता उस प्रकार जीवन-मरण का प्रश्न नहीं बन सकती, अतः अनुरूपता के अर्थ दबाव डालना स्पष्ट दुराचार है। यदि इस दबाव के कारण प्रेक्षक एवं तर्क-शास्त्र के विरुद्ध मत को स्वीकारना पड़ता है। विविधता और मतभेद से अधिकतर सत्य और सही हल उदित होता है अत. विशेष अनुरूपता उक्त विविधता का विरोध करके हानिप्रद हो सकती है। अनुचित अनुरूपता से हम किसी प्रकार बच सकते हैं। यह तो हमने देखा है कि कुछ लोग अपेक्षाकृत अधिक, संवेदनशील होते हैं। सामान्यतः विषय-वस्तु के साथ अधिक अनुभव प्राप्त व्यक्ति पर समूह का दबाव कम प्रभाव करता है। कम अनुभव वाला व्यक्ति प्रायः सामूहिक मत का अतार्किक अंश भी स्वीकार कर लेता है। जब हम देखते हैं कि कुछ अन्य लोग उक्त सामूहिक विचार-व्यवहार को अस्वीकार करते हैं, तब हमारी अनुरूपता की भी कम सम्भावना होती है। यह परिस्थिति विशेष रूप से सत्य होती है, जब सामूहिक मत का विरोध करने वाला व्यक्ति हमारा विश्वस्त मित्र या साथी होता है। एक सुझाव है कि कुशल नेता अल्पमत पक्ष को अपना विचार प्रकट करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है। तब एक प्रतिक्रिया की शृंखला आरम्भ हो सकती है और एक समस्त समूह को सामान्य से भिन्न होने के भय से उत्पन्न विचित्र भ्रमों को त्याग देने का प्रोत्साहन मिलता है।

2. नेतृत्व—नेता को सामाजिक प्रतिष्ठा तथा उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण मनोवैज्ञानिक नेतृत्व के गुणों की खोज के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। यद्यपि नेता संख्या मे कम होते हैं, उनका प्रभाव उनकी सामाजिक स्थिति के कारण हमेशा बड़ा होता है। पिछली दशाब्दी से नेतृत्व मे मनोवैज्ञानिको की रुचि बढ़ती जा रही है। इसका मुख्य कारण यही है कि विश्व को अनेक गतिविधियों के लिए बुद्धिमान नेताओं की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी सामाजिक समंजनों के लिए केवल सामान्य योग्यता की आवश्यकता होती है। यद्यपि यह बात मोटे तौर पर सच है परन्तु शब्दशः सच नहीं है। अति समंजित लोगों में जो सामाजिक प्रविधि (social technique) मौजूद होती है उसे मानसिक योग्यता के वैसे ही उच्च स्तरों में रूपान्तरित करना आवश्यक होता है। *उदाहरण के लिए सामाजिक समंजन का एक अंश ऐसा होता है; जिसका सम्बन्ध* शुद्धत मांसपेशियों और प्रेरक तन्त्र से होता है और इसका परिचय उचित ढंग से उठने बैठने और चलने फिरने में मिलता है। पर्याप्त अभ्यास करने पर सामान्य शरीर रचना वाले अधिकांश लोग इस प्रकार के प्रेरक समंजन कर सकते हैं। परन्तु जैसा कि लियरी ने तर्क तथा अधिगम के उच्च स्तरों के बारे में अपनी विवेचना में बताया है, सामाजिक समंजन बहुत जटिल, अमूर्त तथा अत्यधिक शाब्दिक होता है। कोई व्यक्ति सामाजिक समंजन और समाजीकरण के किस स्तर पर पहुँच गया है इसका पता इस बात से चलता है कि उसकी आयु और उसके समूह के लोगों में प्रेरक संवेगात्मक और अमूर्त मानसिक नियन्त्रण में सामान्यतः जितना समंजन होना चाहिए; उसमें और उस व्यक्ति के आचरण में क्या सम्बन्ध है।

सामाजिक विकास की समस्याएँ

1. अनुरूपता (Conformity)—हम में से अधिकतर लोग बाह्य दबाव से सामाजिक बहुमत को बहुत कम स्वीकार करते हैं। बाह्य दबाव के बिना ही अधिकतर लोग अपने अल्प-मत विचार-व्यवहार से व्याकुल होते हैं। हमें दुःख होता है, जब हमें बताया जाता है कि अधिकतर लोगों का मत हमसे भिन्न है। यदि कोई प्रभावशाली अपरिचित व्यक्ति हो (जिसे संभवतः अनुसंधानकर्ता ने वहाँ बिठाया था) तब हम उसका मत तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु यदि एक समूह है, जिसके लिए हमें अधिक रुचि है, तो उसका विचार हम पर विशेष प्रभाव डालता है। यदि किसी समूह या संस्था के साथ अधिक मोह होता है, तब व्यावहारिक अनुरूपता की आवश्यकता से हम तार्किक परिणाम अथवा प्रत्यक्षानुभव से प्रतिकूल कार्य भी कर सकते हैं। कभी-कभी हम अपने आवश्यक समूह की बहुसंख्या के विपरीत औपचारिक मतदान करते हैं। परन्तु उस परिस्थिति में हम अपने आप स्वीकार करते हैं, कि अन्य सदस्यों में से अधिकांश वास्तव में हमारे पक्ष में ही मत देते, यदि उनको मतदान की स्वतन्त्रता होती।

अल्पसंख्यक विचार-व्यवहार से हमें दुःख केवल महत्त्वपूर्ण विचार-वस्तु के विषय में ही नहीं होता, किन्तु बहुत सामान्य या तुच्छ बातों के लिए भी हो सकता है। कल्पना करें कि आप दो x और y की लंबाई रेखाओं को कुछ दूर से देख कर तुलना कर रहे हैं और आपको लगता है कि x से y अधिक लम्बी है। परन्तु आपको पता लगता है (अथवा किसी प्रकार आपको विश्वास होता है) कि अधिकतर लोग उन रेखाओं की तुलना करते हुए y के अधिक लम्बे होने का निर्णय करते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में हमारे जैसे अधिकांश लोग अपना मत बहुमत के अनुकूल परिवर्तित करेंगे। बहुमत का प्रभाव 75-25 के अनुपात तक बढ़ता रहेगा। इससे अधिक अनुपात से प्रभाव में अधिक वृद्धि नहीं होती। जब परिस्थिति शंकापूर्ण होती है अथवा सामग्री अपरिचित होती है, तब बहुमत का प्रभाव अधिक होता है। परिस्थिति के अनुसार 30 से 80 प्रतिशत वयस्क अपने निर्णय को बहुमत के

9. सामूहिक प्रतीक एवं आदर्श बनने का कार्य;
10. विचारक का कार्य।

नेतृत्व के गुण

समाज एक बदलने वाली स्थिति में रहता है। अतः नेतृत्व के गुण भी उसी के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। उदाहरण-स्वरूप एक राष्ट्र युद्ध के समय एक प्रकार का नेतृत्व चाहता है तो युद्ध के बाद दूसरे प्रकार का। अतः नेतृत्व के गुण के कोई निश्चित प्रतिमान नहीं हैं। नेतृत्व के गुण गिब (Gibb) के अनुसार इस प्रकार हो सकते हैं—"सब या कुछ व्यक्तित्व के ऐसे गुण जो किसी विशेष परिस्थिति में किसी व्यक्ति को इस योग्य बनाएँ कि (1) वह मान्य लक्ष्य की ओर प्रेरित करने वाली समूह गति को संचालित कर सके तथा (2) समूह के अन्य सदस्यों द्वारा इसका अहसास करवा सकें।

बर्नार्ड (Bernard) ने नेतृत्व के लिए 39 गुणों की सूची दी है तो बर्ड (Byrd) ने 80 विशेषताओं का वर्णन किया है। कॉफिन (Coffin) महोदय ने 11 विशेषताएँ बतायी हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

1. बुद्धि
2. नैतिक सवेदनशीलता
3. कल्पना
4. संयम
5. संकल्प-शक्ति
6. उत्तरदायित्व
7. गतिशील और शारीरिक विशेषताएँ
8. निश्चितता
9. सामाजिकता
10. आत्म-विश्वास एवं
11. दूसरों से अच्छे सम्बन्ध सरलता से बनाए रखना।

इन लोगों ने नेतृत्व के विपरीत गुण भी बतलाए हैं, जो इस प्रकार है—संकीर्ण दृष्टिकोण, डरपोकपन, जिद्दीपन इत्यादि।

एक मनोवैज्ञानिक के लिए यह निश्चय करना कठिन है कि कौनसा बालक नेता बन जाएगा, परन्तु विशेष अन्वेषण से वह व्यक्तित्व के कुछ गुणों के आधार पर यह आभास दे सकता है कि भावी पीढ़ी का नेतृत्व कौन करेगा।

कोले (Cole)[1] ने आवश्यक गुणों की सूची निम्न प्रकार दी है :—

1. जन्म-जात एवं अर्जित क्षमताएँ (Inborn and acquired capacities)—श्रेष्ठ बुद्धि, मानसिक जागरूकता, अच्छा शारीरिक गठन, शक्ति एवं स्वास्थ्य, दक्षता, वाक्-चातुर्य, स्फूर्ति, प्रफुल्लता, अदम्य साहस, परिपक्वता;
2. विशेष योग्यताएँ एवं उपलब्धियाँ (Special qualities and attainments)—विद्यालय कार्य, खेल-कूद, विशिष्ट ज्ञान के क्षेत्रों में;

---

1. कोले ल्यूऐला, "साइकोलॉजी आफ एडोलेसेन्स", (पंचम संस्करण), पृष्ठ 419–420.

नेतृत्व का अर्थ

किसी भी प्रकार के समूह में एक व्यक्ति ऐसा होता है जो दूसरों से ऊँचा दिखाई पड़ता है। वह यह जानता है कि समूह के अन्य सदस्यों से कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा कैसे उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिए। लापियरे एवं फारन्सवर्थ के अनुसार, "नेतृत्व वह व्यवहार है जो दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों को उससे कहीं अधिक प्रभावित करता है, जितना कि उनका व्यवहार नेता को प्रभावित करता है।[1]

नेतृत्व एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमे दो पार्टियाँ सम्मिलित होती हैं। एक वह जो नेतृत्व करती है, निर्देश देती है, एक आदर्श की तरह काम करती है और आदेश प्रदान करती है। दूसरी पार्टी अनुयायी बनती है, निर्देशों को ग्रहण करती है और आदेशों का पालन करती है। नेतृत्व के उचित कार्यों के लिए इन दोनों का सहयोग आवश्यक है। यदि अनुयायी नेता का अनुकरण नही करते तो नेता अपना उच्च स्थान खो देता है। अतः यह आवश्यक है कि नेता सदैव अपने अनुयायियों की इच्छा के अनुसार समायोजित होने को तत्पर रहे। अतः नेता स्वयं, उन व्यक्तियों द्वारा पथ प्रदर्शित होता है, जिनका वह नेतृत्व करना चाहता है।

नेता की परिभाषा

नेता एक ऐसा व्यक्ति होता है, जो कि जिस समूह का वह सदस्य है उसको सबसे अधिक प्रभावित करता है। "नेतृत्व एक अवधारणा है, जो कि व्यक्तित्व-वातावरण-सम्बन्ध मे प्रयोग की जाती है, ताकि उस स्थिति का वर्णन किया जाए जबकि व्यक्तित्व-वातावरण मे इस प्रकार से उपस्थित है कि व्यक्ति की इच्छा, भाव एवं अन्तर्दृष्टि दूसरो को आदेश देती है और उनका नियन्त्रण करती है, ताकि एक समान उद्देश्य की प्राप्ति हो सके।"[2]

नेता के कार्य

एक नेता के कार्य उस समूह पर निर्भर करते हैं, जिसका कि वह नेतृत्व करता है। अत. नेता का कार्य समूह की बनावट एवं उसके उद्देश्य पर निर्भर करता है। किन्तु कुछ ऐसे कार्य हैं, जिनका किया जाना सब समूहों के नेताओ द्वारा आवश्यक है। यहाँ उन्ही कार्यों को बताया जाता है—

1. अधिशासी का कार्य;
2. योजना-निर्माण का कार्य;
3. नीति निश्चित करने का कार्य;
4. विशेषज्ञ का कार्य;
5. समूह के बाह्य प्रतिनिधित्व का कार्य;
6. आन्तरिक सम्बन्धों मे नियन्त्रक का कार्य;
7. पुरस्कार एवं दण्ड-निर्धारण का कार्य;
8. पंच एवं मध्यस्थ का कार्य;

---

1. लापियरे एवं फारेन्सवर्थ, "सोशियल साइकोलाजी", पृ० 257.
2. पिगर, "हैन्ड बुक ऑफ सोशियल साइकोलोजी", पृ० 882.

9. सामूहिक प्रतीक एवं आदर्श बनने का कार्य;
10. विचारक का कार्य।

नेतृत्व के गुण

समाज एक बदलने वाली स्थिति में रहता है। अतः नेतृत्व के गुण भी उसी के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। उदाहरण-स्वरूप एक राष्ट्र युद्ध के समय एक प्रकार का नेतृत्व चाहता है तो युद्ध के बाद दूसरे प्रकार का। अतः नेतृत्व के गुण के कोई निश्चित प्रतिमान नहीं हैं। नेतृत्व के गुण गिब (Gibb) के अनुसार इस प्रकार हो सकते हैं—"सब या कुछ व्यक्तित्व के ऐसे गुण जो किसी विशेष परिस्थिति में किसी व्यक्ति को इस योग्य बनाएँ कि (1) वह मान्य लक्ष्य की ओर प्रेरित करने वाली समूह गति को संचालित कर सके तथा (2) समूह के अन्य सदस्यों द्वारा इसका अहसास करवा सकें।

बर्नार्ड (Bernard) ने नेतृत्व के लिए 39 गुणों की सूची दी है तो बर्ड (Byrd) ने 80 विशेषताओं का वर्णन किया है। कॉफिन (Coffin) महोदय ने 11 विशेषताएँ बतायी हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

1. बुद्धि
2. नैतिक संवेदनशीलता
3. कल्पना
4. संयम
5. संकल्प-शक्ति
6. उत्तरदायित्व
7. गतिशील और शारीरिक विशेषताएँ
8. निश्चितता
9. सामाजिकता
10. आत्म-विश्वास एवं
11. दूसरों से अच्छे सम्बन्ध सरलता से बनाए रखना।

इन लोगों ने नेतृत्व के विपरीत गुण भी बतलाए हैं, जो इस प्रकार है—संकीर्ण दृष्टिकोण, डरपोकपन, जिद्दीपन इत्यादि।

एक मनोवैज्ञानिक के लिए यह निश्चय करना कठिन है कि कौनसा बालक नेता बन जाएगा, परन्तु विशेष अन्वेषण से वह व्यक्तित्व के कुछ गुणों के आधार पर यह आभास दे सकता है कि भावी पीढ़ी का नेतृत्व कौन करेगा।

कोले (Cole)[1] ने आवश्यक गुणों की सूची निम्न प्रकार दी है :—

1. जन्म-जात एवं अर्जित क्षमताएँ (Inborn and acquired capacities)—श्रेष्ठ बुद्धि, मानसिक जागरूकता, अच्छा शारीरिक गठन, शक्ति एवं स्वास्थ्य, दक्षता, वाक्-चातुर्य, स्फूर्ति, प्रफुल्लता, अदम्य साहस, परिपक्वता;
2. विशेष योग्यताएँ एव उपलब्धियाँ (Special qualities and attainments)—विद्यालय कार्य, खेल-कूद, विशिष्ट ज्ञान के क्षेत्रों में;

1. कोले ल्यूऐला, "साइकोलोजी आफ एडोलेसेन्स", (पंचम संस्करण), पृष्ठ 419–420.

3. बाह्य रंग, रूप, एवं व्यवहार (Appearance and manner)—उचित वेश-भूषा, पसन्द आवाज, सौम्य एवं आकर्षक व्यक्तित्व;
4. स्फूर्ति (motility);
5. सह-सम्बन्ध (Contact with Others)—
   1. आक्रामकता, आत्म-विश्वास, आकांक्षा, पहल, संयम
   2. निर्भरता, दायित्व, निष्ठा
   3. सामाजिकता, दयालुता, ग्राह्यता, सहयोग, अनुयायियों में इस प्रकार घुल-मिल जाने की क्षमता कि वे उसे अपने से बाहर नहीं समझें, सीमाओं में रहने की इच्छा।
6. विशिष्ट बौद्धिक गुण (Special Intellectual Qualities)—निर्णय, मौलिकता, अन्तर्दृष्टि, निष्पक्षता, कूटनीति;
7. पारिवारिक पृष्ठभूमि (Family background)—श्रेष्ठ सामाजिक-आर्थिक स्तर, नेतृत्व के गुणों से भरपूर परिवार।

3. समाजीकरण की समस्या—सामाजिक समस्याएँ लड़कियों को लड़कों से अधिक झेलनी पड़ती हैं। सभी किशोरों को मित्रों का अभाव; सामाजिक क्रियाओं के लिए आर्थिक कठिनाई, फैशन के अनुसार वेश-भूषा आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्राक्किशोरावस्था में सामाजिक चेतना का उदय सामाजिक प्रकृति के विकास की समस्याओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटक बन जाता है। इसके फलस्वरूप दब्बूपन, रोझना, दिवास्वप्न देखना आदि प्रवृत्तियों का जन्म होता है। कार्ल गैरीसन ने विशिष्ट बालकों के मनोविज्ञान में लूसी नामक किशोर बालिका का उदाहरण दिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार से अनेक कारक मिलकर समाजीकरण को प्रभावित करते हैं—लूसी एक बारह वर्ष की बालिका थी। वह अपनी कक्षा तथा आयु समूह की अन्य बालिकाओं से कुछ अधिक ही लम्बी थी। उसकी बुद्धिलब्धि 90 थी। अतः वह विद्यालय कार्य में पिछड़ी हुई थी। कक्षा में आयु की दृष्टि से भी वह बड़ी थी परन्तु फिर भी वह विद्यालय का कार्य सन्तोषजनक ढंग से नहीं कर पाती थी। इसका कारण उसकी हीन सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि थी। दरिद्रता के कारण उसके परिवार की दशा भी गिरी हुई थी। उचित वेशभूषा के अभाव में वह और भी अनाकर्षक लगती थी।

शिक्षिका ने उसकी कठिनाइयों को पहचाना तथा उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार रखा। लूसी अपनी हीनता के कारण समूह में मिलने से तथा श्याम पट्ट तक आने में झिझकती थी। वह अपनी सीट पर बैठे-बैठे प्रश्नों के सही उत्तर दे सकती थी परन्तु उसकी यह हीन भावना कि "वह अनाकर्षक है तथा उचित पोशाक में नहीं है", । उसे समूह में मिलने से रोकती थी। शिक्षिका ने भी नरमी दिखाई एवं उसे इसके लिए बाध्य नहीं किया। लूसी के मस्तिष्क में यह बात जम गई कि यदि वह कुछ कार्य नहीं भी करना चाहेगी तो उसे छूट मिल जाएगी।

सत्र के अन्त में, अब तेरह वर्षीय लूसी, अगली कक्षा सात में प्रोन्नत हो गई। नई शिक्षिका को भी लूसी की समस्या से अवगत करा दिया गया। उसने पिछली शिक्षिका की भूल को अनुभव किया तथा यह लक्ष्य निर्धारित किया कि वह लूसी को सामाजिक रूप से

अधिक समायोजित करने की दिशा में कार्य करेगी। वह लूसी के घर भी गई, उसके परिवार के सदस्यों से मिली तथा उसके माता-पिता से भी सहयोग की इच्छा की। इसी बीच सौभाग्य से लूसी को उसके ही पड़ौस में कुछ कार्य मिल गया; इससे उसकी आर्थिक समस्या हल होने में सहायता मिली। वह अब अधिक साफ-सुथरी रह सकती थी तथा अपने साथियों जैसे कपड़े पहन सकती थी। उसमें यह विश्वास भी आया कि वह कुछ करने योग्य है। वर्ष के अन्त तक उसके सामाजीकरण की दिशा में भी सुधार लक्षित हुआ।

किशोर के सामाजीकरण के लिए यह आवश्यक है कि जब वे विकास की इस स्थिति में पहुँच जाएँ कि सामाजिक गतिविधियों में भाग ले सकें, तब उनकी रुचि की सामाजिक क्रियाओं के मार्ग खुले रहने चाहिए। यदि परिवार, विद्यालय व अन्य अभिकरण उसे समय-समय पर सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होने के अवसर प्रदान करते रहते हैं तो समाजीकरण की दिशा में निश्चय ही एक लाभकारी कदम रहता है।

4. सांस्कृतिक अपेक्षाएँ

किशोर पर उस सांस्कृतिक वातावरण, रीति-रिवाज एवं परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ता है, जिसमें कि वह पैदा हुआ है और उसका लालन-पालन हुआ है; जैसे कि भारतीय परिवार में जन्म लेने वाले बालक का सामाजिक व्यवहार यूरोप या अमरीका में जन्म लेने वाले बालक से भिन्न होगा। वहाँ के बालक बालिकाओं के सम्बन्धों में भारतीय मापदंडों से बड़ा भारी अन्तर है। भारत में किशोर-किशोरियों के सामाजिक गोष्ठियों, सार्वजनिक स्थानों आदि में साथ-साथ जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ प्रणय-निवेदन या प्रिय-मिलन की परम्परा भी नहीं है। सिनेमा, क्लब या नाट्यशाला में भी वे साथ-साथ नहीं जा सकते। प्रत्येक संस्कृति के अपने नियम, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आदि होते हैं। अमरीकी संस्कृति में किशोरावस्था की अवधि को बढ़ा दिया जाता है जबकि अनेक आदिम संस्कृतियों में बाल्यावस्था से बालक शीघ्र ही प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर लेता है; उसमें किशोरावस्था होती ही नहीं है। इस प्रकार विभिन्न संस्कृतियों की विभिन्न अपेक्षाएँ होती हैं। उन्हीं के अनुसार समाज अपने सदस्यों से व्यवहार की अपेक्षा करता है—यद्यपि उसमें भी आयु, लिंग, सामाजिक-आर्थिक स्तर के अनुसार अन्तर बना रहता है।

5. सामाजिक समायोजन एवं वर्ग स्तर

भिन्न सामाजिक स्तर के किशोरों के उद्देश्य, अभिवृत्तियाँ, व्यवहार के प्रतिमान आदि भी भिन्न होते हैं। निम्न वर्ग एवं मध्यम वर्ग के किशोरों की अपेक्षाओं में भी अन्तर रहता है।

एक निम्न वर्ग का बालक एवं उसके माता-पिता विद्यालयी शिक्षा की समाप्ति के सम्बन्ध में चिंतित नहीं रहते; इसके विपरीत वे तो शिक्षा के प्रति उदासीन ही रहते हैं। अभिभावकों की ओर से उन पर नियन्त्रण भी कम रहता है तथा उनसे यौन-सम्बन्धी छिपाव दुराव भी नहीं रहता। जो भी थोड़ा बहुत पैसा किशोर कमाता है, उसके खर्च पर भी कोई नियन्त्रण नहीं रहता। उनका विवाह भी अपेक्षाकृत कम आयु में ही हो जाता है। अत. किशोरावस्था की अवधि घट जाती है और वे छोटी आयु में ही दायित्व बोध से दब जाते हैं। इसके विपरीत मध्यम वर्ग के किशोर एवं अभिभावक शिक्षा के प्रति चिन्तित रहते हैं तथा जीविका का साधन निश्चित होने तक विवाह नहीं करते। माता-पिता उनके

मनोरंजन के साधन, मित्र, यौन-रुचि आदि सभी पर नियन्त्रण रखते हैं। ये आक्रामक एवं झगड़ालू प्रवृत्ति के नहीं होते। उच्च सामाजिक गतिशीलता की ओर इन्हें प्रेरित किया जाता है। समाज में उठने-बैठने के इनके तौर-तरीकों आदि पर भी जोर दिया जाता है।

समाजीकरण में विफलताएँ

बोनी (Bonney) ने अपने अध्ययन में यह जानने का प्रयास किया कि सामाजिक रूप से सामान्यतः स्वीकृत व्यक्ति के क्या गुण होते हैं तथा सामाजिक रूप से अस्वीकृत व्यक्ति में कौन से अभाव होते हैं। इस अध्ययन के लिए सामग्री एकत्रित करने में उसने दो विधियाँ अपनाईं—

1. विशेषकों की दर ज्ञात करना (trait ratings)
2. मित्रों का चयन।

इस अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सामान्यतः लोकप्रिय किशोर आक्रामक प्रवृत्ति के तथा बहिर्मुखी होते हैं। उन्होंने पाया कि समाज दब्बू एवं भीरू लोगों को अधिक *मान्यता नहीं देता। लोकप्रिय बनने के लिए आवश्यक गुणों का विकास होना आवश्यक* है। ये गुण हैं सुदृढ एवं आकर्षक व्यक्तित्व, उत्साह, मित्रताएँ, योग्यताएँ आदि। जो किशोर रूढ़िग्रस्त होते हैं, जिन पर अधिक नियन्त्रण रखे जाते हैं, वे मुरझाए रहते हैं, लोकप्रिय नहीं बन पाते।

आयु के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों में अनेकरूपता आती रहती है; इसमें नवीन सामाजिक दक्षताओं की आवश्यकता पड़ती है। बालक जब प्राथमिक विद्यालय से माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश करता है, उसके सम्पर्क में नवीन व्यक्ति आते हैं; अजनबी सहपाठी आते हैं। विविध पृष्ठभूमि के परिवार के बालकों से उसका सम्पर्क होता है। उसे इन सबके साथ समायोजन एवं बदली हुई स्थिति में विद्यालय की गतिविधियों में हिस्सा लेना सीखना पड़ता है। विद्यालय में शिक्षकों की एवं सहपाठियों की संख्या में वृद्धि, कार्यक्रम में बढ़ोतरी आदि होती है। यदि वह इस समाजीकरण की प्रक्रिया में सफल नहीं हो सकता है, तो अन्तर्मुखी हो जाएगा और उसका बहुत-सा समय दिवा-कल्पनाओं में व्यतीत हो जाएगा।

किशोरावस्था में सामाजिक सम्बन्धों में अनेक रुकावटें आती हैं। धर्म, रंग, राष्ट्रीयता, वर्ग आदि के भेद-भाव बढ़ते जाते हैं। किशोर के सामने यह महत्त्वपूर्ण विषय बन जाता है कि वह अपने मित्रों का चुनाव किस प्रकार करे—उसका यह वर्द्धित मानसिक जीवन एक नये आत्म का निर्माण करता है। यह नया आत्म अभिव्यक्ति चाहता है। यह अभिव्यक्ति वांछित दिशाओं में अभिव्यक्त हो सके, इसके लिए सहानुभूतिपूर्ण निर्देशन की आवश्यकता होती है।

सारांश

सामाजिक क्रियाओं के कारण फलीभूत होने वाले विकास को ही सामाजिक विकास कहते हैं।

आयु-वृद्धि के साथ-साथ बालक के व्यवहार में सामाजिकता की वृद्धि आती है। वह अब घर से गली, विद्यालय व समुदाय की ओर प्रगति करता है। अतः उचित सामाजिक विकास के लिए उसे सद्व्यवहार, सुरक्षा, स्वतन्त्रता, लाभकारी अभिवृत्तियाँ,

दायित्व, समायोजन, मैत्री, कल्याणकारी दृष्टिकोण आदि की आवश्यकता रहती है। अतः आयु के साथ-साथ किशोर में सामाजिक संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व की भावना की वृद्धि होती है। उसमें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करने की भावना भी आती है।

किशोर की सबसे अधिक इच्छा यह रहती है कि वह समवयस्कों में लोकप्रिय रहे। इसके लिए आवश्यक है कि वह कुछ ऐसे गुण अर्जित करे जिन्हें उसके मित्र स्वीकारते है। इसके साथ ही वह यह भी चाहता है कि वह सामाजिक कार्यों में अधिक से अधिक भाग ग्रहण करें।

मित्रता एवं लोकप्रियता में अन्तर होता है। मित्रता उभयपक्षीय होती है। दो मित्रों की घनिष्ठ मैत्री भाई जैसी भी हो सकती है और केवल पहचान जैसी भी।

किशोरावस्था में सामाजिक विकास में काम-भावना की मुख्य भूमिका है। काम-भावना का विकास किशोर में धीरे-धीरे होता है। इसकी तीन अवस्थाएँ हैं—1. स्वप्रेम में किशोर अपने ही शरीर से प्रेम करता है। 2. किशोर काल के प्रारंभ में काम-भावना समलिंगी अधिक रहती है। 3. उत्तर किशोर काल में काम-भावना विषमलिंगी बन जाती है। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि उनके प्रेम में शारीरिक सम्बन्ध ही हो, यह प्रेम प्लेटोनिक प्रेम भी हो सकता है, जिसकी की सम्भावना अधिक होती है। फिर भी अनेक ऐसे समाज हैं जो स्वाभाविक आकर्षण को अस्वीकृत करके किशोर के लिए कई प्रकार की समस्याएँ खड़ी कर देते हैं।

आयु के अनुसार सामाजिक आचरण के स्तर बदलते रहते हैं। सामाजिक स्तर अन्तर्जात होते हैं जो कि सामान्य तथा विशिष्ट योग्यता से सम्बन्धित होते हैं। सामाजिक समंजन के लिए सामान्य योग्यता ही पर्याप्त है। यद्यपि कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह एक कठिन कार्य है।

सामाजिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं में प्रथम है अनुरूपता की भावना। इस भावना के कारण व्यक्ति तुरंत ही बहुमत के अनुसार अपने निर्णय बदल डालता है, यद्यपि अधिक बुद्धिमान वे हैं जो अपने अनुभव के आधार पर लिए गए निर्णय पर स्थिर रहते हैं। अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु सामूहिक दबाव का प्रयोग इसीलिए संभव है परन्तु अनुरूपता का इस प्रकार प्रयोग करना अनुचित है। सामाजिक विकास का दूसरा बाधक तत्व है—नेतृत्व। नेतृत्व में एक व्यक्ति आदेश देता है और उसका समूह उसकी पालना करता है। नेतृत्व के उचित कार्य हेतु दोनों का ही सहयोग आवश्यक है। नेतृत्व के गुणों में चिन्तन, योजना निर्माण, संगठन व अधिशासन हैं। नेतृत्व के गुण काल एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील हैं। रथूएला कोले ने इस सम्बन्ध में विचार से विस्तार किया है। सामाजिक विकास के मार्ग में तीसरी बाधा समाजीकरण की है। किशोर के इर्द-गिर्द के अनेक कारक मिलकर उसके समाजीकरण को प्रभावित करते है। किशोर के सामाजिक विकास की चौथी बाधा है जिस संस्कृति में उसने जन्म लिया है उसकी अपेक्षाएँ। पाँचवीं बाधा है वह वर्ग स्तर जिसमें कि किशोर ने जन्म लिया है।

उपरोक्त कारणों से किशोर को समाजीकरण में विफलताओं को भी झेलना पड़ता है। इस सम्बन्ध में बोनी द्वारा किया गया अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

□□□

अध्याय 7

आयु के साथ रुचियों में परिवर्तन

रुचियों का अर्थ

किशोर स्थिर पर्यावरण मे निवास करने वाला निष्क्रिय वर्ता नही है। इसकी क्रियाओं को प्रभावित करने वाले दो घटक हैं—1 पर्यावरण तथा 2. प्रारम्भिक अनुभवों के आधार पर तंत्रिका पेशी तंत्र (neuro-musculer system) में आने वाले परिवर्तन। इन्हीं के अनुसार वह अपनी शक्तियों का प्रयोग एक निश्चित दिशा में करता है। अतः किशोर की रुचियाँ सोद्देश्य होती हैं, क्योकि परिस्थितियाँ व्यक्ति मे कुछ ऐसी अनुक्रियाएँ (responses) उत्पन्न करती हैं कि उसकी इच्छाएँ व कामनाएँ उसकी रुचियों को क्रियान्वित करने की ओर उन्मुख हो जाती हैं।

"रुचि" के लिए आग्ल भाषा में 'interest' शब्द प्रयुक्त होता है, जिसकी व्युत्पत्ति लेटिन शब्द interesee (इन्टेरेसी) से हुई है। इसका अर्थ है "दो के बीच में", "अन्तर करना", "कुछ मूल्य रखना।" इसके अनुसार रुचि को इस प्रकार वर्णित किया गया है—"वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के बीच की कुछ वस्तु या व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति का साधन, क्योंकि इसमें उपयोगिता है या आनन्द है, या इसकी सामाजिक व व्यावसायिक महत्ता है या इसमें एक बल है जो व्यक्ति को सक्रिय बनाता है। रुचि व्यक्ति के जीवन की वह संवेगात्मक अवस्था है जो उसकी आदतों एव कार्यशैली से जुड़ी हुई है। रुचि की स्थिति मे व्यक्ति पर्यावरण की कई बातो की ओर ध्यान नही देता। इसके दो कारण हैं—

1 पर्यावरण के वस्तुनिष्ठ निर्धारक यथा तीव्रता, प्रसार, अवधि, गति;

2 तंत्रिका—पेशी तंत्र (neuro muscular system) मे होने वाले कुछ परिवर्तन, जो कि उसकी कुछ वस्तुओं की ओर खीचते हैं तथा कुछ से पृथक कर देते हैं।

कोई व्यक्ति कुछ स्थितियो को पसन्द करता है तथा उनकी प्राप्ति की ओर पसंदगी के आधार पर आगे बढता है। कुछ स्थितियों को वह पसन्द नही करता है, इसका कारण उसकी रुचि है। इस प्रकार रुचि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वेच्छा से किए गए कार्य से होता है तथा जैसे ही उस कार्य मे उसकी रुचि समाप्त हो जाती है, वह अपने आपको तत्काल वहाँ से खीच लेता है।

प्राणी मे जैविक एव सामाजिक अन्तर्नोद (biological and social drives) विद्यमान होते है। अत. ज्ञान की वृद्धि, अनुभवों के विकास, विशिष्ट आदत प्रतिमान आदि के कारण किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते व्यक्ति में दोनों प्रकार की रुचियाँ—अत स्थ

एवं वाह्य (intrinsic and extrinsic) पाई जाती है। किशोर के लिए हितकारी यही है कि इन दोनों रुचियों में संतुलन कायम किया जा सके।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किशोरावस्था विभिन्न एवं विशिष्ट रुचियों का काल है। ये सभी रुचियाँ अनुभवों के अनुसार विकसित होती हैं। व्यक्ति के जीवन के अनुभव उनमें जीवन रुचियों के विकास एवं निर्देशन में सहायक होते हैं। बालक के जीवन में रुचियों का निर्माण अधिगम के नियमों के अनुसार होता है। यह लगभग उसी प्रकार का होता है जैसे कि आदतों के प्रतिमानों का। दीर्घ निरीक्षणों से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अपने पर्यावरण के किसी विशिष्ट चरण की ओर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। व्यक्ति की अपनी विशेषताओं के कारण ऐसा होता है। हो सकता है कोई किशोर पुस्तकों के पढ़ने में रुचि रखता हो तो कोई खेल-कूद में। किसी विशेष कार्य के प्रति रुचि का होना एक प्रकार का अन्तर्नोद है। यदि किशोर कोई कार्य केवल अपने आनन्द के लिए करता है तो यह उसकी अंतःस्थ रुचियों के कारण है परन्तु यदि वह कोई कार्य अपने को समूह के योग्य बनाने के लिए करता है या अपने में कुछ चारित्रिक विशेषताएँ उत्पन्न करने के लिए करता है तो यह उसकी वाह्यस्थ रुचियों का परिणाम है। वाह्य रुचियों की तुलना में आन्तरिक रुचियाँ अधिक स्वतः स्फुरित होती है।

डब्ल्यू. आर. वूरमन[1] के अनुसार रुचियों की प्रकृति का ज्ञान माता-पिता, शिक्षक तथा किशोर-परामर्शदाता आदि के लिए, जो कि लड़कपन एवं जवानी की बेचैनी को नियंत्रित करना चाहते हैं, अत्यधिक महत्व का है।, व्यक्ति की आन्तरिक रुचि उस ओर होती है, जो कि वह स्वयं चाहता है। उदाहरण के लिए किशोर अपने स्वाद के अनुसार सादे भोजन को अपेक्षा स्वादिष्ट दावत अधिक पसन्द करता है, यद्यपि सादा भोजन स्वास्थ्य-वर्द्धक है। साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिए कि किशोरावस्था में किशोर के अनुभवों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तथा वह उन्हीं दैनिक अनुभवों को लक्ष्य-प्राप्ति का साधन समझने लगता है। यह प्रौढ पीढी की चतुरता पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार उसका इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करें, कि वह समझ सके कि इस तुरन्त सन्तुष्टि के अतिरिक्त भी अनेक कार्य हैं जिनका कि शाश्वत मूल्य है।

रुचियों में वृद्धि

बाल्यकाल की रुचियाँ सामान्यतः व्यक्तिगत सम्बन्धों पर केन्द्रित होती हैं। उस समय आस-पास की वस्तुओं की जानकारी तक ही उसकी रुचि सीमित होती है परन्तु उस ज्ञान प्राप्ति के पीछे कोई वैज्ञानिक खोज वाली भावना नहीं होती; जैसे कि किसी नए पशु या पक्षी को देखकर उसके सम्बन्ध में प्रश्न करना, "यह क्या है?" परन्तु शनैः शनैः वह उसको लेकर और अधिक प्रश्न करता है—उसके जीवन से सम्बन्धित, उसकी बनावट से सम्बन्धित आदि। यहीं से वैज्ञानिक रुचि का आरम्भ हो जाता है। यह सच है कि रुचि अनुभव पर निर्भर करती है परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि जन्मजात योग्यता की

---

1. बूरमेन, डब्ल्यू. आर. : "डेवेलपिंग पर्सनलिटी इन बोयज" न्यूयार्क : द मैकमिलन कम्पनी, 1929 पृ० 41.

कोई भूमिका नहीं रहती। प्राणी की शारीरिक वृद्धि भी रुचियों के विकास में एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यहाँ तक कि ग्रातराग एवं ग्रन्थि-क्रियाएँ भी रुचियों की दिशा मे परिवर्तन ला सकती हैं।

यह सामान्य अनुभव की बात है कि बाल्यावस्था मे व्यक्ति की रुचि गुट्टे खेलने, परियों की कहानी पढ़ने, जादू के खेल देखने आदि में होती है परन्तु किशोर एव किशोरियो में परिपक्वता आने के साथ उनका झुकाव सामाजिक विकास की ओर उन्मुख क्रियाओ की ओर हो जाता है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि रुचियों का अनुभवो से गहन सम्बन्ध है। किशोर एव किशोरियों की रुचियों में भी अन्तर पाया जाता है। वे शहर के निवासी हैं या देहात के, यह भी रुचियों में अन्तर का कारण बन जाता है। साइमन्ड्स ने इस दिशा मे अध्ययन किए हैं। उनके अध्ययन के आधार पर ज्ञात होता है कि किशोर स्वास्थ्य, सुरक्षा, धन तथा यौन सम्बन्धी बातों मे अधिक रुचि रखते है। किशोरियाँ घरेलू बातें, व्यक्ति आकर्षण, मानसिक स्वास्थ्य, अपना जीवन दर्शन बनाना आदि मे रुचि रखती है। इसी प्रकार नगरों के किशोर-किशोरी सामाजिक कार्यों मे देहाती किशोर-किशोरी की अपेक्षा अधिक रुचि रखते है। इस प्रकार बाल्यावस्था से किशोरावस्था मे होते हुए प्रौढता तक पहुँचते हुए व्यक्ति की वृद्धि मे पर्यावरण, बुद्धि, लिंग-अन्तर, परिपक्वता एवं प्रशिक्षण आदि सभी मिला-जुला प्रभाव डालते है।

किशोरावस्था की रुचियाँ

स्वयं से सम्बन्धित रुचियाँ—किशोरावस्था के आगमन के साथ ही किशोर के मन में शारीरिक दिखावे की भावना जाग्रत होने लगती है। वह सर्वोत्तम दिखने का प्रयत्न करने लगता है और उसकी अपने में तथा अपना उत्तम प्रदर्शन करने की रुचि में परिपक्वता तक की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते तीव्रता से वृद्धि हो जाती है। उसका अधिकांश समय अपने व्यक्तित्व को स्थापित करने मे ही लगा होता है। स्टोल्ट्ज तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों[1] के अनुसार "किशोरी यह दिखलाना चाहती है कि वह समस्त स्त्री-गुणो से सम्पन्न है और किशोर इस प्रदर्शन में लगा रहता है कि पुरुषोचित समस्त गुणों का वह भडार है। फलत. किशोरियाँ अपना अधिकाश समय अपनी साज-सज्जा मे लगाती हैं—अपने को सुन्दर एवं आकर्षक सिद्ध करने के लिए वे अपनी शरीर की स्वच्छता और बोलने के ढंग तथा हाव-भाव की ओर अत्यधिक सचेत हो जाती हैं। किशोर अपने पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए खेल-कूदों में सर्व प्रथम आने की चेष्टा में लगे रहते हैं।"

(1) पोशाक सम्बन्धी रुचियाँ—बचपन में व्यक्ति अपनी पोशाक की ओर तनिक भी ध्यान नही देता। उसे अपने समूह मे खेलने की लालमा अधिक रहती हैं। माता के कहने पर भी वह सोचता है कि पोशाक बदलने में समय नष्ट होगा परन्तु किशोरावस्था के आते ही किशोर का ध्यान अपनी साज-सज्जा की ओर जाने लगता है। विशेषकर किशोरियाँ दर्जी के सिले हुए प्रचलित फैशन के अनुसार वस्त्र धारण करती हैं। उनका अधिकांश समय शो-विन्डोज व दूसरों के वस्त्र आदि देखने में ही व्यतीत होता है।

---

1. स्टोल्ट्ज, जोन्स एण्ड चेफे, "द जूनियर हाई स्कूल एज" यूनीवर्सिटी ऑफ केलीफोर्निया, 1937, पृ० 63-72.

(ii) बाह्य आभास संवारने में रुचि—इसके लिए लड़के अपना अधिकांश समय बाल संवारने, दाँत साफ करने, साफ-सुथरे इस्तरी किए हुए कपड़े पहनने में लगाते हैं। उनमें सामाजिक सचेतना आने लगती है। उनके बालों का स्टाइल भी वे प्रचलित फैशन के अनुसार ही बनाते हैं। किशोरियाँ भी अधिकांश समय दर्पण के सामने व्यतीत करती हैं।

(iii) शारीरिक स्वच्छता में रुचि—किशोर अपनी शक्ल सूरत के सम्बन्ध मे सतर्क रहते हैं। बाल व नाखून ठीक से कटे हैं, हाथ-पाँव गन्दे व फटे हुए नही हैं, आदि।

(iv) सौन्दर्य प्रचलित फैशन के अनुसार—वे अपने शरीर के आकार के प्रति भी सतर्क रहते हैं। कृशकाय हैं तो स्वस्थ होने के लिए स्वास्थ्यवर्धक भोजन लेते हैं। मोटे हैं तो, मोटापा मिटाने के लिए व्यायाम करते हैं, भोजन की मात्रा घटाते हैं, इसी प्रकार यदि लम्बाई कम है तो एडीदार जूते-सैण्डिल पहिनते हैं। यदि एकदम से लम्बाई बढ़ गई है तो उन्हें मन ही मन अपने शरीर पर ग्लानि होती है। संक्षेप में वे अपने साथियों की, विशेष रूप से, विपरीत लिंगियों की स्वीकृति चाहते हैं। इसके लिए किशोर एवं किशोरी दोनों ही सौन्दर्य-वृद्धि हेतु सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करते हैं। उनका अधिकांश समय सम्बन्धित विज्ञापनों को देखने-पढ़ने में जाता है।

2. विद्यालय से सम्बन्धित रुचियाँ

(i) अध्ययन सम्बन्धी रुचियाँ (Reading interests)—किशोरावस्था में रुचि कॉमिक्स व साहसिक या रहस्य भरी पुस्तकें व पत्रिकाओं के पढ़ने मे नही रहती। अब उसका स्थान रोमांस एवं भावनाओं से भरा साहित्य ले लेता है। किशोरियों में परिपक्वता शीघ्रता से आती है अतः वे इस प्रकार की पुस्तकों में किशोरो की अपेक्षा कम आयु में रुचि लेने लगती हैं। दोनों की रुचि जीवन-चरित्र एवं यात्रा सम्बन्धी वर्णनों में भी होती हैं। दोनों की ही रुचि काल्पनिक साहित्य में अधिक होती है। लड़कियों का अध्ययन लड़को के अध्ययन से अधिक होता है। पुस्तकें पढ़ने का अपना ही महत्त्व है परन्तु पुस्तकों के सही चयन में सहायता की आवश्यकता होती है।

(ii) विद्यालय में पढ़ाए जाने वाले विषयों में रुचियाँ—व्यक्ति उन्हीं विषयों में रुचि रखते हैं जिन्हें कि वह सर्वोत्तम रूप से समझ सकें—जिसे सुचारू रूप से समझने की उनमें योग्यता है। सामान्यतः लड़कियों को गणित एवं अंग्रेजी में कम रुचि होती है। उनकी रुचि गृहविज्ञान, संगीत, चित्रकला आदि विषयों में होती है।

रुचियाँ एवं योग्यताएँ

विद्यालय का यह दायित्व है कि वह यह ध्यान रखे कि किशोर को विद्यालय मे ऐसे अनुभव प्राप्त हों, जो कि उसमें वांछित रुचियाँ और आदतों को विकसित कर सकें। रुचियों का अभिप्रेरणाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। सफल शिक्षक इस बात से भली-भाँति परिचित हैं कि यदि किसी कार्य मे किशोर की रुचि है तथा प्रेरणा उचित रीति से दी जाती है तो वही कार्य या विषय विद्यार्थी को सरल लगने लगता है। यदि उसकी रुचि उस ओर है तो उसका सारा ध्यान उस विषय में ही केन्द्रित रहेगा और मन डावाँडोल

ध्यान मग्न अनुक्रिया पर निर्भर हैं। रुचि एवं अधिगम का सम्बन्ध भी सहज ही स्पष्ट है। अभिवृत्ति का भी अधिगम से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तथा अधिगम की मात्रा एवं अवधि व्यक्ति की अभिवृत्तियों पर निर्भर रहती है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि भिन्न-भिन्न उद्देश्यों द्वारा जब भिन्न-भिन्न अभिवृत्तियां उत्पन्न की गईं तो एक ही विषय के सीखने में एक विशेष अन्तर लक्षित हुआ। अतः यह आधारभूत तथ्य स्थापित होता है कि "रुचि योग्यता को जन्म देती है और योग्यता रुचि को" यह अत्यन्त स्पष्ट बात है कि बिना योग्यता के व्यक्ति किसी कार्य में कैसे रुचि ले सकता है? यदि उसे उस कार्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है तो रुचि उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

रुचि का योग्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि यदि किसी व्यक्ति को किसी कार्य में गहरी रुचि है तो वह उसमें योग्य भी हो। ऐसा वैयक्तिक विभिन्नताओं के कारण भी होता है। एक विद्यार्थी किसी कार्य विशेष में रुचि रखता है तथा दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा उसमें अधिक योग्यता भी रखता है परन्तु कतिपय सामान्य अभावों के कारण पूर्ण योग्य नहीं बन सकता। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी को सबसे अच्छा खेल बेसबाल का लगता है; वह इस खेल को खेलना भी जानता है परन्तु इससे हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि वह विद्यालय की बेसबाल टीम के लिए चयनित हो ही जाएगा। उसकी बेसबाल में रुचि है अतः खेलने की योग्यता भी है इससे हम यह कह सकते हैं कि दूसरे खेलों की अपेक्षा वह इस खेल में अधिक योग्य है।

माता-पिता एवं शिक्षक अच्छे वातावरण का निर्माण कर विद्यार्थी को अच्छे अनुभव प्रदान कर उसमें अच्छी रुचियां उत्पन्न कर सकते हैं। साथ ही विद्यार्थी के अच्छे गुणों, क्षमताओं, योग्यताओं आदि की प्रशंसा करके भी उनमें सद्गुणों का विकास एवं वृद्धि कर सकते हैं।

विद्यालय तथा रुचियों में विस्तार

विद्यालय अनेक अन्य बातों के अतिरिक्त किशोर को अपने सामाजिक सम्बन्धों में विस्तार करने, प्रतिष्ठा प्राप्त करने एवं सामान्य प्रौढ़ जीवन व्यतीत करने के लिए स्वयं को तैयार करने के भी अवसर प्रदान करता है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी किशोर शैक्षिक विषयों में पारंगत हो जायें लेकिन अधिकांश विद्यालय में प्राप्त प्रशिक्षण एवं प्रभावों के अनुसार सामान्य जीवन जीना सीख जाते हैं।

विद्यालय में इस अवधि में की गई मित्रताएँ भी उनके चरित्र व व्यक्ति निर्माण में अपना प्रभाव छोड़ती है तथा प्रौढ़ता को स्थैर्य देने में सहायक होती है। इन मित्रताओं का आधार समान रुचियां होती हैं, यथा—एक खिलाड़ी किशोर खिलाड़ियों की ओर सहज ही आकृष्ट होता है। विद्यालय पाठ्येतर प्रवृत्तियों के रूप में कुछ कार्य प्रारम्भ कर समान रुचियों वाले किशोरों की मित्रताओं को प्रोत्साहन दे सकता है।

प्रतिबद्धता (loyalty) की नींव भी विद्यालय में ही रखी जाती है। आरम्भ में यह गुण अपने साथियों एवं अध्यापकों के प्रति ही रखता है परन्तु शनैः शनैः यह विद्यालय भावना के रूप में समस्त विद्यालय को छू लेता है। विद्यालय का कार्य सैद्धान्तिक रूप में निष्ठा, ईमानदारी व प्रजातन्त्र की शिक्षा देकर ही समाप्त नहीं हो जाता, इसका वास्तविक मूल्य तो इन शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप से समझाने में निहित है। विद्यालय का कार्य

पाठ्येतर कार्यक्रमों द्वारा इन गुणों को व्यवहार रूप देने का भी है। आगे चलकर यह अच्छे नागरिकों के निर्माण में सहायक होंगे। विद्यालय के प्रति निष्ठा समुदाय के प्रति निष्ठा का रूप लेते हुए राष्ट्र के प्रति निष्ठा में परिवर्तित हो जाएगी। अतः कक्षा-कक्षों से बाहर भी कुछ कार्यक्रम चलने चाहिएं। इन पाठ्येतर गतिविधियों को अनेक रूप से विकसित किया जा सकता है, यथा—

1. खेलकूद द्वारा (athletics),
2. विविध प्रकार के क्लब बनाकर, (formation of various clubs)
3. शैक्षिक यात्राओं द्वारा, (educational tours)
4. विद्यार्थी संघ आदि जिनके द्वारा उन्हें नागरिकता की शिक्षा प्राप्त हो सके।

इन सब कार्यों को करते समय विद्यालय को वैयक्तिक विभिन्नताओं का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि जो लोग विद्यालय में निरन्तर असफलता का मुँह देखते हैं, वे ही आगे चलकर भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कुसमायोजित रह जाते हैं। किशोर अपनी हार-जीत के प्रति अधिक संवेदनशील होता है। प्रौढ़ जीवन से समझौता कर सकता है, परन्तु किशोर नहीं। अतः उनकी भिन्न रुचियों एवं क्षमताओं के अनुसार ही उन्हें कार्य-चयन में सहयोग देना चाहिए।

टीम भावना (team activities) किशोरावस्था में किशोर की खेलकूद सम्बन्धी क्रियाओं में अचानक परिवर्तन आता है। वर्द्धमान बालक में अथाह शक्ति, बल तथा अतिरिक्त कार्य क्षमता होती है जो कि जैविक अन्तर्नोद (biological drives) के रूप में कार्य करती है। सामाजिक सम्पर्कों का क्षितिज बढ़ता जाता है तथा वह अपने साथियों से भी निकटता स्थापित करता है। यह सब टीम खेल-कूद के विकास में योगदान देने वाले सिद्ध होते हैं। व्यक्ति शीघ्र ही यह बात समझने लगता है कि अकेले खेलों की अपेक्षा सामूहिक खेल उसकी आवश्यकताओं की अधिक पूर्ति करते हैं। ये आवश्यकताएँ आधार रूप में जैविक होती हैं परन्तु व्यक्ति के सामाजिक जीवन के विस्तार के अनुरूप सामाजिकृत होती जाती हैं। टीम खेल के प्रति रुचि अकेलेपन के खेलों के साथ-साथ बढ़ती रहती है तथा उनको उखाड़ फेंकने के स्थान पर उनकी अनुपूरक सिद्ध होती है। इसका मूल कारण यौन ग्रन्थियों की परिपक्वता तथा परिणाम स्वरूप विपरीत लिंग में रुचि का होना होता है। किशोरावस्था के खेलों में एक बात और भी जुड़ जाती है वह है खेलों में औपचारिकता आना, वे निश्चित नियमों के अनुसार खेले जाते हैं।

छोटे और बड़े सभी विद्यालय अपने साधनों के अनुसार टीम खेलों की व्यवस्था करते हैं। इससे किशोरों में सामूहिक सहभाव तथा सामूहिक प्रतियोगिता की भावना बढ़ती है, और वैयक्तिक प्रतियोगिता की भावना कम होती है।

3. विद्यालय से बाहर की रुचियाँ

किशोर की विद्यालय से बाहर की क्या रुचियाँ हैं, इस सम्बन्ध में एकत्रित किए गए आँकड़ों से पता लगता है कि सभी आयु-वर्ग के लिए खेल-कूद ही अधिक प्रिय है। इस बात की पुष्टि जेरसिल्ड तथा टास्क द्वारा किए गए अध्ययन में भी होती है, जिस में उन्होंने सभी आयु-वर्ग के बालकों के सामने कुछ कार्य रखते हुए प्रश्न किया था "मैं

विद्यालय से बाहर किस कार्य को सबसे अधिक पसन्द करता हूँ जैसे-जैसे बालक किशोरावस्था की ओर बढ रहे थे, उनकी रुचियाँ भी सामाजिक विकास के कारण मनोरंजन के स्थानों–थियेटर आदि की ओर बढ़ने लगी। नगरीय संस्कृति भी उनकी रुचियों को प्रभावित करती है।

(i) खेलकूद में रुचि—वाह्य एवं आंतरिक रुचियो मे अन्तर होते हुए भी एक संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। शिक्षा शास्त्री अब इस आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव करते हैं कि अवकाश समय के सदुपयोग की शिक्षा दी जानी चाहिए। सभ्यता में जटिलता के कारण, यांत्रिक आविष्कारों के कारण, श्रम की अधिक आवश्यकता नही होने के कारण व्यक्ति के अवकाश के समय में वृद्धि हुई है, परन्तु विद्यालय अभी तक व्यक्ति को इस समय के पूर्ण व उचित उपयोग के लिए तैयार नही कर पाए हैं।

निःसदेह किशोर के लिए खेलो का अंतःस्थ मूल्य (intrinsic value) है परन्तु वृद्धि एवं विकास के साथ-साथ बाह्य मूल्यों की भी आवश्यकता पड़ती है। खेल किशोर को शरीर, (physique) स्वास्थ्य, तंत्रिका-पेशी-क्षमता (neuromuscular skills), मनोरंजन की इच्छा आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किशोरावस्था में अनेक निर्धारक तत्त्व यथा पर्यावरण, आयु, लिंग, जाति, रीति-रिवाज, बुद्धि आदि उसकी खेल-सम्बन्धी रुचियों को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। खेलों का अपना महत्त्व है तथा इसके सम्बन्ध मे दो बातें ध्यातव्य हैं—

1. खेल एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है; यह केवल बाल्यावस्था तक ही सीमित नही रहती; तथा

2. व्यक्ति की खेल सम्बन्धी रुचियों में काफी विभिन्नता है तथा आयु, लिंग, समुदाय आदि के अनुसार पृथकता नही है।

(क) शारीरिक शक्ति एवं खेलकूद (Strength and play participation)—इस दिशा मे वालडेलेन के अध्ययन महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे पता चलता है कि जिन बालको मे शक्ति अधिक होती है वे खेलकूद मे अधिक हिस्सा लेते हैं। यही नही और भी सभी गतिविधियों मे वे सक्रिय रहते हैं। लिखने-पढने एवं रचनात्मक क्रियाओं मे यह बात अवश्य लागू नही होती। यही बात किशोरियों के साथ भी है। हृष्ट-पुष्ट लड़कियाँ आउट डोर गेम्स में भाग लेती हैं जबकि दुर्बल इन डोर गेम्स में।

(ख) लैंगिक भिन्नता—लडके-लडकियों के खेलों मे न केवल लैंगिक भिन्नता के कारण अन्तर पाया जाता है, बल्कि रीति-रिवाज, पर्यावरण सम्बन्धी स्थितियाँ, समूह का आकार, शैक्षिक स्तर आदि भी खेल की प्रकृति निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण कारक होते हैं।

(ग) बुद्धि एवं खेल—ऐसे कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही है कि उच्चकोटि की मानसिक क्षमता वाले वालक खेल-कूद में रुचि नही रखते परन्तु उनके खेल के चयन मे अवश्य अन्तर पाया जाता है। प्रतिभाशाली छात्र अकेलेपन के खेल पसन्द करते हैं; उन्हें वे खेल अधिक अच्छे लगते हैं जो कुछ नियमों एवं विधानों के अन्तर्गत खेले जाते हैं। इसका कारण उनकी मानसिक क्षमता है। उन्हें यह विश्वास रहता है कि इन खेलों मे उन्हें सफलता अधिक मिलेगी।

(ii) सिनेमा में रुचि—सातवीं-आठवीं कक्षा तक के विद्यार्थियों की चलचित्र जगत में अधिक रुचि रहती है। परन्तु उच्च कक्षाओं में आने पर उनके पास अवकाश समय कम उपलब्ध रहने के कारण, तथा रुचियों का क्लबों एवं अन्य सामाजिक गतिविधियों में बंटवारा हो जाने के कारण सिनेमा देखने की मात्रा में कमी आ जाती है। बड़े होने पर उनकी रुचि "केवल वयस्कों के लिए" बनी फिल्मों की ओर भी अधिक रहती है। अब वे मारधाड़ के चित्रों की अपेक्षा रहस्य, संगीत, एवं संवेदनशीलता से भरे चित्र पसन्द करने लगते हैं। अथवा उन्हें प्रणय कथाओं में रुचि रहती है। सामाजिक ढाँचे के अनुसार लड़कों को तुलनात्मक रूप से अधिक स्वतन्त्रता होने के कारण लड़के सिनेमा देखने अधिक जाते हैं। वे मौका मिलने पर विद्यालय-समय में भी सिनेमाघरों में पाए जाते हैं। लड़कियों को लड़कों की तुलना में सिनेमा जाने के कम अवसर मिलते हैं।

(iii) रेडियो एवं दूरदर्शन में रुचि—एक लम्बे समय तक सूचना एवं संस्कृति के विस्तार का प्रमुख साधन समाचार पत्र रहे, परन्तु अब उनके अतिरिक्त जन संचार के अन्य साधन हैं—रेडियो, रिकार्ड प्लेयर, सिनेमा एवं दूरदर्शन। किशोर के जीवन में इन सभी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन साधनों में सिनेमा सबसे पुराना है तथा दूरदर्शन का इतिहास सबसे नया है। आज दूरदर्शन का जाल द्रुतगति से बढ़ता जा रहा है, अतः किशोरों की एक बड़ी संख्या इसके कार्यक्रम देखने लगी है।

रेडियो सुनने तथा दूरदर्शन देखने का किशोरों के स्वास्थ्य एवं संवेगात्मक समायोजन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। प्रथम के अनुसार उत्तेजनात्मक दृश्य सुन व देखकर रक्तचाप बढ़ जाता है, नाड़ी की गति भी तेज हो जाती है, अपराधी कहानियों को देखने-सुनने से किशोर के हृदय में भय की भावना आ जाती है परन्तु आज का किशोर, जो पालने में ही इन सबका अभ्यस्त हो जाता है, उसमें न तो भय रहता है, न उसकी नींद उचटती है, न ही किसी अन्य प्रकार की डावांडोल मनःस्थिति रहती है। आज का किशोर इन साधनों से संवेगात्मक हलचल अनुभव नहीं करता है।

अधिकांश किशोरों की आदत रेडियो चालू रखने की होती है। माता-पिता उनकी इस आदत से परेशान रहते हैं परन्तु अध्ययन बताते हैं कि किशोर की पढ़ाई-लिखाई पर रेडियो चालू रहने से कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अधिकांश किशोर शोर पसन्द करते हैं। वे अकेलेपन एवं सन्नाटे से घृणा करते हैं। बड़े होने के साथ-साथ उनके समाजीकरण की प्रवृत्ति में वृद्धि होती जाती है। सामाजिक ढाँचे में क्योंकि मिल-जुल कर पढ़ने की सुविधा संभव नहीं होती, शान्ति उनके लिए लाभदायक नहीं है, बल्कि उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि मानवीय सहारा उनसे छिन रहा है। अतः रेडियो चला कर उन्हें यह सान्त्वना मिलती है कि वे अकेले नहीं हैं। वे वास्तव में अध्ययन में लगे रहते हैं, रेडियो सुनते नहीं हैं, बस वह शोर उन्हें स्वीकरण एवं सफलता का संदेश देता रहता है। शान्ति या चुप्पी उनके लिए असहनीय है, कष्टकारी है, भयावनी है। यह उनके मन में अस्वीकरण की भावना भर देती है। साथियों की अनुपस्थिति में रेडियो उनका साथी बन जाता है।

शनैः शनैः रेडियो का स्थान दूरदर्शन लेता जा रहा है परन्तु यह अध्ययन में कितना सहायक है, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई खोज नहीं हुई है। अधिकांश लड़के

दूरदर्शन पर गेगबूद, क्रिकेट मैच आदि देखना पसन्द करते हैं, जबकि लड़कियाँ
संगीत एवं नाटक के कार्यक्रमों में रुचि रखती हैं।

किशोर दूरदर्शन, रेडियो या फिल्म में वही देखता है, जिससे उसे संतोष [illegible]
युवती के प्यार में उलझा किशोर प्यार करने के तरीके सीखता है, तो फैशनप्रिय
और उत्सुक लड़की फैशन के तरीके सीखती है; अपचारी किशोर अपराध करने के नए
तरीके सीखता है। इस प्रकार प्रत्येक किशोर का अपना एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण
है। अतः हम इन्हें अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। किशोर इनसे क्या मूल्य सीखता है यह
कार्यक्रम निर्माण करने वालों पर कम तथा देखने वालों के दृष्टिकोण पर अधिक निर्भर
करता है।

किशोर रुचियों का महत्त्व एवं विस्तार

रुचियों का विस्तार (Expanding interests)—किशोर को कुसमायोजन, कठि-
नाइयों तथा समस्याओं के अनेक दबाव घेर लेते हैं अतः बाल-सुलभ संतुष्टि उसके परे हो
जाती है। वह स्वयं के दुःख-सुख से सम्बन्धित मामलों से उदासीन हो जाता है और अब
उसकी जिज्ञासा औरों के सामाजिक एवं नैतिक मापदंडों की ओर हो जाती है। जिज्ञासा
अनेक प्रकार से प्रकट हो सकती है परन्तु यदि उसका वातावरण अस्वस्थ है तो वह विद्रोह
भी हो सकती है, विशेषकर उन रुचियों एवं आवेगों के लिए जो कि अब परिपक्वता को
प्राप्त कर रही है तथा जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनती जा रही हैं। दैनिक जीवन
की संतुष्टि अचानक ही नया मोड़ लेने लगती है और किशोर या तो बेचैनी से आदर्शात्मक
व्यवहार की ओर बढ़ता है या फिर असामाजिक क्रियाओं की ओर। वर्षों तक स्वयं पर
केन्द्रित रुचियों और क्रियाओं के स्थान पर अब वह दूसरों के सम्पर्क में आने के लिए तत्पर
रहता है। अब उसकी रुचियाँ एवं [illegible] नवीनता लिए हुए होते हैं। अब उसकी रुचियाँ
निश्चित परिणाम दे सकें

रुचियाँ एवं बुद्धि—बुद्धिमान किशोरों की रुचियाँ मंद-बुद्धि वाले बालकों से भिन्न होती हैं। तीव्र बुद्धि किशोरों की रुचि संग्रह, संगीत एवं अध्ययन की ओर रहती है। मंद-बुद्धि बालकों की कोई हॉबी नही होती। शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन की दृष्टि से रुचियों से सम्बन्धित स्तरीकृत तालिकाओं का निर्माण किया गया है। साइन्स रिसर्च एसोसियेट्स, शिकागो द्वारा प्रकाशित "द क्यूडर प्रिफेरेन्स रिकार्ड" सबसे अधिक प्रयोग में आने वाली तालिका है। विद्यार्थियों की रुचियों का पता लगाने के लिए अब इसी का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। इस परीक्षण के आधार पर रुचियों को दस भागों मे रखा गया है—कक्षा बाह्य-गतिविधियाँ, मशीनी, कम्प्यूटर सम्बन्धी, वैज्ञानिक, कलात्मक, साहित्यिक, संगीतमय, समाज सेवा और लिपिकीय। (Outdoor activities, mechanical, computational, scientific, persuasine, artistic, literary, musical, social service and clerical)। उच्च विद्यालय स्तर पर पाई जाने वाली विशिष्ट रुचियाँ आवश्यक नहीं कि स्थायी ही हों। रुचि की निरन्तरता उसके आधार, अनुभव, योग्यता आदि पर निर्भर करती है। लूसी के केस से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

लूसी एक प्रतिभाशाली छात्रा थी, जिसकी कि संगीत में विशेष रुचि थी। उसे संगीत सम्बन्धी अनुभव विद्यालय में प्राप्त हुए। 16 वर्ष की आयु में वह अपने विद्यालय के संगीत कार्यक्रमों का नेतृत्व भी करने लगी। उसकी माता भी यही चाहती थी कि वह संगीत के क्षेत्र में उन्नति करे।

लूसी की बड़ी बहिन नर्स थी। लूसी उससे भी प्रभावित थी। अतः विद्यालय मे पढ़ने वाली लूसी की रुचियाँ इस क्रम में थी। संगीत, नर्सिंग, धार्मिक कृत्य। बड़े होने पर अन्य दो रुचियाँ समाप्त होती गई। धीरे-धीरे संगीत की रुचि प्रमुख होती गई और बड़े होकर वह संगीत शिक्षिका बन गई। लूसी मे संगीत के प्रति रुचि प्रारम्भ से ही थी तथा उसकी जड़ें भी गहरी थी। अपने अनुभव एवं क्षमता से उसमें स्थायित्व आ गया।

परिवर्तित रुचियों से सम्बन्धित समायोजन की समस्या—किशोर की रुचियों में आयु के साथ परिवर्तन आते रहते हैं। उन किशोरों को परिवर्तनशील रुचियो से कोई समस्या नही होती, जिनकी रुचियाँ समूह की रुचियों से समानता रखती है परन्तु कुछ किशोर ऐसे भी होते हैं, *जिनका आवयविक विकास अत्यन्त तीव्र गति से होता है। अतः* उनके समूह की रुचियों से उनकी रुचियाँ भी पृथक् होती है। इनके सम्मुख समायोजन की समस्या उपस्थित रहती है। इन्हें अपनी सी परिपक्व रुचियो वाले समूह में उठना बैठना चाहिए। परिवार एवं विद्यालय का यह दायित्व है कि वह किशोर की इस समस्या को हल करने मे सहयोग दें। यदि विद्यालय में ही उनकी रुचियों वाले अन्य विद्यार्थी हैं तो उनका एक छोटा समूह बनाया जा सकता है। किसी किशोर के साथ इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि उसमे परिपक्वता विलम्ब से आए। इसके लिए भी समूह की योजना ही उचित है।

किशोर रुचियों की विशेषताएँ

1 **अस्थिरता**—प्रौढ़ द्वारा स्वीकृत मूल्यों को समझने की भावना का किशोर मे अभाव रहता है। वह अपने अनुभवों, विचारों, क्रियाओं सभी में चरम सीमा पर चला

जाता है। उसकी यह अस्थिरता उसकी रुचियों में भी परिलक्षित होती है। आज वह किसी एक वेश-भूषा को पसन्द करता है तो यकायक ही उसकी रुचि उसमें समाप्त हो जाती है और वह उसके स्थान पर किसी नए फैशन को अपना लेता है। *यह अस्थिरता* उसकी निजी रुचियों में अधिक झलकती है। यह अस्थिरता तीव्र बुद्धि किशोरों में अधिक होती है तथा इसके विपरीत मन्द-बुद्धि किशोरों में कम होती है। व्यावसायिक रुचियों का आधार कपोल-कल्पना ही होती है; उनका वास्तविक क्षमताओं से सम्बन्ध बहुत कम होता है। *इसका कारण अनुभव का अभाव ही रहता है।*

2. विस्तार—किशोरावस्था में रुचियों का विस्तार होता है। प्राक्किशोरावस्था में विभिन्न प्रकार की ऐसी रुचियाँ होती हैं जो बाल्यावस्था से चली आ रही होती हैं। धीरे-धीरे ये समाप्त होती जाती हैं और नई रुचियाँ जन्म लेती हैं। ये रुचियाँ प्रौढ़ रुचियों *का आधार रूप होती हैं तथा व्यक्ति के सन्तोष का साधन होती हैं।*

3. वृद्धि—लेहमन तथा विट्टी, बैल, प्रेसी, केमल (Lehman and Witty, Bell, Pressey, Kamel) आदि के अनुसार किशोरावस्था की प्रगति के साथ-साथ विषम लिंगियों के साथ सामाजिक कार्यों में व्यक्तिगत दिखावे (personal appearance) में तथा भविष्य *के लिए योजना बनाने में रुचियाँ बढ़ती हैं।*

4. मूल्यों में परिवर्तन—किशोरावस्था की रुचियों में एक विशेषता यह होती है कि इनके मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। मूल्यों में परिवर्तन आने से उनके समूह के साथ समायोजन में भी कठिनाई आ सकती है।

5. स्थिरता—किशोर की आयु में जैसे-जैसे वृद्धि होती है उसकी रुचियों की अस्थिरता में कमी होती जाती है। किशोर जब तक विद्यालयी शिक्षा की अन्तिम कक्षा में पहुँचता है, यह अस्थिरता समाप्त हो जाती है। द क्यूडर प्रिफेरेन्स रिकार्ड (The Kuder Preference Record) के परीक्षण पर आधारित आँकड़ों के अनुसार 80 प्रतिशत किशोरों की रुचियाँ उच्च कक्षा में आते-आते स्थाई हो जाती है।

किशोर रुचियों के अध्ययन की विधियाँ

किशोर की रुचियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए बहुत सारे ऐसे स्रोत हैं जिनसे कि सूचना प्राप्त की जा सकती है। ये सूचना के स्रोत निम्न हैं—

1. स्वैच्छिक क्रियाओं का अध्ययन—इस सम्बन्ध में लेहमन और विट्टी, डिमोक, फ्लीग, आल्डस (Lehman and Witty, 1927; Dimock, Fleege, Olds) आदि के द्वारा किए गए अध्ययन उल्लेखनीय है। किशोर की क्रियाओं द्वारा उनकी रुचियों का पता चल जाता है, परन्तु यह विधि शत-प्रतिशत सही नही है। ऐसा भी हो सकता है कि कभी-कभी किशोर को उसकी रुचि के अनुसार कार्य करने का अवसर नही मिले।

2. किशोरों के वार्तालापों का अध्ययन—किशोर अपने गुट में क्या बातें करते हैं? भीड़ में क्या बातें करते है? अपने मित्रों से क्या बातें करते हैं? इन सबके सूक्ष्म अध्ययन से भी उनकी रुचियों का पता चलता है।

3. लेखन—किशोरों की डायरियाँ, पत्रों व अन्य ऐसे लेखन कार्य, जो स्वत. स्फूर्त हैं और जिन पर प्रौढ़ नियन्त्रण नही है, उनकी रुचियों का आभास होता है।

4 हाव-भाव (Facial expressions)—किशोर के चेहरे पर सिनेमा देखते समय,

खेलकूद देखते समय, बच्चों, हम-उम्र या प्रौढ़ों से बातचीत करते समय या अन्य कोई कार्य करते समय किस प्रकार के हाव-भाव आते हैं, उसके निरीक्षण से भी उसकी पसन्द या नापसन्द का ज्ञान हो सकता है।

5. इच्छाएँ—सर्वोत्तम विधि सम्भवत किशोर की इच्छाओं को जानना है। बच्चे आमतौर पर भौतिक वस्तुओं की इच्छा रखते हैं, परन्तु किशोरावस्था में इस प्रकार की इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं और उनका स्थान ऐसी रुचियाँ ले लेती है, जिनसे कि किशोर स्वयं में सुधार ला सके। किशोर लड़के अधिकार और कर्तव्यों को समझने में, उपयुक्त व्यवसाय के चयन आदि मे रुचि रखते हैं। किशोर लड़कियाँ अपनी लोकप्रियता, वेश-भूषा एवं स्वास्थ्य में रुचि रखती हैं।

सारांश

किशोर की समस्त क्रियाओं को प्रभावित करने वाले दो घटक पर्यावरण एवं प्रारम्भिक अनुभवों के आधार पर तंत्रिका पेशी तन्त्र में आने वाले परिवर्तन उसकी इच्छाओं एवं कामनाओं को परिचालित करते है। अतः रुचि व्यक्ति के जीवन की संवेगात्मक अवस्था है। रुचि के कारण व्यक्ति कुछ स्थितियों या कार्यों को पसन्द करता है तो कुछ को नापसन्द। रुचियों के दो भेद है। अंत. स्थ-इसके अन्तर्गत किया जाने वाला कार्य केवल अपने आनन्द के लिए होता है, बाह्यस्थ अपने को समूह के योग्य बनाए जाने वाले कार्य। माता-पिता, शिक्षक व अन्य प्रौढ़ किशोर की रुचियाँ देखकर उसके अन्तर्मन को समझ सकते है। अतः यह प्रौढ़ पीढ़ी की चतुराई पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार किशोर की रुचियों को अच्छा मोड़ दें।

बाल्यावस्था की सरल एवं सामान्य रुचियाँ शनैः शनैः वैज्ञानिक बनती जाती हैं। आयु के अतिरिक्त पर्यावरण, बुद्धि, लिंग-भेद, परिपक्वता, प्रशिक्षण आदि भी रुचियों की वृद्धि को प्रभावित करते हैं।

किशोर की रुचियाँ तीन प्रकार की होती है—

1. स्वयं मे सम्बन्धित रुचियों के अन्तर्गत वे अपना सारा ध्यान अपने को सुन्दर दिखाने में लगाते हैं। वेश-भूषा, बाह्य आभास आदि में उनका बड़ा समय जाता है।

2. विद्यालय से सम्बन्धित रुचियाँ—इसके अन्तर्गत विद्यालय में पढ़ाए जाने वाले विषय, अतिरिक्त अध्ययन,पाठ्येतर कार्यक्रम आदि आते है। रुचियों का योग्यता से गहन सम्बन्ध है। विद्यालय का यह कर्तव्य है कि वह स्वस्थ रुचियों को प्रोत्साहन दे। विद्यालय समूह-खेलों के आयोजन द्वारा समूह-भावना की वृद्धि करते हैं।

3. विद्यालय से बाहर की रुचियाँ—सभी आयु-वर्ग के लिए खेलकूद अधिक प्रिय है, यद्यपि खेल के चयन को शारीरिक क्षमता, सेक्स एवं बुद्धि प्रभावित करती है। इसके अतिरिक्त उसकी रुचि सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन आदि देखने-सुनने मे भी होती है।

किशोरावस्था की समाप्ति तक रुचियाँ परिपक्वता प्राप्त करने लगती हैं। किशोर की रुचियों का विस्तार *आदर्शात्मक व्यवहार की ओर भी हो सकता है तथा असामाजिक* क्रियाओं की ओर भी। अतः उनकी रुचियों को वांछित दिशा देने के लिए किशोर को प्रेरणा, उत्तेजना, सामयिक सूचना एवं परामर्श की आवश्यकता है ताकि वे स्वस्थ एवं लाभकारी रुचि का चयन कर उसे जीवन में स्थायी बना सकें।

□□□

अध्याय 8

अभिवृत्तियों एवं विश्वासों का विकास

शिक्षा का कार्य ऐसे वातावरण मे होता है, जिसका निर्धारण बहुत बड़ी हद तक छात्रों, अध्यापकों, प्रशासको, माता-पिता आदि की अभिवृत्तियो, रुचियो और मूल्यों द्वारा होता है। बच्चे की तत्परता से इस वातावरण में उसकी ग्रहण-शक्ति निर्धारित होती है और अध्यापक तथा अन्य लोग, जिनके अपने विशिष्ट पूर्वाग्रह होते है, शिक्षण-प्रक्रिया की सामग्री तथा कार्य-विधियाँ निर्धारित करते हैं। इस प्रक्रिया का बुनियादी उद्देश्य किसी व्यक्ति के विकास को इस तरह प्रभावित करना होता है कि उसमे जीवन की विविध परिस्थितियों का सामना करने के लिए शारीरिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा संवेगात्मक तत्परता के वैयक्तिक गुण पैदा हो सकें। जब कभी अध्यापक बच्चो के विकास को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं तो उन्हे अनेक परिस्थितियो का सामना करना पड़ता हैं। बच्चे में कुछ ऐसी दशाएँ पहले से मौजूद रहती है जो वांछित अनुक्रिया (response) को अवरुद्ध कर देती है, जबकि कुछ दूसरी पूर्वानुकूलताएँ (predispositions) ऐसी भी होती हैं जिनका प्रभाव सकारात्मक तथा बलप्रद होता है। इस अध्याय मे हम मानव शरीर-तन्त्र के इन्ही पूर्वानुकूलतामय उपयोगी तत्वो की उत्पत्ति तथा विकास पर विचार करेंगे जिन्हे अभिवृत्तियाँ एवं विश्वास कहा जाता है।

अभिवृत्तियाँ
(Attitudes)

अर्थ

अभिवृत्तियों की परिभाषा इस प्रकार की गई है: संवेगयुक्त विचारो, महत्त्वपूर्ण आस्थाओं, पूर्वाग्रहो अभिनतियो, पूर्ववृत्तियों, गुण-दोषो के विवेचनों को और तत्परता की स्थितियो को अभिवृत्ति कहते हैं।[1] अभिवृत्ति से तात्पर्य है तथ्यों की शिक्षा मे परे अधिक उच्च व संश्लिष्ट प्रकृति के विकास का एक चरण। इसीलिए हम किसी की जाति व धार्मिक समूहो के प्रति अभिवृत्ति, या सामाजिक व आर्थिक हालात के प्रति अभिवृत्ति की बात करते हैं। अभिवृत्तियाँ रुचियो की तुलना मे अधिक निष्क्रिय होती हैं। अभिवृत्तियों की सहायता से हम व्यक्ति का किसी स्थिति विशेष के प्रति क्या रवैया होगा, इस बात का निश्चय कर सकते है, अतः अभिवृत्तियाँ वस्तु, व्यक्ति, स्थिति या विवाद के सम्बन्ध मे व्यक्ति का झुकाव, पूर्वाग्रह या पूर्वनिर्धारित धारणाएँ होती हैं।

1 Attitudes have been defined as ideas with emotional content, important beliefs, prejudices, biases, predispositions, appreciations and as states of readiness or set —Skinner, C. E., Educational Psychology—Fourth edn. P. 326.

न्यूकॉम्ब के अनुसार अभिवृत्ति की कार्यपरक परिभाषा निम्न प्रकार से है—"अभिवृत्ति अनुक्रिया नहीं है, अपितु किसी स्थिति या वस्तु के प्रति किए गए व्यवहार का एक स्थाई ढाँचा है। अभिवृत्ति की धारणा व्यक्ति को उसके पर्यावरण के किसी भी पहलू से, जो कि उसके लिए सकारात्मक या नकारात्मक मूल्य रखता है, जोड़ती है।"[1] आलपोर्ट ने[2] अभिवृत्ति की परिभाषा करते हुए कहा है कि अभिवृत्ति अनुभव के माध्यम से संगठित होने वाली तत्परता की उस मानसिक तथा तान्त्रिकी स्थिति को कहते हैं, जिसका निदेशात्मक अथवा गतिमान प्रभाव हर उस चीज के प्रति व्यक्ति की अनुक्रिया पर पड़ता है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है।" अभिवृत्तियों में बौद्धिक, जैविकीय, सामाजिक तथा संवेगात्मक संघटन तत्त्व होते हैं, जिनकी उत्पत्ति अनुभव से होती है और जो व्यवहार पर निर्धारक प्रभाव डालते हैं। जिस किसी परिभाषा में अभिवृत्ति शब्द में सन्निहित सभी स्वगुणार्थी पक्ष समेटने की कोशिश की जाएगी उसका व्यापक तथा अस्पष्ट होना स्वाभाविक ही है, फिर भी इस विवेचना को एक विशिष्ट संकल्पना तक सीमित रखना आवश्यक है। इस उद्देश्य से अभिवृत्ति की परिभाषा इस रूप में की गई है कि अभिवृत्ति शरीर तन्त्र से सम्बन्धित संयोजकता की एक विकासात्मक स्थिति को कहते हैं, जो मनोजैविकी प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती है और व्यक्ति के अनुक्रियात्मक व्यवहार पर उन परिस्थितियों में अभिप्रेरणात्मक प्रभाव डालती है जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध इस व्यवहार के साथ हो। मॉर्गन ने अभिवृत्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—"यह कुछ विशेष वस्तुओं, व्यक्तियों या परिस्थितियों के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल अनुक्रिया की प्रवृत्ति है।" इसके अनुसार अभिवृत्ति को समझने के लिए वर्ग एवं लक्ष्य को समझना आवश्यक है।[3]

किसी व्यक्ति की अभिवृत्तियों के समूह में विविध प्रकार की अभिवृत्तियाँ शामिल रहती हैं। इनमें स्वास्थ्य, जीवन तथा मृत्यु के प्रति, लोगों के प्रति, नयी परिस्थितियों के प्रति, संगीत और कला, काम, खेल-कूद, सरकार, धर्म के प्रति अभिवृत्तियाँ और इतनी ही महत्त्वपूर्ण कई और अभिवृत्तियाँ होती हैं। ये अभिवृत्तियाँ सुनियोजित तथा आकस्मिक अनुभवों के माध्यम से शिक्षण-प्रक्रिया द्वारा प्रभावित होती हैं। चूंकि अभिवृत्तियों को जन्म देना और उन्हें एक विशेष रूप में ढालना स्कूलों का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसलिए उनकी उत्पत्ति, उनके स्वरूप और उनके गत्यात्मक पहलुओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अभिवृत्तियों का विकास

अभिवृत्तियाँ उन स्थितियों से सम्बन्धित हैं, जिनके चारों ओर अनेक आदतें, प्रतिमान, बिम्ब एवं धारणाओं का निर्माण किया जाता है। निरन्तर परीक्षणों द्वारा यह बात सिद्ध हो गई है कि शारीरिक एवं सामाजिक सम्पर्कों का परिणाम सुसमायोजन एवं प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों का स्थापन होता है। सामाजिक जगत में पैदा हुआ तथा पल कर बड़ा हुआ बालक सदैव परिवर्तित उद्दीपन के अधीन रहता है, सामाजिक रूप में

1. न्यूकाम्ब टी॰ एम॰ : "स्टडिग सोशियल बिहेवियर", इन मेथड्स आफ साइकोलोजी, न्यूयार्क, 1948.
2. सी॰ मर्चिसन द्वारा संपादित "हैंडबुक ऑफ सोशल साइकोलॉजी" में जी॰ डब्लू॰ आलपोर्ट का लेख "ऐटीच्यूड्स" (वोर्स्टर, मैसाच्युसेट्स: क्लार्क युनिवर्सिटी प्रेस, 1935) पृष्ठ 8.
3. मॉर्गन सी. टी.—"मनोविज्ञान"; 1971 अनुवाद बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पृ॰ 912.

वह जैसा उसे चारों तरफ का पर्यावरण बनाता है वैसा बन जाता है। संसार में रहकर ही वह यह सीखता है कि वह क्या है। यह ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था से ही आरम्भ हो जाता है और यौवनारंभ तक वह स्वयं के और दूसरों के सम्बन्ध मे वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जो उसके समान व उससे भिन्न है। उसकी स्वयं के प्रति क्या अभिवृत्ति है तथा उसका दूसरों से क्या सम्बन्ध है, इसी आधार पर उसमें जातीय एवं धार्मिक अभिवृत्तियो का विकास होता है। इसी प्रकार दूसरों की प्रतिक्रिया एवं अभिवृत्ति उसके जीवन की भावी भूमिका तैयार करती है। इस प्रकार अभिवृत्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

अभिवृत्तियां एवं विश्वास उस वातावरण की देन है, जिसमें कि बालक का विकास होता है। यह उन सब सामाजिक एवं शारीरिक उत्तेजनाओं का परिणाम है जिनका कि उसे सामना करना पड़ता है। बालक की वृद्धि के साथ-साथ उसकी अभिवृत्तियो एवं विश्वासों मे भी परिवर्तन आता जाता है। यह सब उसके परिवार, समुदाय, धर्म व समकक्ष समूह की संस्कृति के प्रभाव के कारण होता है। इस सम्बन्ध में एच० एच० रेम्मर्स[1] के निर्देशन मे किए गए अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। ये बताते हैं कि जैसे-जैसे बालक परिपक्व होता है, उसकी अभिवृत्तियां आदर्शवादी कम तथा यथार्थवादी अधिक बनती जाती हैं।

अभिवृत्तियों के आयाम

अभिवृत्तियों के चार आयाम (dimensions) होते है—तीव्रता, दिशा, विस्तार और अवधि (intensity, direction, extensity and duration) अभिवृत्तियो और व्यवहार पर उनके प्रभाव को समझने के लिए इनमे से हर पक्ष महत्त्वपूर्ण है। इन लाक्षणिकताओं का मूल्यांकन सबसे अधिक व्यवहार के अवलोकन द्वारा किया जाता है परन्तु अभिवृत्तियों के मूल्यांकन के लिए कुछ परीक्षण आयोजित करने के प्रयत्न भी किए गए हैं। व्यवहार के विभिन्न प्रकारों में इनमें से प्रत्येक आयाम का परिणाम मिलता है, जबकि अधिकांश परीक्षणों में केवल अभिवृत्तियों के प्रकारो का सर्वेक्षण करने और उनकी सकारात्मक अथवा नकारात्मक दिशा निर्धारित करने की कोशिश की जाती है।

किसी अभिवृत्ति की **तीव्रता** का प्रमाण इस बात मे मिलता है कि वह किसी व्यक्ति के व्यवहार को किस सीमा तक प्रेरित करती है। तीव्रता की सीमाओं का पता इस बात से लगाया जा सकता है कि किसी अनुक्रिया को रोकने के लिए किस प्रकार के अव-रोधों की आवश्यकता पड़ती है। क्षीण अभिवृत्ति द्वारा प्रेरित व्यवहार को ऐसी बाधाओं द्वारा रोका जा सकता है, जिनकी वास्तविक प्रतिरोध-क्षमता देखने में बहुत कम मालूम होती है परन्तु तीव्र अभिवृत्ति अनुल्लंघनीय बाधाओं के बावजूद व्यवहार मे व्यक्त होकर ही रहती हैं। अवलोकन करने वाले को इस बात का आभास रहना चाहिए कि किसी भी अभिवृत्ति को कई प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है और यदि वह तीव्र होती है तो कठिन बाधाओं का सामना होने पर उसकी अभिव्यक्ति के ढंग मे हेर-फेर होने की सम्भावना है। यदि किसी बच्चे में सत्ताधारी व्यक्तियो के प्रति बहुत ही तीव्र नकारात्मक अभिवृत्ति हो तो उसे उन पर प्रत्यक्ष प्रहार करने से तो रोका जा सकता है परन्तु वह सार्वजनिक स्थानो

---

1. एच. एच. रेम्मर्स, आर. ई. होर्टन तथा एस. लिसगार्ड, "टीन-एज पर्सनेलिटी इन अवर कल्चर"; द पर्ड्यू ओपिनियन पॉल, रिपोर्ट नं. 32 पर्ड्यू यूनीवर्सिटी 1952.

में उनके बारे में गन्दी-गन्दी बातें लिखेगा, चीजों को तोड़ेगा और इस तरह परोक्ष रूप में अपनी इन भावनाओं को व्यक्त करेगा।

किसी अभिवृत्ति की दिशा बच्चे के व्यवहार में उस शक्ति के रूप में दिखाई देती है जो बच्चे को किसी विशेष दिशा की ओर आकर्षित या उस दिशा से विमुख करती है या उस दिशा की ओर बढ़ने की प्रेरणा ही नहीं उत्पन्न कर पाती, जैसे—"मेरे लिए इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता" वाली अभिवृत्ति। यद्यपि व्यवहार किसी खास दिशा में होने से उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली अभिवृत्ति का पता लगता है लेकिन कई अवसर ऐसे भी होते हैं जब बिल्कुल ही विपरीत निष्कर्ष निकालना उचित होता है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी समूह के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति रखता हो पर वह उसमें सम्मिलित हो जाए। बाहर से देखने में उसकी अभिवृत्ति बहुत सकारात्मक हो परन्तु बहुत ही गूढ़ ढंग से वह उस दल में फूट डाल दे और उसमें गड़बड़ी मचा दे या उसे अपने लक्ष्य की ओर से मोड़ दे।

व्यापकता का ज्ञान किसी व्यक्ति की अभिवृत्तियों के विभिन्न प्रकारों के व्यापक सर्वेक्षण से होता है। कुछ अभिवृत्तियों के प्रभाव व्यापक तथा स्थायी होते हैं। ये अभिवृत्तियाँ विविध प्रकार की ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं, जो भावनाओं को उस समय तक बल प्रदान करती रहती हैं, जब तक कि वे सामान्यता का रूप न धारण कर लें। कोई ऐसी अकेली प्रबल घटना भी, जिसका सामान्यीकरण सम्भव हो, बहुत व्यापक प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। अन्य अभिवृत्तियाँ या तो विलक्षण होती हैं या हद से हद उनका सम्बन्ध व्यवहार के एक बहुत ही छोटे क्षेत्र से होता है। जो बच्चा आम तौर पर नहीं करता, उनमें इस प्रकार की सीमित अभिवृत्ति का प्रमाण मिलता है।

अभिवृत्ति की अवधि एक और पहलू है, जो शिक्षकों के लिए महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा का एक उद्देश्य है मौजूदा नकारात्मक अभिवृत्तियों को सुधारना और ऐसी नई अभिवृत्तियाँ पैदा करना, जो सकारात्मक और स्थायी हों। कुछ अभिवृत्तियाँ केवल इसलिए ज्यादा समय तक नहीं टिक पातीं कि उन्हें अनुभवों का अवलम्बन नहीं मिलता। वास्तव में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नए अनुभव किसी पिछली अभिवृत्ति को बिलकुल ही उलट दें। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि कोई अभिवृत्ति उसी समय तक बनी रहती है जब तक वह उस व्यक्ति को अपने लक्ष्यों तक पहुँचने में सहायता दे। यह बात स्पष्ट है कि अभिवृत्तियाँ अनुभव से बदलती हैं। बहुत सी नकारात्मक अभिवृत्तियाँ बदलकर सकारात्मक या बहुत सकारात्मक अभिवृत्तियाँ बदल कर नकारात्मक हो जाती हैं या फिर इन दो सीमा-बिन्दुओं के बीच उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है। चूंकि अभिवृत्तियाँ परिवर्तनशील होती हैं इसलिए उन उपायों पर विचार करना बहुत महत्त्वपूर्ण है जो परिवर्तन लाने में कारगर या बेकार साबित हुए हैं।

बालक व किशोर द्वारा प्रदर्शित पूर्वाग्रह

किसी समुदाय विशेष में व्याप्त सामाजिक, धार्मिक व जातिगत पूर्वाग्रह किशोर शैशव काल में ही सीख लेता है। जब वह पहली कक्षा में प्रवेश करता है, वह इन सबसे अनभिज्ञ नहीं होता है। ये पूर्वाग्रह उसकी स्व-सम्बन्धी धारणा का ही एक अंश होते हैं। उसकी स्व-सम्बन्धी यह धारणा वयस्कों द्वारा निर्मित धारणा से मेल खाती है। आरम्भ

काल में ही वह राज्य, देश, जाति व धर्म की दीवारों को समझ लेता है तथा उसके हृदय में राजस्थानी या केरल वासी या बिहारी की भावना आ जाती है। पर्यावरण के अनुसार कम या अधिक मात्रा में धर्म निरपेक्षता या भारतीयता की भावना भी जाग्रत हो जाती है।

पूर्वाग्रह–बलि का बकरा (Prejudice–the Scapegoats)

यदि कोई कार्य हमारी इच्छानुसार नही होता है तो हम इसके लिए किसी व्यक्ति या समूह को दोषी ठहरा देते है। यह एक सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति है। ये व्यक्ति या समूह बेचारे बलि का बकरा बन जाते हैं। प्रतियोगिताओं द्वारा ही प्राप्त सफलता के इस युग में हर व्यक्ति के सामने मुख्य लक्ष्य रहता है प्रतियोगिताओं से सफलता प्राप्त करना। यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ रूप से प्रतियोगिताओं में सफलता प्राप्त नही कर सकता है तो वह या तो ईर्ष्यालु व आक्रामक बन जाएगा या दूसरों पर लांछन लगाना शुरू कर देगा। इस प्रकार से उसका स्त्रोत विरोध की ओर वाला आक्रामक रवैया किसी ऐसे व्यक्ति या समूह की ओर झुक जाएगा, जो कि दुर्बल है या निर्धन है। इस प्रकार वह संयुक्तीकरण द्वारा अपने आक्रामक व्यवहार को दूसरा रूप देता है।

भिन्न व्यक्तियों या समूहों द्वारा प्रदर्शित दुश्चिन्ता या आक्रामकता के स्वरूप व मात्रा में भी अन्तर होता है। डेविस के अनुसार व्यक्ति के सामाजिक अन्तर्नोद या समाजीकरण उसकी उप-संस्कृति की उत्पत्ति होते हैं। भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर के व्यक्ति किसी भी सामाजिक समस्या अथवा सामाजिक यथार्थ को अपनी दृष्टि से देखते हैं। सामान्यतः मध्यम वर्ग के व्यक्ति यथा-स्थिति में विश्वास करते है, जबकि निम्न वर्ग अधिकांश क्षेत्रों में रूढ़िप्रिय होते हुए भी अधिक परिवर्तनशील होता है। सामाजिक दुश्चिन्ता एवं समाजीकरण के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वे किशोर, जो कि स्वयं को असुरक्षित अनुभव करते हैं, अल्प-संख्यकों के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रसित होते हैं। ये लोग समूह के अनुकूल आचरण पसन्द करते है परन्तु वे किशोर, जो कि स्वय को सुरक्षित अनुभव करते हैं, बहुमत से साथ नही चलते, अपितु अल्पसंख्यको तथा विशेषाधिकार-विहीन व्यक्तियो के प्रति सहिष्णु होते हैं तथा मित्रवत व्यवहार रखते हैं।

किशोर की अभिवृत्तियाँ

अधिकतर किशोर आदर्शवादी रहता है परन्तु अर्थ सम्बन्धी मामलो में वह अपने माता-पिता के विचारो से सहमत रहता है। यदि कही पर विचारधाराओं में अन्तर होता है, तो वह यथास्थिति तथा रूढ़ि को तोड़ने मे ही होता है। यहाँ उनकी आदर्शवादी प्रकृति तथा अपेक्षाकृत कम पूर्वाग्रहों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उनके नागरिकता सम्बन्धी प्रशिक्षण पर इसके दूरगामी प्रभाव पड़ते है।.

इसी प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी बातो मे भी किशोर को अपने निजी स्वास्थ्य, दाँतो व नेत्रो की सुरक्षा, मानसिक स्वास्थ्य से अधिक संक्रामक रोग व अन्य बीमारियों के सम्बन्ध में जानकारी रहती है। इस सम्बन्ध मे वे अनेक अन्धविश्वासो को स्वीकार कर लेते हैं। विद्यालय का यह कर्तव्य है कि वह उनके अनुभवो को वैज्ञानिक मोड़ दे तथा वैज्ञानिक तथ्यों के संदर्भ मे उन्हे अन्धविश्वासों के सम्बन्ध मे पुनर्विचार व मनन करने के लिए बाध्य करे।

यौवनारम्भ एवं परिवर्तित अभिवृत्तियाँ

किशोरावस्था की प्रमुख विशेषता कार्यों एवं व्यवहारों में अस्थिरता है। यह उनके स्वयं के एवं विपरीत लिंग के व्यक्तियों दोनों के ही प्रति लक्षित होती है। जैसे-जैसे यौन अन्तर्नोद मे वृद्धि होती है, उनका रुझान भी विपरीत लिंग की ओर बढ़ता जाता है। 9 वर्ष की आयु में लगभग 40 प्रतिशत लड़के लड़कियों को अच्छी मानते है, 20 प्रतिशत न तो उन्हें पसन्द करते हैं और न ही नापसन्द परन्तु परिपक्वता के साथ उनके यौन हार्मोन्स में वृद्धि होने के कारण उनके लैंगिक तनाव में वृद्धि होती है। अतः वे विपरीत लिंग की संगति को अच्छा समझने लगते हैं, उन्हें लगता है कि इससे उनमें कामेच्छा जाग्रत होती है तथा फलस्वरूप उत्पन्न तनाव से मुक्ति भी वही दिलाती है। अतः लड़कियाँ उन्हें अच्छी लगने लगती हैं। यद्यपि हमारे समाज में किशोर को प्रत्यक्ष रूप से तनाव मुक्ति प्राप्त होनी संभव नहीं है परन्तु वह उसका स्थानापन्न व्यवहार ढूंढ लेता है।

यौवनारम्भ पर रुचियो एवं अभिवृत्तियो का यह अन्तर लड़कियों में भी पाया जाता है। लड़कियों की रुचि अब खेलकूद मे कम तथा स्त्रियोचित कार्य करने में अधिक होती है। वे रोमांटिक साहित्य पढ़ना पसन्द करती हैं तथा उन्हे ऐसी गतिविधियाँ पसन्द आती हैं, जिनमें कि वे अधिक से अधिक समय लड़को के साथ व्यतीत कर सकें। यह अभिवृत्ति रजःस्राव आरम्भ हो जाने वाली लड़कियों मे अधिक मात्रा मे पाई जाती है।

यौवनारम्भ की स्थिति मे प्रमुख उल्लेखनीय बात यह है कि लड़के लड़कियो मे मनोवैज्ञानिक रूप से भी अन्तर आ जाता है। स्टॉल्ज, जॉन्स एवं शेफी ने दोनो लिंगों के अन्तर का निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

लड़कियाँ इस स्थिति मे इस बात की अनिवार्यता अनुभव करती हैं कि वे अपने स्त्रियोचित गुणों का प्रदर्शन करें; लड़के उन गुणों का प्रदर्शन चाहते है जिनसे कि वे पुरुष समझे जाने लगें। इस विकास के साथ कोई लड़की यदि सर्वप्रिय होना चाहती है तो उसे सुन्दर होना चाहिए, साफ सुथरा रहना चाहिए तथा मिलनसार होना चाहिए। इसके विपरीत लड़कों को आक्रामक होना चाहिए तथा खेलकूद में भी अद्वितीय होना चाहिए। यह बात बुजुर्गों को नापसन्द होती है परन्तु उन्हे यह समझ लेना चाहिए कि लड़के-लड़कियों के संतुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पुरुष व स्त्री के रूप मे विकसित होने पर, तदनुसार *ही स्वीकृत भी किया जाए। उनके स्वस्थ एवं सुखी भविष्य के लिए यह नितान्त* आवश्यक है।

यौन सम्बन्धी सूचना एवं अभिवृत्ति

यह प्रश्न मस्तिष्क में आना स्वाभाविक है कि किशोर को यौन सम्बन्धी ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता है। अधिकांश किशोर यह सूचना या तो अपने मित्रों से या फिर गली-मोहल्लो से प्राप्त करते है। पढ़े लिखे किशोरो को तत्सम्बन्धी जानकारी यौन सम्बन्धी हल्की-फुल्की पुस्तकों से भी प्राप्त होती है। सिनेमा भी उन्हे इस सम्बन्ध में जानकारी देने का अच्छा साधन है। जहाँ तक माता-पिता या अन्य प्रौढ़ों के सम्बन्ध हैं, वे इस सम्बन्ध में परामर्श बहुत ही अल्प मात्रा में देते हैं।

यौन सम्बन्धी जानकारी से सम्बन्धित है उस ओर किशोर की अभिवृत्ति। किशोर काम के प्रति क्या रुख अपनाता है, यह इस बात पर निर्भर है कि उसे इस बारे में जानकारी किन स्रोतों द्वारा प्राप्त होती है।

विद्यालयी अभिवृत्तियाँ

अभिवृत्तियाँ स्कूल में होने वाले अनुभवों से बदलती हैं। उनमें किसी विशेष अध्यापक, किसी दूसरे बच्चे, सहपाठी-वर्ग, किसी एक घटना, पाठ्य-सामग्री, पढ़ाई के क्षेत्र के बाहर की दूसरी घटनाओं के क्रम, या इनमें से कई बातों के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप, परिवर्तन हो सकता है। सभी परिवर्तन वांछित दिशा में नहीं होते। स्कूल केवल समस्याओं को हल करने की कोशिश नहीं करते बल्कि अक्सर न चाहते हुए भी नई समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। शिक्षण-प्रक्रिया के दौरान में बच्चे को अनेक असंगतियों का सामना करना पड़ता है। बच्चों को एक दूसरे के साथ सहयोग करने की शिक्षा दी जाती है और साथ ही उन्हें एक प्रतिस्पर्द्धा भी करनी पड़ती है। उन्हें यह सिखाया जाता है कि सफलता प्राप्त करना अच्छी बात है, फिर भी उन्हें कभी-कभी इतना काम दे दिया जाता है कि जिसे संभालना उनके वश के बाहर होता है। बच्चों से कहा जाता है कि वे स्कूल को पसन्द करें लेकिन हो सकता है कि स्कूल का उनके लिए कोई खास महत्त्व ही न हो क्योंकि वे अपने-आपको उसका अंग ही न समझते हों। हो सकता है कि बच्चे को किसी स्थिति में डाल दिया जाए, जिसके बारे में उसके माता-पिता की अभिवृत्ति बहुत ही नकारात्मक रही हो और वह फौरन महत्त्वपूर्ण फैसला करने पर मजबूर हो। जीवन असंगतियों से भरा हुआ है लेकिन अध्यापकों को चाहिए कि वे बच्चों को स्कूल जीवन में सामने आने वाली समस्याओं के आधार पर अव्यवस्थित ढंग से अभिवृत्तियाँ निर्धारित न करने दें। उन्हें ऐसा अनुभव प्रदान करने का सचेतन प्रयास किया जाना चाहिए जिनसे वांछनीय अभिवृत्तियों के विकास में सहायता मिलने की आशा हो। निसंदेह बच्चा स्कूल में जो समय बिताता है, उसमें उत्पन्न होने वाली अधिकांश अभिवृत्तियाँ वांछनीय और स्थायी होती हैं। यहाँ बहुत बड़ा सवाल यह उठता है कि "सचेतन प्रयास द्वारा अभिवृत्तियों को बदलने की दिशा में क्या किया जा सकता है ?"

बहुत पहले नर्सरी स्कूल और किंडरगार्टन में ही बच्चे को कुछ ऐसे अनुभव कराए जाते हैं, जिनका उद्देश्य अभिवृत्तियों को सुधारना होता है। इस अवस्था में बच्चे स्वकेन्द्रिक (egocentric) होते हैं और सामूहिक क्रियाकलाप में बहुत थोड़ा समय या शक्ति देने की उनसे आशा की जा सकती है। अध्यापक का एक बुनियादी उद्देश्य बच्चे में समाज-केन्द्रिक (socio-centric) अथवा समूह भावना उत्पन्न करना होता है। नर्सरी और किंडरगार्टन के बच्चों के प्रसंग में मनोवैज्ञानिक नाटक (psychodrama) प्रणाली और उसके परिणामों का उल्लेख करते हुए लिपिट और क्लैंसी[1] (Lippitt and Clancy) ने बताया है कि कुछ समय बाद बच्चे ""अपनी शक्ति, प्रयास और सृजनात्मक क्षमताओं को विनाशक तथा विध्वमक कार्यों में लगाने के बजाय उसे रचनात्मक और स्वत स्फूर्त बनाने लगे थे। उनके निष्कर्षों से पता लगता है कि इस प्रकार के भूमिका-अभिनय (role playing) से बच्चों और बड़ों में मेल-जोल बढ़ता है; नए तथा अप्रत्याशित अनुभवों के लिए तैयार रहने में सहायता मिलती है, सामाजिक कौशलों में सुधार होता है; अन्तर्दृष्टि

---

1. लिपिट आर. और क्लैंसी, सी. "साइकोड्रामा इन दि किंडरगार्टन एण्ड नर्सरी स्कूल ग्रुप साइको-थैरेपी, खण्ड 7 (1954) पृष्ठ 262–290.

पैदा होती है और समझबूझ बढ़ती है। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों पर तीन साल तक भूमिका-अभिनय-प्रणाली (role-playing-method) का प्रयोग करने के बाद निकल्स ने पता लगाया कि इसके निम्नलिखित प्रभाव होते हैं :

1. विषय-वस्तु में रुचि बढ़ती है।

2. बच्चों में भावनाओं की चेतना बढ़ती है।

3. बच्चों में अपनी कल्पना उन दूसरी विभूतियों के रूप में करने की योग्यता बढ़ती है, जिनके बारे में वे अपनी पाठ्य-सामग्री में पढ़ते रहते हैं।

4. पाठ्य-सामग्री बच्चों के लिए अधिक अर्थपूर्ण बन जाती है।

5. बोलने की भाषा में सुधार होता है और शब्द-भण्डार बढ़ता है।

6. अध्यापक का उत्साह और बच्चे की आवश्यकताओं का बोध बढ़ने की सम्भावना रहती है।

स्कूल कैंपिंग में बच्चों और अध्यापकों के निकट और दीर्घकालीन सम्पर्क के दौरान अभिवृत्तियों में होने वाले परिवर्तनों के अवलोकन के अवसर मिलते हैं। मुसेन[1] (Mussen) ने गोरी जाति के लड़कों की जाति सम्बन्धी अभिवृत्तियों पर इस प्रकार के अनुभवों के प्रभावों का अध्ययन करके यह पता लगाया कि केवल निकट सम्पर्क से पूर्वाग्रह के कम होने का आश्वासन नहीं हो सकता। जिन अभिवृत्तियों मे संवेग का अंश अधिक होता है, उनको बदलने के लिए सीधे-सादे सम्पर्क से अधिक संवेगात्मक कोई उपाय आवश्यक होता है। सिस्टर मेरी इटा[2] (Sister Mary Ita) ने यह विचार व्यक्त किया है कि विवेक को जाग्रत करने के शान्तिपूर्ण निवेदनों की अपेक्षा प्रबल संवेगात्मक प्रयास अधिक सफल सिद्ध होते हैं क्योंकि पूर्वाग्रहों में संवेगों का अंश बहुत प्रबल होता है।

कक्षा में अभिवृत्तियों को बदलने के लिए यह सुझाव रखा गया है कि कक्षा का वातावरण ऐसा उन्मुक्त होना चाहिए कि उसमें बच्चों को खुलकर अपने विचारों को व्यक्त करने और उन पर चर्चा करने का प्रोत्साहन मिले। मेटकाफ[3] (Metcalf) ने उन्मुक्त संवेगात्मक अभिव्यक्ति की विवेचना इस दृष्टि से की। यदि अभिवृत्ति को आस्था से अलग करके देखा जाए तो यह अभिव्यक्ति किस रूप में प्रभावक सिद्ध होती है। आस्थाओं के बारे में यह माना गया कि वास्तविकता के स्वरूप के बारे में किसी व्यक्ति का मत ही उसकी आस्था होती है और नया ज्ञान प्राप्त होते जाने पर उसमें परिवर्तन होता रहता है। वास्तविकता के स्वरूप को समझने सम्बन्धी दावे पर अभिवृत्तियाँ स्वतन्त्र समझी जाती हैं और केवल भावनाओं और संवेगों को उनका संघटक अंग माना जाता है। यह देखा गया है कि रेचन (catharsis) और अन्तर्दृष्टि को जन्म देने वाली अभिव्यक्ति द्वारा

---

1. मुसेन, पी. एच. "सम पर्सनेलिटी एण्ड सोशल फैक्टर्स रिलेटेड टु चेंजेज जर्नल आफ ऐबनार्मल एण्ड सोशल साइकालोजी खण्ड 45 (1950) पृष्ठ 441.
2. सिस्टर मेरी इटा डायगनोजिंग कालेज आफ प्रिजुडिसेज आफ चिल्ड्रेन इन स्कूल, नेशनल कैथोलिक एजूकेशन एसोसिएशन बुलेटिन (1950) पृष्ठ 441–444.
3. मेटकाफ, एल. ई. ऐटीच्यूड्स एण्ड बिलीफ्स एज मैटीरियल्स आफ इंस्ट्रक्शन, प्रोग्रेसिव एजूकेशन, खण्ड 27 (1950) पृष्ठ 127–129,

भावनाओं मे परिवर्तन हो जाता है। उन्मुक्त अभिव्यक्ति का परिणाम बहुत बड़ी हद तक इस बात पर निर्भर है कि जो *व्यक्ति भावनाओं को व्यक्त करता है उसके लिए इन भावनाओं* को कितना स्पष्ट किया जा सकता है। जब भावनाओं को समझ कर स्वीकार कर लिया जाता है तो अन्तर्दृष्टि पैदा होती है और भावनाएँ बदलती हैं। इलियट और मुस्टाकाम[1] (*Elliott and Moustakas*) ने उन्मुक्त अभिव्यक्ति का वातावरण उत्पन्न करने के उपायों और साधनों की खोज की है उन्होंने इस स्थिति का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है, जिसे इस विवेचन के सीमित क्षेत्र में नही समेटा जा सकता।

विद्यार्थियों की अभिवृत्तियो को बदलने के साधन के रूप में पाठ्यचर्या के सम्बन्ध में जो प्रमाण मिलते हैं, वे बहुत ही निराशाजनक हैं। लेगी[2] (Lagey) इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि पाठ्यचर्या में सम्मिलित पाठ्यक्रमों की विषय-वस्तु और अभिवृत्ति के सुधार के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाई नही देता है। नियमित शिक्षण प्रविधियों द्वारा अपराधियों के प्रति किसी की अभिवृत्ति को और अपेक्षाकृत क्षीण संवेगात्मक पुट वाली *अन्य संकल्पनाओं को तो बदला जा सकता है* परन्तु धर्म और जातियों के प्रति उसकी अभिवृत्तियाँ आसानी से नही बदली जा सकती। ओजेमन[3] (Ojemann) ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि पाठ्य पुस्तकें और अध्यापन सामग्री अभिवृत्तियों को बदलने में सहायक नही होती हैं क्योंकि वे सामाजिक समस्याओं के कारण बताकर उन्हे सुलझाने का प्रयत्न नही करती। समाज-विज्ञान की पाठ्य पुस्तक में "किशोर अपराध" के शीर्षक के अन्तर्गत जो विवेचना होगी उसमे अपराध की आवृत्ति, अपराध के प्रकार, कानून लागू करने की नीतियाँ और ऐसी सामग्री दी होगी जिसका अपराध के कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। इस तरह का सतही और किताबी रुख न तो दिलचस्प होता है और न कारगर। कक्षा में यदि कारणों की विवेचना की जाए, तो उससे छात्रो की अपनी अभिवृत्तियाँ बनाने में अधिक सहायता मिल सकती है। हो सकता है कि बहुत थोड़े समय के अन्दर परिवर्तन स्पष्ट दिखाई न दें। मेहडेसियन[4] (Mahdesian) पहली से छठी कक्षा तक के विद्यार्थियों पर सामूहिक विवेचन की प्रणाली आजमाकर इस नतीजे पर पहुँचे कि बहुत थोड़े समय मे यह प्रभावशाली सिद्ध नही होती। जो लोग अभिवृत्ति मे होने वाले परिवर्तनों का पता लगाना चाहते है, उनके सामने सबसे बड़ी कठिनाई मापने का कोई इतना संवेदनशील साधन खोज निकालने की है जो अल्पकाल मे होने वाले परिवर्तनो का पता लगा सकें। जब दीर्घ कालान्तर मे इस प्रणाली का प्रयोग किया जाता है, तो बीच में होने वाले अनुभवो की संख्या विचाराधीन प्रविधि के महत्त्व को घटा देती है।

---

1. इलियट, पी. और मुस्टाकास सी. "फ्री इमोशनल एक्सप्रेशन इन द क्लासरूम", प्रोग्रेसिव एजुकेशन खण्ड 28 (1951) पृष्ठ 125–128.
2. लेगी, जे. सी. "इज टीचिंग चेंज स्टूडेन्टस एटीच्यूड्स ?" जर्नल आफ एजुकेशनल रिसर्च, खण्ड 50 (1956) पृष्ठ 307–311.
3. ओजेमन, आर. एच. "चेंजिंग एटीच्यूडस इन द क्लासरूम," चिल्ड्रेन खण्ड 3 (1955) पृष्ठ 130–134.
4. मेहडेसियन, जेड. एम. "एन एक्सपेरिमेंट इन ग्रुप डिस्कशन एण्ड इट अफेक्टस अपॉन एटीच्यूडस इन एन एलीमेंटरी स्कूल." डॉक्टर की उपाधि के लिए अप्रकाशित शोध प्रबन्ध न्यूयार्क यूनिवर्सिटी 1955.

विदेश जाने वाले विद्यार्थियों का परीक्षण यात्रा पर जाने से पहले और बाद में यह मालूम करने के लिए किया गया कि उनके अनुभवों का उनकी अभिवृत्तियों पर क्या प्रभाव पड़ा। स्मिथ[1] (Smith) ने पता लगाया है कि जिन अभिवृत्तियों का सीधा सम्बन्ध इन अनुभवों से होता है, उनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है परन्तु चार छह महीने की इस अवधि में सामान्य अभिवृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता; जैसे विश्व-भावना, मानव-प्रेम, एकाधिकार-सत्ता, रूढ़िवाद और लोकतान्त्रिक समूह-प्रक्रियाओं के प्रति उनकी अभिवृत्ति। किसी व्यक्ति के अनुभवों के परिणाम का मूल्यांकन करने के लिए उसमें पहले से मौजूद अभिवृत्तियों की जानकारी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। स्पीगल[2] (Spigle) के निष्कर्षों से, जिन्होंने हाई स्कूल के लड़कों की अभिवृत्तियों पर शैक्षिक फिल्मों के प्रभावों का अध्ययन किया है, इस विचार की पुष्टि होती है। जो अभिवृत्तियाँ पहले से मौजूद हों अगर उनकी व्याख्या करने और उन पर नियंत्रण रखने की सीधे-सीधे कोशिश न की जाए तो वे अनुभव द्वारा पुष्ट होती जाती हैं।

यद्यपि छात्रों की अभिवृत्तियों को बदलने की कोशिशों के बारे में बहुत थोड़ी रिपोर्ट मिलती हैं लेकिन जो सच्ची कोशिशें की जाती हैं, उनमें से बहुत थोड़ी ही ऐसी होती हैं जिनके बारे में रिपोर्ट तैयार की जाती है। प्रभाव के आधीन परिवर्तन प्रतिदिन होते रहते हैं परन्तु हो सकता है कि वे तात्कालिक व्यवहार में दिखाई न देते हों। लक्ष्यों और आकांक्षाओं को नई शिक्षा प्रदान करने के लिए संचित ज्ञान, अनेक सुखद अनुभवों, और इस बात के अनेक प्रमाणों की जरूरत होती है कि कुछ अभिवृत्तियों का दूसरों की दृष्टि में क्या मूल्य है। अभिवृत्ति में अधिकांश परिवर्तन इसी तरह होते हैं परन्तु अध्यापक इस बात का पक्का प्रबन्ध कर सकें कि स्कूलों में छात्रों की अभिव्यक्तियों के विकास के लिए अनेक अवसर मिलें तो वे अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। स्कूल जीवन व्यतीत करने की जगह भी है और साथ ही भविष्य में जीवन व्यतीत करने की तैयारी भी। स्कूल के दैनिक कार्यकलापों से भविष्य के लिए की गई संचित तैयारी का निर्धारण होता है।

कक्षा में होने वाले नए अनुभवों को हर छात्र एक अलग रूप से देखता है। उनके इन अलग-अलग रूपों को पहले से समझने का महत्त्व इतना अधिक है कि इसी बात पर इसका फैसला निर्भर है कि किसी घटना का बच्चा क्या मतलब लगाएगा। वह घटना उसके लिए निरन्तर असफलता का कारण भी बन सकती है और किसी आश्चर्यजनक नई सफलता का भी। वह उसकी दृष्टि में अध्यापक की कोई नीरस सनक भी हो सकती है या इसी तरह की कई दूसरी संभावनाएँ भी। चूंकि स्कूल के अपने लक्ष्य हैं, जिनकी वजह से उस घटना विशेष को चुना गया है, इसलिये इस बात का पता लगाना आवश्यक है कि हर बच्चा उसकी पूर्वकल्पना किस रूप में करता है। छात्रों को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का

1. स्मिथ, एच॰ पी॰ "इू इन्टरकल्चरल एक्सपीरिएंसेज एफेक्ट एटीच्यूड्स" जर्नल आफ एबनार्मल एण्ड सोशल साइकोलोजी खण्ड 51 (1955) पृष्ठ 469–477.

2. स्पीगल, आई॰ एस॰ "दि क्यूमलेटिव एफेक्टस आफ सेलेक्टेड एजूकेशन मोशन पिक्चर्स आन दि ऐटीच्यूड्स ऑफ हाई स्कूल ब्वाएज एण्ड दि रिलेशनशिप आफ एटीच्यूड चेंजेज टु सेलेक्टेड पर्सनेलिटी एण्ड इन्टेलेक्चुअल फैक्टर्स डाक्टर की उपाधि के लिए अप्रकाशित शोध प्रबन्ध-इण्डियाना युनिवर्सिटी 1955.

अवसर देने से उन परिवर्तनों का पता चलता रहता है और उनके संवेग अधिगम प्रक्रिया को अवरुद्ध नहीं कर पाते हैं।

प्रारम्भिक जीवन में बच्चों में नई अधिगम परिस्थितियों के प्रति उत्साह होता है परन्तु आगे चलकर किसी अवस्था में उनका यह उत्साह नष्ट हो जाता है और वे स्कूल से नफरत करने लगते हैं। यह एक ऐसी समस्या है जिसका सामना शायद हर एक अध्यापक को करना पड़ता है। *बच्चों का उत्साह बनाए रखने का क्या उपाय है।* इस प्रश्न का सबसे पूर्ण उत्तर यह सिद्धान्त है कि सीखने वाले का अधिगम प्रक्रिया के साथ निकट सम्बन्ध बनाए रखें। अधिगम के प्रति वांछनीय अभिवृत्ति तभी बन सकती है जब (1) जो चीज सीखनी है, उसमें और पहले की सीखी हुई चीज में बहुत अन्तर न हो; (2) अधिगम-स्थिति (learning situation) सीखने वाले के लिए शारीरिक व बौद्धिक दोनों प्रकार से आकर्षक बना दी जाए; (3) जो ज्ञान या कौशल प्राप्त करना है, उसकी कल्पना इस रूप में की जाएँ कि उससे किसी आवश्यकता की पूर्ति होती हो; (4) सहवर्ती अनुभव ऐसे न प्रतीत होते हों कि उनसे लक्ष्य तुरन्त प्राप्त हो जाएगा; और (5) अधिगम के साथ यह *भावना भी उत्पन्न हो कि हमने कुछ सफलता प्राप्त की है, कुछ कर दिखाया है* और इस भावना को दूसरों की मान्यता से पुष्टि मिले। जब ये परिस्थितियाँ सभी सीखने वालों को निरन्तर उपलब्ध रहेंगी, तो अध्यापक के सामने ऐसे बच्चों की समस्या नहीं रह जाएगी जिनकी स्कूल के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति (negative attitudes) होती है।

अभिवृत्तियाँ सराहना के रूप में (Attitudes as appreciations)

सराहना एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति होती है, जिसे बाकी सबसे इसलिए अलग कर दिया जाता है कि वह सौन्दर्यानुभव के क्षेत्र में आती है। अन्य अभिवृत्तियों की भाँति सराहना की दिशा भी किसी लक्ष्य के साथ जुड़ी रहती है और यह व्यक्ति की आत्म संकल्पना का एक व्यक्तिमूलक अंग होती है। मूलतः सौन्दर्य के विविध रूपों में से किसी को भी समझना और उससे प्रेम करने को ही सराहना कहते है। सौन्दर्य को अनुभव करने की रीति है बोध, जिसका निर्धारण अनेक प्रकार के जैविकीय, मानसिक तथा सांस्कृतिक प्रभावों द्वारा होता है, जिनकी संख्या, प्रबलता और गुण अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग होते हैं। क्या सुन्दर है और क्या नहीं, यह इन्हीं परिस्थितियों का फलन होता है। सौन्दर्य की संकल्पना को अण्डे और मुर्गी वाली पहेली का रूप दे दिया गया है। कुछ लोग सौन्दर्य को वास्तविकता में मूर्त देखते है और कुछ लोग यह मानते है कि सौन्दर्य का अस्तित्व केवल उस व्यक्ति में होता है, जिसे उसका बोध हो। कोई भी दृष्टिकोण हो, यह तो निश्चित है कि वस्तुओं और रचनाओं में कुछ सामान्य गुण अन्तर्निहित होते हैं जिन्हें बहुत से लोग सुन्दर मानते है। ट्रो (Trow)[1] ने सौन्दर्य-रचना के निम्नलिखित गुण बताए है—

1. सुव्यवस्था, (order)
2. सन्तुलन, (balance)
3. क्रम और लय, (sequence and rythm)
4. संक्रमणशीलता और बल, (transition and emphasis)

---

1. ट्रो, डब्ल्यू० सी० "ए एजूकेशन साइकालोजी" दूसरा संस्करण, बोस्टन: हाफ्टन मिफिलन कम्पनी, 1950 पृष्ठ 646-652.

5. वैषम्य और गठन, (contrast and texture) और
6. समरूपता, (unity) ।

यह संभव है कि किसी कृति रचना में ये सारे गुण मौजूद होते हुए भी उसकी सराहना न हो क्योंकि दर्शक अथवा श्रोता संवेदनशील न हो । इस प्रकार के उद्दीपन को स्वीकार करने की तत्परता अनेक ऐसे अनुभवों का परिणाम होती है, जिनसे व्यक्ति को यह पता चल जाए कि कुछ उद्दीपन संतोषप्रद स्थिति उत्पन्न करते हैं और यह संवेदनशीलता का ही एक पक्ष है परन्तु चेतना के द्वार को सीमित करके जैविकी लाक्षणिकताएँ भी सवेदनशीलता पर अपना प्रभाव डालती है। स्वरबधिरता और वर्णान्धता, दृष्टि वैषम्य (भेंगापन), दीर्घ दृष्टि (हाइपरोपिया) और निकट दृष्टि (मायोपिया) आदि दृष्टि दोषों के कारण बोध संवेदनशीलता पूर्व-निर्धारित हो जाती है और सराहना पर इनका प्रभाव पड़ता है । संरचना के कुछ पक्षों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की लोगों की तत्परता निर्धारित करने मे सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों का भी हाथ होता है । कुछ सांस्कृतिक समूहों के संगीत में लय का तत्व इतना सशक्त होता है कि स्वर की ओर अधिक ध्यान नही दिया जाता और इसी प्रकार एक ही सामान्य संस्कृति के अन्तर्गत कुछ छोटे-छोटे समूह कुछ ऐसे गुणों के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं, जो दूसरों को असंगत प्रतीत होते हैं ।

शिक्षा का उद्देश्य छात्रों की इस बात मे सहायता करना है कि जब भी सौन्दर्य का साक्षात् हो, वे उसे अनुभव कर सके और उससे प्रेम कर सकें । इस उद्देश्य को पूरा करने में पाठ्यचर्या में संगीत और कला को भी शामिल किया जाता है और पाठ्येतर कार्यक्रम में छात्रों को मित्रतापूर्ण साहचर्य और सद्भावना के वातावरण मे संगीत, नृत्य, चित्रकला और अन्य प्रकार की सौन्दर्यानुभूतियों का आनन्द लेने का अवसर दिया जाता है । जब बच्चे अनुभव के एक अंग के रूप मे स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है, तो वे सराहना की कला सीखते हैं । यह भावना ज्ञान, कौशल, समझ-बूझ से भी उत्पन्न होती है और कुछ अज्ञात प्रसंगों से पैदा होने वाले किसी रोमाचकारी सवेदन मात्र मे भी । ग्राह्यता का ढंग कुछ भी हो, सराहना सीखी जा सकती है, और जो अध्यापक प्रकृति अथवा कला में निहित सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील होता है, वह दूसरों में भी सराहना की क्षमता पैदा कर सकता है । सराहना की स्वाभाविक परिणति किसी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति मे होती है । किसी सुखद अनुभव मे जब कोई दूसरा भी उसका आनन्द लेने के लिए साथ हो, तो उसका प्रभाव बढ जाता है । गूढ़ अध्ययन टीकाओं और भाव-भगिमा तथा शरीर की मुद्राओं द्वारा अध्यापक अपने शिष्यों को भी अपने सौन्दर्यानुभाव मे साझीदार बना लेते हैं । अध्यापक द्वारा अपने सौन्दर्य-बोध की भरपूर अभिव्यक्ति पूरे समूह मे संचारित हो जाती है और उसके प्रभाव चिरस्थायी होते हैं ।

धार्मिक अभिवृत्तियाँ एवं विश्वास

मनुष्य की धार्मिक क्रियाएँ मूल प्रवृत्तियो से सम्बन्धित है, इस दिशा में अनेक प्रयत्न किए गए हैं । धार्मिक क्रियाएँ पूरे विश्व में ही पाई जाती है । बाह्य रूप से देखने मे ऐसा लगता है कि इनका विकास अनेक आवेगों के मिश्रण से हुआ है यथा भय, काम, विकमित इच्छाएँ, रुचियाँ आदि । ये आवेग, जिनमें से कुछ मूल आवेग है, मनुष्य की बौद्धिक एवं सामाजिक आदतो में अन्तर्नोद के रूप में घुल-मिल गए है ।

यदि किशोर से यह प्रश्न किया जाए, "धर्म क्या है" ? तो औसत किशोर बड़े विचित्र एवं असंतत्त्व उत्तर देगा। किन्हीं दो व्यक्तियों की धर्म सम्बन्धी मान्यता समान हो, इसकी कम सम्भावना रहती है। यद्यपि यह बात अनोखी लगती है, परन्तु इसे स्वीकार तो करना ही है। धर्म की चाहे कोई परिभाषा है या नहीं यह पीढ़ी दर पीढ़ी यंत्रवत् सीखा जाता है तथा माना जाता रहा है। फिर भी यह माना जाता है कि किशोर के धार्मिक अनुभव कुछ मूलभूत सिद्धान्तों एव धारणाओं पर आधारित रहते हैं।[1]

किशोर के धार्मिक विकास से सम्बन्धित अध्ययन किशोर की डायरियाँ, पत्रों, कविताओं, प्रश्नमालाओं से प्राप्त उत्तर आदि पर आधारित हैं। इससे धार्मिक आत्म के विकास से सम्बन्धित बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है।[2] बाल्यावस्था के धार्मिक विकास के बारे में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है क्योंकि यौवनारम्भ से पूर्व धार्मिक अनुभव सामान्यतः प्रगट नहीं होते हैं। व्यक्ति के स्वभाव एव धार्मिक समुदाय पर ही यह निर्भर करता है कि धार्मिक विकास निरन्तर है या अनायास ही कोई मोड़ ले लेगा तथा उसमें बदलाव आएगा। काम, स्वभाव, प्यार आदि ऐसे अनेक घटक हैं, जो कि धार्मिक विकास को प्रभावित करते हैं परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि धार्मिक विकास केवल उन्हीं पर निर्भर करता है।

संपरिवर्तन का काल

किशोरावस्था में अनेकों व्यावयविक परिवर्तन होते हैं, जो कि व्यक्ति के मानसिक विकास पर निश्चित प्रभाव डालते हैं। इस अवधि में व्यक्तिगत एव सामाजिक चेतना का भी उदय एवं विकास होता है। इस विकास के कारण ही बालक अहं-केन्द्रिक न रहकर सामाजिक बनता जाता है। वह जीवन के उद्देश्यों से परिचित होता है तथा उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ भी पूर्णता को प्राप्त होती है। सामान्य रूप से विकसित किशोरों में बाल्यावस्था के प्रभाव एव धार्मिक संस्कार अब पूर्णतः विकसित हो जाते हैं तथा अब वे उसकी पूर्ण महत्ता को समझने लगते हैं।

यह परिवर्तन धार्मिक संस्थाओं से प्रभावित रहता है। जीवन में उत्पन्न संकट धार्मिक पुनर्जागृति को जन्म देते हैं। यह परिवर्तन तीन प्रकार का होता है—

1. संवेगों एवं अभिवृत्तियों से उत्पन्न निश्चित संकट,
2. संवेगात्मक उत्तेजना,
3. क्रमिक जागृति।

सर्वाधिक जागृति 15 से 17 वर्ष की आयु में होती है जबकि क्रमिक जागृति इससे पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती है। आज के किशोरों में, जो धार्मिक चेतना उत्पन्न होती है, इसमें धार्मिक संस्थानों द्वारा दिए गए उपदेशों तथा जीवन-दर्शन के निर्माण में विकसित सामान्य अनुभवों का मिश्रण होता है।

यदि व्यक्ति को जाग्रत एवं उत्तेजित किया जाता है, अधिक चिन्तन के लिए तथा नई प्रतिबद्धताओं या समूह कल्याण तथा अच्छे आचरण पर बल दिया जाता है, तो उसके

---

1. गैरीसन कार्ल० सी० "साइकोलाजी ऑफ एडोलेसन्स", पंचम संस्करण, प्रेन्टिस हाल पृ. 173.
2. कुन्हे ओ० "द रिलीजियस डेवलपमेन्ट आफ एडोलेसेन्ट्स", न्यू योर्क, मेकमिलन कम्पनी, 1928.

सामाजिक, शैक्षिक एवं धार्मिक जीवन का संतुलित एवं स्वस्थ विकास होगा। यदि बल नकारात्मक कार्यों पर दिया जाता है—जैसे कि उसके द्वारा किए गए पापों को गिनाना, यौन सम्बन्धी एव अन्य बातो की आलोचना करना तो हम पाएँगे कि अज्ञात भय उसके मस्तिष्क को घेर लेंगे तथा उसमें संवेगात्मक अस्थिरता एवं विकृतियाँ उत्पन्न कर देंगे। किशोर लड़के लड़कियाँ धार्मिक प्रार्थनाग्रो को अति शीघ्र ग्रहण करते हैं। इस दिशा मे किए गए अनुसंधान बतलाते हैं कि लड़कियाँ धार्मिक जीवन के संवेगात्मक अनुरोधो से अधिक प्रभावित होती हैं, जबकि लड़के सम्मान संहिता, नैतिक अनुज्ञा एवं सामूहिक क्रियाओं के प्रति अधिक आकर्षित रहते हैं।

अभिवृत्तियों एवं विश्वासों में परिवर्तन

लगभग 13 से 22 वर्ष की अवस्था के बीच ज्यों-ज्यों किशोर बढ़ता जाता है, उसके विकास की ऐसी कई प्रवृत्तियाँ हैं, जो धर्म के सम्बन्ध में उसके सोचने और अनुभव करने की पद्धति मे परिवर्तन ला सकती है। जब यह विकास स्वस्थ रीति से होता है, तब तरुण ज्यों-ज्यों किशोर-काल से गुजरता है, माता-पिता या शिक्षकों से गृहीत धार्मिक विश्वासों और धारणाओं की जाँच करता है, तब बहुत सम्भव है कि किशोर धार्मिक विचारों पर ठीक वैसे प्रश्न करे, जैसे वह राजनीतिक या सामाजिक या अन्य विषयो से सम्बद्ध विचारों की जाँच करते समय करता है। ऐसी आत्म-परीक्षा स्वस्थ विकास का परिचायक है। सभवतः यह सत्य है कि अपने आत्म-प्रत्ययों के सम्बन्ध में किशोर जितना ही अधिक निश्चित रहता है, उनकी परीक्षा करने मे वह उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। जिस अश मे वे उसके लिए महत्त्व रखते हैं, उसी अंश में उन पर प्रश्न करने का उसे साहस होता है। जो विश्वास करने मे सर्वथा समर्थ है, वही शका करने का भी साहस करता है।

वह किशोर, जो स्वतन्त्र होने का और स्वतन्त्र रूप से सोचने का प्रयास करता है, उसे एक ऐसी अवस्था से होकर गुजरने की भी संभावना है, जब वह धर्म के सम्बन्ध में स्वतन्त्र चिन्तन करने की चेष्टा करे। यदि वह सक्रिय रूप में विद्रोह करता है, तो उसका विद्रोह उस रूप मे प्रकट हो सकता है, जिस रूप में वह धर्म के प्रति अनुक्रियाशील होता है। जब उसकी बुद्धि इतनी विकसित हो जाती है कि अपने चारों ओर के जीवन का अर्थ समझ सके, तब अनुमानतः वह धर्म के अर्थ की गहरी अनुभूति मे भी समर्थ होता है। ज्यों-ज्यों वह स्कूल कक्षाओं मे बढता जाता है और विभिन्न दर्शनों और दृष्टिकोणों को सीखता है, त्यों-त्यों उसे अपने धार्मिक विचारों को अधिक व्यापक सन्दर्भ मे देखने का अवसर मिलता है। वह जैसे-जैसे उन व्यक्तियो के सम्पर्क में आता है, जिनका धर्म उससे भिन्न होता है, वैसे-वैसे उसे अपने निजी विश्वासों को अधिक ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता महसूस हो सकती है। यदि वह विज्ञान, साहित्य और दर्शन का अध्ययन करता है, तो देखता है कि किस प्रकार मानव-जाति ने सत्य की प्राप्ति और अभिव्यक्ति के लिए यह प्रयास किया है और उनके द्वारा प्राप्त उत्तर कितने विभिन्नतामय हैं। यदि वह खुले दिमाग से विचार करता है, तो पाता है कि उसके लिए जो विश्वास की वस्तु है, वही दूसरो के लिए सशय का विषय है। ज्यों-ज्यों वह हाई स्कूल और कॉलेज में सांस्कृतिक विषयों का अध्ययन करता है, वह ऐसे दृष्टि बिन्दुओं के सम्पर्क में आ सकता है या ऐसे

सिद्धान्तों और तथ्यों को पा सकता है, जो उसके विशिष्ट धार्मिक विचारों को स्पर्श करते हैं और जिस रीति से वे उसके द्वारा निर्मित हुए हैं, उस पर कुछ सन्देह उत्पन्न करते है।

तरुण जब किशोरता प्राप्त करते हैं, तब वे अमूर्त प्रत्ययों (abstract ideas) को सोचने के योग्य हो जाते हैं। इस विकास को ध्यान में रखने पर हम आशा कर सकते हैं कि कुछ धर्म की साकेतिकता का अधिक गहन अवबोध (profound understanding) प्राप्त कर लेंगे। वास्तव मे ऐसे शोध परिणाम हैं, जो प्रदर्शित करते हैं कि तरुण ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, उनके धार्मिक अभिविन्यास के कुछ पक्षों में परिवर्तन होता जाता है पर ऐसे भी खोज-परिणाम हैं, जो निर्दिष्ट करते हैं कि कुछ तरुण धर्म के सम्बन्ध मे अपनी बढ़ती हुई समझ के बावजूद अपने धार्मिक विश्वासों मे अधिक परिवर्तनशील नही होते हैं।

धार्मिक विचारों में परिवर्तन का एक और कारण यह हो सकता है कि युवा व्यक्ति को जो कुछ सिखाया जा सकता है या जो उदाहरण उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, उसकी परिस्थिति को जाँचने की उसकी क्षमता बढ़ जाती है। वह अनुभव कर सकता है कि धर्म से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता और शान्ति की चर्चा करने वाले स्वयं वैसे प्रसन्न या शांत नहीं दिखते हैं। वह उस व्यक्ति को कपटी समझ सकता है, जो उपदेश तो भातृत्व प्रेम का देता है, पर जो स्वयं अतिशयपूर्वाग्रह युक्त है जैसा कि अनुमानतः बहुतेरे धार्मिक व्यक्ति हुआ करते हैं।

बहुत पहले डौसन (Dawson) (1900) द्वारा किए गए एक अध्ययन में धार्मिक *अभिविन्यास (religious orientation) में कुछ परिवर्तन होने का तथ्य सामने आया।* इस अध्ययन मे लगभग 8 से 20 वर्ष की आयु के तरुणो की बाइबिल के विविध अंशो मे रुचि का समीक्षण किया गया था। बड़े बच्चों ने धर्मग्रंथो के ऐतिहासिक पक्षों में कम रुचि प्रदर्शित की और उसके काव्यात्मक अंशो और दिव्यवार्ता में वर्धित रुचि दिखलाई।

फ्रेंजब्लाउ (Franzblau) (1934) ने छोटी और अपेक्षाकृत बड़ी उम्र के छात्रों की अभिवृत्तियों और विश्वासो का तुलनात्मक अध्ययन किया। इन छात्रों ने संस्थानों में धार्मिक शिक्षा ली थी। इसमें एक आकर्षक परिणाम यह मिला कि धार्मिक स्कूल में रहते हुए ही बड़े बालकों ने उन सिद्धान्तों पर प्रश्न करना शुरू कर दिया, जिन्हे उन सबने 12 वर्ष की आयु मे मान लिया था केवल बड़े हो जाने और धार्मिक संस्था से सम्पर्क बनाए रखने का आशय यह नही था कि तरुण अपने धार्मिक विश्वासो की स्वीकृति में अधिक दृढ हो गए थे। उनमे से कई ने बड़े होने पर धार्मिक मतो को अस्वीकृत कर दिया, हालाँकि वे निष्ठापूर्वक धार्मिक स्कूल मे जाते रहे। उन लोगो ने बड़े होने पर और वही शिक्षा लेते रहने पर भी धार्मिक शिक्षणों के अर्थ की बौद्धिक समझ मे कोई प्रगति नही की। अनेक धर्मों को मानने वाले बच्चो के सम्बन्ध मे किए गए अध्ययनों की भांति इस अध्ययन मे भी यह पाया गया कि एक ओर धार्मिक इतिहास और पर्वों के ज्ञान और दूसरी ओर व्यक्तित्व या चरित्र के विकास मे कोई सीधा सम्बन्ध नही था।

धार्मिक शका के भावात्मक पक्ष

किशोर अवस्था मे धार्मिक अनुभवो के भावात्मक पक्षो का उतनी गम्भीरता से

अध्ययन नहीं किया गया है, जितना तरुण के स्व-कथित विश्वास के औपचारिक और यथातथ्यात्मक पक्ष का। जीवनियों और आत्म-चरित्रों से हमें ज्ञात है कि किशोर काल में कुछ लोगों के लिए धार्मिक अनुभव गम्भीर भावनाओं से भरपूर हो सकता है और जो हर्षोन्माद से नैराश्य और अवसाद तक विस्तरित हो सकता है।

यदि कोई तरुण अपने अधिगत धार्मिक विश्वासों की गम्भीरतापूर्वक परीक्षा करने बैठता है और उनके सम्बन्ध में शंकायें उठाता है तो शंका करने की यह प्रक्रिया कष्टप्रद हो सकती है। जीवन के किसी भी काल में ऐसी बातो पर प्रश्न वाचक चिह्न लगाना, जिनकी सीख गुरुजनों और प्रियजनों ने दी हो, बड़ा ही विक्षोभकारी होता है। जीवन के पिछले कितने वर्षों तक जिस पर विश्वास किया और जिसे सत्य के रूप में माना, उसको अस्वीकृत करना ही होगा—यह भावना व्यक्ति को अशान्त कर देती है। अपने धर्म के प्रति शंका कई अर्थों मे जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण की प्रमुख आधार शिला पर शंका करने के तुल्य है। जब कोई तरुण अपने धार्मिक विश्वासो मे सन्देह करता है, तब यह संशय किसी सिद्धान्त या मत या रूढ़ि मात्र के प्रति नही होता। एक अर्थ मे वह अपनी निजी बुद्धि पर और उन लोगों की सत्य-निष्ठा पर और उनमे अपने सम्बन्धों के औचित्य पर सन्देह प्रकट कर रहा है, जिन्होंने धार्मिक विश्वासो की उसे सीख दी और जिस पर उसने विश्वास किया। इसके अतिरिक्त, यदि उसके विश्वास केवल मौखिक प्रदर्शन से अधिक कुछ हैं, तो वह एक अर्थ में अपने अन्दर निर्मित ईश्वर की प्रतिमा के प्रति भी शंका कर रहा है तथा शंकाग्रस्त होने के पूर्व तक वह परम सत्य की जिस धारणा पर अपने विश्वासों की भित्ति का निर्माण करता आया है, उसे भी चुनौती दे रहा है।

यदि कोई व्यक्ति अपनी ऐसी आस्था के प्रति संशयशील है जो उसके जीवन-दर्शन की आधारशिला है, (जहाँ तक वह अपना जीवन-दर्शन निर्मित कर सका है) तो इस प्रक्रिया में अवश्यमेव वह असुविधा महसूस करेगा और शायद यही कारण है कि बहुत बड़ी संख्या मे किशोर अधिक गम्भीरतापूर्वक शंका नही करते हैं। इनमे से अधिकांश लोग धार्मिक विश्वासों के किसी न किसी पक्ष के प्रति संशय की अवस्था से होकर गुजरते है पर परिणाम सामान्यत: आमूल परिवर्तनवादी नही होता है। इस विश्वास के पर्याप्त कारण हैं कि धार्मिक क्षेत्र में भी अपने जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति वे आत्म परीक्षण के विचार से बचने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं।

डुडिचा (Dudycha) (1933) के एक अध्ययन से धार्मिक विश्वासो पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार 74 प्रतिशत कालेज छात्रों ने अमरता मे विश्वास व्यक्त किया, 51 प्रतिशत ने सृष्टि के अन्तिम दिन (कयामात) में विश्वास प्रकट किया पर इसके विपरीत केवल 39 प्रतिशत ने नरक के अस्तित्व मे विश्वास प्रदर्शित किया। इस खोज परिणाम का उल्लेख करते हुए हम यह नही कहना चाहते कि युवकों को नरक मे विश्वास करना चाहिए। पर जहाँ तक अन्त: संगति (inner consistency) का प्रश्न है, यदि कोई यह विश्वास करता है कि कोई अन्तिम न्याय का दिन होता है तब इस विश्वास मे यह तर्क स्वत: सन्निविष्ट हो जाएगा कि वह निर्णय प्रतिकूल भी हो सकता है।

सारांश

अभिवृत्तियाँ वस्तु, व्यक्ति, स्थिति या विचार के सम्बन्ध में व्यक्ति का झुकाव, पूर्वाग्रह या पूर्वनिर्धारित धारणाएँ होती हैं। ये अभिवृत्तियाँ विविध प्रकार की होती हैं तथा शिक्षण द्वारा इन्हें विशेष रूप में ढाला जा सकता है।

किशोर के जीवन में अभिवृत्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी स्वयं के प्रति क्या अभिवृत्ति है तथा दूसरों की उसके प्रति क्या अभिवृत्ति है—यही मिलकर उसके जीवन की भावी भूमिका तैयार करती है। परिपक्वता के साथ-साथ अभिवृत्तियों में आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवाद आ जाता है।

अभिवृत्तियो के चार आयाम तीव्रता, दिशा, विस्तार एवं अवधि हैं। तीव्रता व्यक्ति के व्यवहार को प्रेरित करती है, बाधाएँ उसके अभिव्यक्ति के तरीके को बदल सकती हैं, परन्तु अभिवृत्ति को समाप्त नही कर सकती। दिशा व्यक्ति को किसी अभिवृत्ति विशेष की ओर आकर्षित, विमुख या उदासीन करती है। कुछ अभिवृत्तियों का विस्तार व्यापक होता है। अभिवृत्तियाँ एक विशेष अवधि तक रहती है, ये परिवर्तनशील होती हैं।

अभिवृत्तियों मे परिवर्तन लाने में पूर्वाग्रहों की मुख्य भूमिका है। आज का युग प्रतियोगिताओं द्वारा सफलता प्राप्त करने का है। इसमें असफल व्यक्ति दुर्बल या निर्धन को दोषी ठहराता है, वे बलि का बकरा बन जाते है।

सामान्यत: किशोर की अभिवृत्तियाँ आदर्शवादी होती है। अर्थ सम्बन्धी मामलो मे वह माता-पिता के निर्देशों के अनुसार आचरण करता है। स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों मे हो सकता है कि वातावरण से प्रभावित हो वह अन्धविश्वासों को स्वीकार कर ले।

यौवनारम्भ के साथ ही अभिवृत्तियों में परिवर्तन आता है। किशोर आक्रामक व अच्छा खिलाड़ी बनना पसन्द करता है। किशोरियाँ स्त्रियोचित कार्य करना चाहती है। किशोर की अभिवृत्तियाँ इस बात पर भी निर्भर करती हैं कि उसको यौन सम्बन्धी ज्ञान किस स्रोत से प्राप्त हुआ। मित्रों से, गली-मोहल्लो से, हल्की-फुल्की पुस्तकों से या प्रौढ़ों से।

विद्यालय किशोर की अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाता है। यह परिवर्तन सदैव वांछित दिशा मे नही होते। सचेतन प्रयास द्वारा अभिवृत्तियों को वांछनीय एवं स्थायी रूप दिया जा सकता है। यह प्रयत्न नर्सरी व किंडरगार्टन से ही आरम्भ कर दिए जाने चाहिएं। इसके लिए मनोवैज्ञानिक नाटक एवं भूमिका अभिनय प्रणाली का प्रयोग उचित है। कक्षा मे अभिवृत्तियों को बदलने के लिए वातावरण मे उन्मुक्तता का होना अनिवार्य है ताकि किशोर अपने विचारो को खुलकर प्रकट कर सके तथा पूर्वाग्रहों से मुक्ति पा सके। रेचन और अन्तर्दृष्टि द्वारा भी अभिव्यक्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। धर्म और जाति के प्रति बनी अभिवृत्तियों के परिवर्तन में पाठ्यक्रम सहायक नहीं हो सकता, हाँ वह साधारण अभिवृत्तियो को अवश्य बदल सकता है। इसी प्रकार विदेश यात्रा से कतिपय अभिवृत्तियों मे क्षणिक परिवर्तन आता हैं।

कक्षा में दिए जाने वाले प्रत्येक अनुभव का वैयक्तिक विभिन्नताओं के कारण छात्रों पर पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ता है, अत. अभिवृत्तियों मे मनचाहा परिवर्तन आ ही जाए यह

निश्चित नहीं है। विद्यालय के सामने मुख्य चुनौती है अधिगम के प्रति किशोर की वांछनीय ग्रभिवृत्ति बनाए रखना।

एक विशेष प्रकार की ग्रभिवृत्ति है—सौन्दर्य की सराहना करने की। इसके लिए ग्रावश्यक है कि श्रोता या दर्शक संवेदनशील हो। शारीरिक विकृतियों का सराहना की ग्रभिवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार पूर्वाग्रह भी ग्रपना प्रभाव डालते है। फिर भी ग्रध्यापक ग्रपने प्रयत्नों द्वारा इस ग्रभिवृत्ति को विकसित कर सकता है।

धर्म की चाहे कोई परिभाषा है या नहीं यह पीढ़ी दर पीढी यन्त्रवत् सीखा एवं माना जाता रहा है। यह धार्मिक विकास काम, स्वभाव, प्यार ग्रादि पर निर्भर करता है। किशोर के विकास के साथ ही साथ उसकी धार्मिक ग्रभिवृत्तियाँ भी विकसित होती रहती हैं। धर्म के सम्बन्ध में किशोर द्वारा उठाए गए प्रश्न उसके स्वस्थ विकास के परिचायक हैं, क्योंकि जो विश्वास करने में सर्वथा समर्थ है, वही शंका करने का भी साहस रखता है। धार्मिक शंकाग्रों का एक कारण कथनी ग्रौर करनी का ग्रन्तर भी हो सकता है। धार्मिक शंकाग्रों का उठना बड़ा ही विक्षोभकारी होता है।

□□□

अध्याय 9

आदर्श, नैतिक मापदण्ड एवं धर्म

युवकों द्वारा अवज्ञा

किशोर की अभिवृद्धि एवं विकास का अध्ययन करते समय हमने देखा है कि परिपक्वता की ओर बढते किशोर को अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है। वैयक्तिक विकास की यह अवधारणा इंगित करती है कि व्यक्ति नैतिकता, आदर्शों एवं धर्म को बाल्यावस्था से किशोरावस्था के बीच ही सीख सकता है। बाल्यावस्था मे किशोर के विचार एकदम स्पष्ट होते है। माता-पिता से वह जो कुछ भी सीखता या सुनता है उसे बिना तर्क के स्वीकार कर लेता है परन्तु किशोरावस्था के आगमन के साथ ही उसमें स्वयं सोचने व विचारने की शक्ति आजाती है। स्व की मुक्ति मे इसका वर्णन किया जा चुका है। प्रौढ कभी भी किशोर की इस तर्क-बुद्धि को स्वीकार नही करते। किशोर की स्वतंत्र आत्म-अभिव्यक्ति तथा प्रौढ़ो की आज्ञा को आँख मीच कर नही मानने की उनकी प्रवृत्ति से प्रौढों को बड़ी शिकायत रहती है। यह कोई नई शिकायत नहीं है; यह तो अनादि काल से चली आ रही है। इसका प्रमाण है 6,000 वर्ष पूर्व की पत्थर पर खुदी वह लिखाई जो कि पुरातत्व-वेत्ताओं ने मेसोपोटामिया की घाटी से खोद निकाली है। उस पर लिखा है—"यह संसार पिछले कुछ सालो से विनाश की ओर बढ़ रहा है। ऐसे चिह्न दिखाई दे रहे हैं कि इस विश्व का अन्त समीप ही है। बालक अब माता-पिता की आज्ञा नही मानते। विश्व का विनाश शीघ्र ही होने वाला है।" ब्रिटिश संग्रहालय में रखे इस अवशेष पर हजारों वर्ष पूर्व की गई खुदाई बताती है कि किसी भी युग मे प्रौढ युवाओं के स्वतन्त्र विचारक बनने के पक्षधर नही रहे हैं। जैसे ही किशोर अपने दिमाग से सोचने लगता है, प्रौढो की दृष्टि मे वह अवज्ञाकारी, उद्दण्ड, अनुशासनहीन सिद्ध हो जाता है।

अवज्ञा के कारण

1. लोक प्रथाओं एवं संस्थानों के प्रति किशोर की अभिवृत्तियाँ—प्रचलित प्रथाओं एव संस्थानों को किशोर स्वीकृत या अस्वीकृत करता है, उनके अनुरूप अपने को ढालता है या कुछ नवीनता की चाह करता है—यह सब उस सामाजिक ढाँचे से प्रभावित होता है, जिसमे कि किशोर रहता है। उसकी अभिवृत्तियों (attitudes) के निर्माण मे घर, विद्यालय, समवयस्क समूह आदि सभी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। एक निम्न वर्ग का किशोर हमेशा ही विद्यालय छोडने की सोचता रहेगा। जो भी थोड़ा बहुत पैसा उसके पास है, उसे तत्काल खर्च कर देगा, यहाँ तक कि काम विकृतियों में फंस जाएगा।

उसके साथी भी उसे इसी ओर धकेलेंगे। माता-पिता के लिए भी शिक्षा का कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। अत. जिस वर्ग से किशोर सम्बन्धित है, उसका सामाजिक-आर्थिक ढाँचा, उसकी अभिवृत्तियाँ एवं मूल्य किशोर के आदर्श एव मूल्य-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण होते हैं।

मध्य वर्ग से सम्बन्धित किशोर कुछ कट्टर प्रवृत्ति का होगा। वह धार्मिक सिद्धान्तों का कटु आलोचक नहीं होगा तथा समाज द्वारा मान्य नैतिक संहिताओं का भी उल्लंघन नहीं करेगा क्योंकि उसे सामाजिक अस्वीकरण एवं दण्ड का भय रहता है। सभी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थान किशोर को मध्य वर्गीय प्रथाओं को मानने की शिक्षा देते हैं। हमारी सभ्यता में किशोर को स्वतन्त्रता है परन्तु आदिम संस्कृतियों में अपेक्षाकृत कट्टरता होती है। यही कारण है कि हमारे समाज मे किशोर माता-पिता के दृष्टिकोण से असहमत हो सकता है। विद्यालय में विशेषत: किशोर को प्रथाओं एवं स्वीकृत विश्वासो, मान्यताओं आदि का ज्ञान दिया जाता है तथा यह अपेक्षा की जाती है कि किशोर उन्ही का अनुसरण करे। यह सब ज्ञान मध्य वर्गीय संस्कृति व सभ्यता से सम्बन्धित होता है। विद्यालय में भिन्न-भिन्न वर्ग के किशोर होते हैं। उनके लिए इन सबको समझना व अनुसरण करना कठिन होता है। विशेष रूप से निम्न वर्ग के किशोरों के सामने एक समस्या उपस्थित हो जाती है। अतः विद्यालय को चाहिए कि धर्म व नैतिकता की शिक्षा देते समय सभी वर्गों की अभिवृत्तियों एवं प्रथाओं को ध्यान में रखें। एक अच्छे शैक्षिक कार्यक्रम हेतु यह नितान्त आवश्यक है।

2. परिवर्तनशील प्रथाएँ—हमारी संस्कृति जड़ नही है अत: व्यवहार के प्रतिमान एवं प्रथाओं में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। काम-सम्बन्धी प्रथाओं में यह विशेष रूप से परिलक्षित है। यह परिवर्तन बडे ही धीमे एवं क्रमिक होते हैं। युवा पीढी व्यवहार सम्बन्धी संरक्षण प्रौढ पीढी से प्राप्त करती है और फिर विद्यमान स्थितियों के संदर्भ मे उनमे संशोधन करती है, प्रौढ पीढी चिल्लाहट पुकार के बावजूद भी वह इस दिशा मे प्रयत्नशील रहती है कि उसके परिणाम सकटकारी न रहे। इस प्रकार नई प्रथाओ का जन्म होता है। वे व्यक्ति जो किशोरों के साथ कार्य करते हैं, इस तथ्य से पूर्णतः परिचित हैं। ये व्यक्ति बहुधा उलझन मे पड़ जाते हैं। ये सामान्यत: अपनी परिचित विधियो से इन परिवर्तनो को नही आने देने के लिए किशोर को निर्देश देना चाहते है परन्तु किशोर इसके लिए तैयार नही होते। माता-पिता, शिक्षक व अन्य जो कि किशोरो से सम्बन्ध रखते है, इस तथ्य से पूर्णतः परिचित हैं। इसके लिए एक ही विकल्प रह जाता है कि परामर्शदाता के निर्देशन मे उसके बनाए गए मार्ग पर चला जाए और किशोर की काम सम्बन्धी जिज्ञासा को परिपक्वता आने तक निर्देशित किया जाए। यद्यपि इसका क्या परिणाम होगा, उसका कुछ पता नही। फिर भी किशोर द्वारा लाए गए सामाजिक परिवर्तन की अवहेलना करने से किशोर एवं उसको सलाह देने वाले प्रौढ़ो के बीच की खाई और अधिक बढ़ेगी।

किशोर को जिस बात की अत्यधिक आवश्यकता है वह है यौन-भ्रम सम्बन्धी निर्देशन की। उसे आचरण के मानक विकसित करने का परामर्श दिया जाना चाहिए ताकि वह अपने दैनिक जीवन में आने वाली समस्याओं का हल खोज सके परन्तु तत्संबंधी

अनुशासन न तो निरंकुश होना चाहिए और न आधारहीन। यह स्वयं के जीवन के दर्शन पर आधारित होना चाहिए।

रोकथाम

अनुशासन एवं नैतिक आचरण—किसी भी समूह में प्रचलित प्रथाओं एवं व्यवहारों के विरुद्ध यदि कोई व्यक्ति आचरण करता है, तो निश्चय ही समूह उसे दोषी ठहरायेगा। कभी-कभी यह व्यवहार असामाजिक भी हो सकता है, जो कि उस समूह के कल्याण के विरुद्ध होता है और अनाचार की संज्ञा में आता है। असामाजिक व्यवहार के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही एक प्रकार का हलका दण्ड है, जिसका कि परिवार, विद्यालय, समूह, खेल के मैदान आदि में प्रयोग किया जाता है। इस दण्ड देने का भी एक पृथक् विधान होता है तथा उसी के अनुसार अपराधी या अवांछित कार्य करने वाले को दण्डित किया जाता है। दण्ड का यह विधान भी समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। किसी समय में अभद्र व्यवहार करने या नियमों का उल्लंघन करने पर किशोर के कोड़े लगाने की प्रथा थी परन्तु आधुनिक अवधारणा इसके विपरीत है। यह इस बात पर बल देती है कि नैतिकता नियमों या दण्ड से नहीं आती है। वरन् यदि समझाने बुझाने से उसके अन्तर्मन में यह बात बैठ जाती है कि इसके द्वारा किया गया कोई असामाजिक व्यवहार समाज द्वारा बर्दाश्त नहीं किया जाएगा, तो वह अपने में कुछ सुधार ला सकता है।

बुरी आदतों का निर्माण यकायक नहीं होता है और न उन्हें अल्प समय में बदला ही जा सकता है। व्यवहार के अन्य प्रतिमानों की भाँति आचरण में परिवर्तन भी अधिगम के सामान्य नियमों का अनुसरण करता है तथा उसका क्रमिक विकास होता है। माता-पिता बालक के किसी अभद्र, असमायोजित आचरण पर आश्चर्य करते हैं परन्तु यह अचानक ही प्रगट नहीं हुआ होता है। सत्य तो यह कि माता-पिता उसकी उन अनेक आदतों को नहीं समझ पाए, जिनका परिणाम यह व्यवहार रहा।

अनुशासन के प्रभावी होने के लिए निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

1. यह बालक के विगत जीवन के इतिहास के अनुसार किया जाना चाहिए।
2. यह संवेगों पर नहीं अपितु अवबोध पर आधारित रहना चाहिए।
3. जिसको अनुशासित किया जाता है, उसकी समझ में यह आना चाहिए।
4. व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित होना चाहिए, न कि अनुशासित करने वाले से सम्बन्धित। तथा
5. अपराध के तुरन्त बाद अनुशासन दिया जाना चाहिए।

निर्देशन की आवश्यकता

किशोर के निर्देशन से जुड़े हुए व्यक्तियों द्वारा किशोर को दी जाने वाली स्वतंत्रता एवं अधिकार शक्ति के बारे में काफी चर्चा की गई है। अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी वैयक्तिक अन्तर पाए जाते हैं अतः निर्देशन सम्बन्धी कोई नियम या सिद्धान्त नहीं स्थापित किए जा सकते हैं। सामान्यतः सुसमायोजित लड़के-लड़कियों को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए परन्तु कुछ ऐसे भी किशोर पाए जा सकते हैं, जिनका कि समायोजन अच्छा नहीं है, वे अनेक प्रतिबन्धों से जकड़े हैं और जिन्हें स्वतन्त्रता की

आवश्यकता है। क्योंकि उन्हें अभी तक स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं हुई है, दायित्व का भी कोई अवसर नहीं प्राप्त हुआ है, अतः उन्हें जितनी छूट दी जानी चाहिए इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता है। आधुनिक शैक्षिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत किए गए अभिनव प्रयोग बतलाते हैं कि यदि उचित निर्देशन में किशोर को दायित्व एवं स्वतन्त्रता दी जाती है, तो वह सामाजिक एवं व्यक्तिगत समायोजन में उचित वृद्धि प्रदर्शित करता है।

कुसमायोजित किशोरों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें अधिकांशतः स्वेच्छाचारी नियंत्रण में रखा गया है। ऐसे किशोर या तो दब्बू ही बन जाते हैं या विद्रोह की प्रवृत्ति अपनाते हैं। बाल्यावस्था के पश्चात् किशोरावस्था आती है अतः किशोर की कठिनाइयाँ भी विकास के साथ-साथ बढ़ती जाती हैं। अतः सतत निर्देशन की आवश्यकता बनी रहती है। असीमित स्वतन्त्रता या स्वेच्छाचारी नियंत्रण में से कोई भी प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि निर्देशन उचित नहीं है। हमारी सामाजिक व्यवस्था में उचित समायोजन के लिए सामाजिक विकास आवश्यक है। लड़के-लड़कियों को यह समझ लेना चाहिए कि यदि वे अपने समूह की स्वीकृति चाहते हैं, तो उन्हें उसके रीति रिवाजों व परम्पराओं को मानना होगा।

किशोर का नैतिक जीवन

समस्याएँ—किशोर के नैतिक जीवन का अध्ययन करते समय अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ सामने आती हैं। उनमें से मुख्य निम्न हैं—

1. वे वांछित अभिवृत्तियाँ क्या हैं, जिन्हें परिवार, विद्यालय व अन्य अभिकरण किशोरों में पनपाना चाहते हैं।
2. आदतों के वे विशिष्ट प्रतिमान कौन से हैं, जो सम्मिलित रूप से ऐसी अभिवृत्तियों और आदर्शों को उत्पन्न करते हैं।
3. इन विशिष्ट आदतों को किस प्रकार से अर्जित तथा एक सामान्य अभिवृत्ति में समन्वित किया जा सकता है।

जीवन मूल्यों से समायोजन

व्यक्ति के अन्दर कुछ ऐसे विचार एवं भावनाएँ छिपी रहती हैं, जिनका कि उस व्यक्ति के जीवन मे अत्यधिक महत्त्व होता है। यह उसके व्यवहार एवं कार्यों से सम्बन्धित होते हैं। कभ-कभी तो व्यक्ति के घनिष्ठ मित्रों एवं सहयोगियों को भी इसका आभास तक नहीं मिल पाता है। व्यवहार के ये निर्देशक कारक हैं—

(1) स्थापित-मानक, (2) आदर्श, (3) नैतिकता, एवं (4) धर्म।

चाहे इनकी शाब्दिक अभिव्यक्ति नहीं हो, चाहे इन पर अधिक चिन्तन-मनन भी नहीं किया जाए, ये व्यक्ति के निर्माण में सहायक होते हैं। व्यवहार के ये निर्देशक कारक न केवल घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं बल्कि अधिकतर इनमें कोई अन्तर भी नहीं किया जाता है। इनकी शब्दकोष के अनुसार की गई परिभाषा इसकी सत्यता प्रकट करने के लिए पर्याप्त है—

मानक—एक स्वीकृत या स्थापित नियम या मॉडल

आदर्श—पूर्णता का मानक

नैतिकता—सही आचरण से सम्बन्धित सिद्धान्त

धर्म—धार्मिक विश्वासों का अभ्यास

मानक व्यवहार-अर्थ—व्यवहार में उत्तमता की मात्राएँ होती हैं। उनमें से किसी को हम किसी परिस्थिति में आवश्यकता के रूप में चुन लेते हैं। यही आवश्यक गुण मानक बन जाता है। उदाहरण के लिए विद्यालय में नाखूनों की सफाई के लिए मानक है कि वे कटे हुए तथा साफ सुथरे होने चाहिए। इसी प्रकार से हम लोगों ने प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक कार्य के कुछ मानक मापदण्ड निश्चित कर रखे हैं तथा उनके अनुसार व्यवहार करना ही उचित माना जाता है। हमारे विद्यालय भी मध्य वर्ग द्वारा स्थापित इन मानकों को स्वीकार करता है और अपने विद्यार्थियों को उन्ही के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।

आदर्श-अर्थ—आदर्श का अर्थ है हमारे मस्तिष्क की वह तस्वीर, जो कि "सर्वोत्तम स्थिति" का प्रतिनिधित्व करती है तथा हमारी पहुँच से परे नहीं है। हम इसी सर्वोत्तम स्थिति को आदर्श रूप में स्थापित करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह आदर्श व्यक्ति, वस्तु, भवन, व्यवसाय कुछ भी हो सकता है। यह आवश्यक नही है कि हर व्यक्ति सर्वोत्तम स्थिति की धारणा रखे ही।

नैतिकता-अर्थ—अधिकांश व्यवहार द्विमुखी होते हैं—अच्छे या बुरे, उचित या अनुचित। यदि हम अच्छा या उचित व्यवहार प्रदर्शित करते हैं, तो हम नैतिक हैं, अन्यथा नही। अनेक ऐसी स्थितियाँ हैं, जहाँ अच्छे या उचित की धारणा परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन समय के, व्यक्ति के, या समुदाय के अनुसार आता रहता है। परन्तु कुछ ऐसे अच्छे व्यवहार है जो शाश्वत एवं सर्वमान्य हैं जैसे—

1. "अपने माता-पिता का सम्मान करो"
   "चोरी करना पाप है।"
   "किसी के भी विरुद्ध झूठी साक्षी नही दो" आदि।

धर्म-अर्थ—धर्म का अर्थ है जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक अवधारणा, एक ऐसी धारणा जो कि जीवन के कुछ सिद्धातों से जुडी हुई है।

मनुष्य का धर्म एकता के सूत्र में बांधने वाली शक्ति होती है। ससार के सभी बड़े धर्मों के आचार-शास्त्र में समानता व आधारभूत एकता पाई जाती है। व्यक्ति के लिए सभी पवित्रता लिये हुए होते हैं। जीवन की पवित्रता से जुड़ी यह नैतिक भावनाएँ किसी को ठेस नही पहुँचाओ, किसी को भी मारो नही, अंधे के मार्ग मे पत्थर नही डालो, अनाथ या विधवाओं की सहायता करो, आदि सभी धर्मो मे पाई जाती हैं। संसार के सभी बड़े धर्म न्याय, दया, एव प्यार पर बल देते है। वे सभी इस बात पर सहमत है कि हम कटुता से बचें, जीवन के दोषों से दूर रहें, जीवन को तिक्त नही बल्कि मधुर बनाएँ

मानक, आदर्श, नैतिकता एवं धर्म का महत्त्व

व्यक्ति के व्यवहार को मानक, आदर्श, नैतिकता एव धर्म अनेक प्रकार से निर्देशित करते हैं। इनके अनुसार आचरण करने मे न केवल उन्हे प्रसन्नता प्राप्त होती है, अपितु जो लोग इनके ससर्ग मे रहते हैं या आते हैं, या उन्हे भी ये प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी पड़ौसी का सफाई के सबंध मे कोई स्तर नही है तो वह अपना मकान व बाहर का

क्षेत्र गंदा रखेगा, इससे उसके पड़ोसियों एवं उस मार्ग पर चलने वाले, सभी को परेशानी अनुभव होगी। इसी प्रकार यदि किसी शिक्षक के पास अपने छात्रों के विकास हेतु आदर्श नहीं है, तो वह व्यर्थ ही अपने छात्रों का समय नष्ट करेगा। हो सकता है उसका यह व्यवहार उन्हें हानिप्रद भी रहे। यदि किसी सरकार के पास उचित-अनुचित का भेद भाव नही है, तो वह अपने नागरिकों को धोखा देना आरम्भ कर देगी। यदि किसी का मित्र धार्मिक आचरण नही रखता है, वह इस सिद्धांत को नही मानता है कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसाकि तुम उनसे चाहते हो, तो वह कभी भी सच्चे अर्थ मे मित्र कहलाने के योग्य नही रहता।

यदि हम किसी व्यक्ति का ध्यान से निरीक्षण करें, तो उसके व्यवहार से उसके मानक, आदर्श, नैतिकता तथा धर्म की झलक मिल जाती है परन्तु इसके लिए धैर्य तथा निरतर खोजबीन की आवश्यकता है। यदि शिक्षक अपने विद्यार्थियों को सामाजिक दृष्टि से योग्य बनाना चाहते हैं, तो उन्हें अपने विद्यार्थियों के आचरण का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए तथा तदनुसार उनमें स्थापित मानक, आदर्श, मूल्य व धार्मिक व्यवहार उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। विद्यालय के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है।

अतः हम यहाँ देखेंगे कि किशोर के मानक, आदर्श, नैतिक एवं धार्मिक व्यवहार के प्रति शिक्षक या किशोर के कल्याण से संबंधित अन्य लोगों को क्यो चिन्तित होना चाहिए, किशोर इनको कहाँ और किस प्रकार प्राप्त कर सकता है और इनके सुधार में समाज का क्या योगदान हो सकता है।

मानक व्यवहार

किशोर के मानक के सम्बन्ध में प्रौढ़ की चिन्ता

किशोर के मानक व्यवहार के सम्बन्ध में चिन्ता करने के प्रौढ़ के पास अनेक कारण हैं—

1. मानक व्यवहार से व्यक्ति का स्वयं का कल्याण होता है। यदि एक किशोर समाज द्वारा निश्चित मानकों के अनुसार आचरण करता है, तो निश्चय ही उसके सामाजिक संबंध दृढ़ होगे, उनका समायोजन उचित रहेगा तथा उसे सुख की प्राप्ति होगी।

2. उसके व्यवहार में मानकों का क्या स्थान है, इससे हमें उस किशोर को समझने में सहायता मिलेगी। उदाहरण के लिए यदि कोई किशोर किसी से रुपया उधार लेकर लौटाने की परवाह नही करता तो उसका यह निम्न या घटिया मानक व्यवहार हमें उसके व्यक्तित्व की कुछ झलक दे देता है। परन्तु शिक्षक को इन निरीक्षणों के आधार पर निष्कर्ष निकालने मे सावधानी रखनी चाहिए क्योंकि किसी विशिष्ट मानक का अभाव या उसकी उपस्थिति का ज्ञान व्यक्ति के संबंध में हमारे अवबोध को भ्रान्त भी कर सकता है क्योकि कुछ चतुर किशोर अध्यापक के समक्ष भिन्न मानक प्रस्तुत कर सकते हैं और कुछ नासमझ किशोर अध्यापक की उपस्थिति मे भी ज्ञान के अभाव में उन्हें प्रदर्शित कर सकते है। अतः सतही निर्णय लेना उचित नही है।

3 किशोरावस्था में सीखे गए मानक ही जीवन पर्यन्त चलते हैं। अतः यह देखना आवश्यक है कि किशोर के मानक उचित मूल्य रखते हैं तथा उन्हें उचित मानकों के ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

मानक व्यवहार सीखने के साधन

1. परिवार—माता-पिता तथा बड़े भाई बहिनों द्वारा किशोर पर कुछ मानक थोपे जाते हैं और उसे उन्हीं के अनुसार आचरण करना होता है, यथा—सफाई, नींद लेना, भोजन करने के तरीके, आदि।

2 विद्यालय—शिक्षक व साथियों के प्रति खेल के मैदान में तथा कक्षा-कक्ष में व्यवहार आदि।

3. समकक्ष समूह—समूह के अनुरूप आचरण की किशोर को बड़ी ही आवश्यकता अनुभव होती है, परन्तु ये आचरण उसके जीवन पर साधारणतः कोई विशेष प्रभाव नहीं डालते।

4. अन्य प्रौढ़, सिनेमा, टी. वी., समाचार पत्र, विज्ञापन सभी अपने अपने ढंग से किशोर को प्रभावित करते रहते हैं।

सुधार

किशोर के साथ रहने व कार्य करने वालों के मानक व्यवहार के संबंध में सुलझे हुए विचार होने चाहिए। उनके तरीके भी उपदेशात्मक या डाँटने फटकारने वाले नहीं होने चाहिए क्योंकि इन विधियों से किशोर परेशान हो जाता है, खीझ उठता है तथा मानक स्वीकार नही करने हेतु विद्रोह कर देता है; इस प्रकार पूरा सामाजिक वातावरण दूषित हो जाता है। अतः शिक्षक को इन मानकों को पनपाने के लिए निम्न कार्य करने चाहिए—

1. वह स्वयं अपने कार्यों एवं व्यवहार में उन मानकों को स्थापित करे जो कि वह विद्यार्थी में देखना चाहता है। उदाहरणार्थ यदि कोई शिक्षक बिना कुछ कहे स्वयं साफ-सुथरा रहता है तथा विनम्र व्यवहार करता है, तो उसे देखकर धीरे-धीरे विद्यार्थियों में भी परिवर्तन आ ही जाएगा।

2 कक्षा मे समूह-चर्चा एवं तर्क द्वारा समझाएँ।

3. कक्षा के उन विद्यार्थियों से मधुर संबंध रखें, जो नेता हैं तथा उन्हें साथ लेकर कार्य करें।

आदर्श तथा मूल्य

आदर्श तथा मूल्यों को पृथक् करना उचित नहीं है। आदर्श पूर्णता का मानक है। मूल्य भी वही हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं, अर्थात् वह पूर्ण जिसका कि महत्त्व है। जैसा कि अर्थ से ही स्पष्ट है आदर्श एवं मूल्य जीवन के विभिन्न अंग हैं क्योंकि ये वे सिद्धांत हैं जो संख्या में अल्प होते हुए भी स्थिरता एवं दिशा निर्देश देते हैं।

आदर्श व मूल्य हमेशा अच्छे ही हों, यह आवश्यक नहीं है। कोई भी अपने लिए बुरे आदर्श व थोथे मूल्य भी स्थापित कर सकता है। यह आदर्श एवं मूल्य उसके स्वयं के विकास, मित्रता, व्यवसाय या परिवार किसी के लिए भी हो सकते हैं। यह सत्य पर आधारित भी हो सकते हैं, या काल्पनिक भी। यह पहुँच के अन्दर भी हो सकते है या पहुँच के बाहर।

वर्तमान समाज मे आदर्शवादी प्रौढ़ ढूंढना कठिन है क्योंकि हमारे समाज में दिखावा व छल का बोलबाला है। किशोर मुख्य रूप से आदर्शवादी होता है क्योंकि वह अभी

प्रौढ समाज में कदम रखने की तैयारी ही कर रहा है। अतः उसकी यह हार्दिक इच्छा रहती है कि, वह एक पूर्ण व्यक्ति बने परन्तु वह साथ ही साथ यथार्थ से भी परे होता है। वह यह भूल जाता है कि जो वास्तव में है और जिसका वह स्वप्न ले रहा है, उसमें बड़ा भेद है। अभी उसे इस बात का भी अनुभव नहीं है कि अच्छा बनने के लिए पूर्णता की आवश्यकता नहीं है। परिणाम स्वरूप वह असंभव की चाहना करने लगता है और जब वह उसे प्राप्त नहीं होता है, तो अकारण ही निराशा भोगता है।

आदर्शों का विकास व्यवस्थित ढंग से, चाहनाओं के अनुसार बहुत कम होता है। ये तो अनायास ही जीवन में आजाते हैं। वे कितने समय तक बने रहेंगे, किस प्रकार के होंगे, क्या होंगे आदि बातें संयोग पर निर्भर करती हैं। कभी कभी ये अनुभवों पर आधारित होते हैं, तो कभी कोई व्यक्ति एक आदर्श इस प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है कि सुनने वाले बिना किसी हिचकिचाहट के उसे तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। यह बात विशेष रूप से किशोरों के सम्बन्ध में सत्य है। किसी पुस्तक के अध्ययन से प्रेरणा प्राप्त कर या किसी प्रभावशाली व्यक्ति का भाषण सुनकर या किसी बहु प्रशंसित एवं बहुचर्चित व्यक्ति के सम्पर्क में आकर वे अपने आदर्श निश्चित कर लेते हैं और फिर इसी प्रकार के अन्य प्रभाव में आकर उन्हें बदल भी डालते हैं।

समाज को ऐसे प्रौढ़ों की आवश्यकता है, जो आदर्शवादी हो और ऐसे किशोरों की आवश्यकता है, जिनके आदर्शों का वास्तविकता से उचित समंजन हो।

आदर्श सहायक रूप में

आदर्श एवं मूल्य किशोर के जीवन में निम्न प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकते हैं—

1. मानक व्यवहार स्थापित करते हैं,
2. प्रेरक तत्व का कार्य करते है,
3. विश्वास भरते है,
4. सामाजिक एवं वैयक्तिक उन्नति के लिए दिशा निश्चित करते है,
5. एकता की ओर प्रेरित करते हैं।

यह आदर्श एक "आदर्श स्व" का निर्माण करते है। अपने विभिन्न अनुभवों के आधार पर किशोर स्वयं के लिए कुछ आदर्श स्थापित करता है, जो कि वह माता-पिता, शिक्षक, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, पुस्तकों के नायकों आदि से ग्रहण करता है। यह स्व उसके व्यवहारों को प्रभावित करता है। इसी प्रकार वह आदर्श मित्र, आदर्श व्यवसाय, आदर्श विवाह संबंध आदि की कल्पना करता है और फिर उसी के अनुसार कार्य करता है।

किशोर के लिए वांछित आदर्श एवं मूल्य

जैसा कि पहले बताया जा चुका है आदर्श अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी। ये व्यक्ति के जीवन पर अच्छा प्रभाव भी डाल सकते हैं या बुरा भी या किसी भी प्रकार का नही। यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि वह क्या बनना चाहेगा और उसका उत्तर है, "मैं गोपाल की तरह बनना चाहता हूँ क्योंकि उसके पास जेब खर्च के लिए पर्याप्त धन राशि है, वह मित्रों से घिरा रहता है, बहुत सा समय मनोरंजन में व्यतीत करता है, कार ड्राइव करता है आदि", तो उसका यह आदर्श किसी भी रूप में उसे अच्छा व्यक्ति बनने में सहायता नहीं देगा। अतः यह प्रौढ़ का दायित्व है कि वह आदर्श या मूल्य स्थापित करने

को केवल किशोर का ही कार्य समझकर उस ओर उदासीनता नहीं दिखायें। अच्छे आदर्श स्थापित करना एवं प्राप्त करना एक कौशल है। आदर्शों के निर्माण में कल्पना एवं तर्क शक्ति की आवश्यकता होती है तथा उनको प्राप्त करने के लिए साहस, धैर्य, विश्वास एवं दूरदृष्टि की आवश्यकता होती है। अतः किशोर क्या आदर्श स्थापित करता है, इस दिशा में हमें सतर्क रहना चाहिए। हम इस दिशा में प्रयत्नशील बनें कि किशोर को अच्छे आदर्शों का महत्त्व समझाएँ, उनके सम्मुख अच्छे आदर्श प्रस्तुत करें, वे आदर्श वास्तविकता या यथार्थ पर आधारित हों और विपरीत परिस्थितियों में भी वे इन आदर्शों को त्यागें नहीं। शिक्षक को यह ज्ञान होना चाहिए कि निम्न क्षेत्रों में किशोर के आदर्शों का क्या स्वरूप होना चाहिए—

1. स्वयं के लिए,
2. मित्रों के लिए,
3. मानव सम्बन्धों एवं जीवन के लिए,
4. विवाह के लिए, तथा
5. सरकार के लिए।

आदर्शों को विकसित करना

शिक्षक के सम्मुख यह महत्त्वपूर्ण चुनौती है, (1) कि वह किशोर के लिए अच्छे आदर्शों का निर्माण व क्रियान्वयन करे तथा (2) इस बात का ध्यान रखे कि किशोर आदर्श व यथार्थ के अन्तर को समझता है। पहले कार्य के लिए अध्यापक को चाहिए कि वह किशोर के सम्मुख आदर्श को प्रस्तुत करे तथा उसे इस प्रकार से आकर्षक बनाए कि किशोर उसे स्वीकार कर ले। दूसरे कार्य के लिए वह किशोर के सम्मुख उन कठिनाइयों को प्रस्तुत करे, जो कि उस आदर्श प्राप्ति के मार्ग मे आ सकती हैं। दुनियाँ का यथार्थ क्या है—उसे इसका परिचय होना चाहिए और साथ ही यह आशा भी, कि उसमें सुधार लाया जा सकता है। शिक्षक उसे उन महान् आदर्श पुरुषों के जीवन का परिचय दे जिन्होने मानव कल्याण हेतु अनेक कष्ट सहे तथा अन्त मे विजय प्राप्त की। उसको यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझा दें कि वर्तमान के यथार्थ में रहते हुए उसे आदर्श-प्राप्ति की दिशा में प्रयत्न करने हैं ताकि आदर्श और यथार्थ के मध्य की खाई पट सके। अन्यथा किशोर भ्रमित होकर सन्देहवादी हो जाएँगे तथा अपने जीवन को निरर्थक कर देंगे।

विद्यालय इन आदर्शों की प्राप्ति हेतु निम्न विधियाँ अपना सकता है—

1. आदर्श स्थापित करके,
2. अनुभव देकर,
3 प्रत्यक्ष प्रेरणा द्वारा,
4 विचार-विमर्श द्वारा,
5. प्रचार द्वारा,
6. पुस्तक, सिनेमा, टी० वी० द्वारा।

नैतिकता

नैतिकता का अर्थ है, ऐसे कार्य करना, जो कि स्वयं के साथ दूसरों के लिए कल्याणकारी हो। यदि कार्य दूसरों के अधिकारो को नही छीनते और कल्याण करते है,

तो नैतिक है और वे दूसरों को हानिकारक है, तो अच्छे नहीं हैं, अनैतिक है।[1] साधारणतया नैतिकता का अर्थ यौन-सम्बन्धों से लिया जाता है परन्तु वास्तव में यह उससे कहीं बड़ी होती है। यदि किसी का व्यवहार नैतिक है, तो यह अच्छा है; वह किसी को हानि नहीं पहुँचाता है। तात्पर्य यह है कि यदि संसार का प्रत्येक व्यक्ति नैतिकता रखे, तो यह संसार एवं जीवन हमारे लिए अच्छा बन जाएगा। संसार वास्तव में रहने योग्य स्थान बन जाएगा जहाँ हम सब मानव कल्याण के लिए कार्य कर सकेंगे। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली यह कि किशोर समाज द्वारा निर्मित आचरण संहिता को स्वीकार करें। दूसरा आवश्यकता पड़ने पर परिस्थितियों के अनुसार, जहाँ सामाजिक आचरण संहिता से कार्य नहीं कर सकें, अपने विवेक से मार्ग चयन कर सकें क्योंकि सामाजिक आचरण संहिता द्रुत गति से होने वाले परिवर्तनों पर तुरन्त ध्यान नहीं दे सकने के कारण एकदम उनमें परिवर्तन नहीं ला सकती हैं। उन्नति परम्परागत प्रथाओं द्वारा निर्देशित होने में नहीं है बल्कि यह तो परम्परागत कार्य प्रणाली के संशोधन में निहित है।

नैतिकता के सम्बन्ध में किशोर की धारणा

यौवनारंभ की आयु में किशोर को अनेक पुरानी आदतों को त्यागना पड़ता है तथा नई आदतों को अपनाना पड़ता है। इस अवधि में अपने आवयविक परिवर्तनों के कारण उसे हताशाओं, कुंठाओं एवं द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है अतः उन बाधाओं को पार करने के लिए उसके व्यवहार में छद्म आने लगता है। 12 से 15 वर्ष की आयु के किशोरों में प्रौढ़ नैतिकता के विरुद्ध खीझ एवं क्रोध आता है; वह इससे विद्रोह करने लगता है। अतः विकास के साथ-साथ नैतिक व्यवहार में कमी आती जाती है और अभिवृत्तियों में वृद्धि होती है। इसका कारण वृद्धि एवं विकास के साथ जुड़ा छल है।

किशोर के नैतिक द्वन्द्व

अधिकांश किशोरों को निम्न तीन क्षेत्रों में नैतिक निर्णय लेने होते है—

1. विपरीत लिंग से सम्बन्ध—स्त्री पुरुष के लिए भिन्न नैतिकताएँ,
2. धूम्रपान एवं मद्यपान,
3. ईमानदारी व कानून को मानना।

अतः किशोर तनावों से मुक्त नहीं होता। अनेक क्षेत्रों में उसे अपने निर्णय स्वयं लेने होते हैं।

नैतिकता के स्रोत

नैतिकता के क्षेत्र में हैविगहर्स्ट एवं टावा[2] ने विशेष अध्ययन किया है। उनके अनुसार इसके निम्न छह स्रोत हैं—

1. महत्वाकांक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता,
2. व्यक्तिगत स्नेह प्राप्ति,
3. आप्त की अधीनता,
4. संवेग,

---

1. अर्नेस्ट जे० चेव, 'पर्सनेलिटी डवलपमेंट इन चिल्ड्रेन", शिकागो, 1937 पृ० 202-203.
2. हैविगहर्स्ट एण्ड टावा, "एडोलेसेन्ट कैरेक्टर एण्ड पर्सनेलिटी" जोन विलि एण्ड सन्स, 1949.

5. नकारात्मक दृष्टिकोण,
6. तार्किकता ।

नैतिकता सीखना—किशोर समूह द्वारा समर्थित आचरण करना सीखता है। यह अधिगम तीन प्रकार से होता है—(1) पुरस्कार व दंड द्वारा, (2) अनुकरण द्वारा तथा (3) चिन्तन द्वारा—वह स्वीकृत सिद्धान्तों को भविष्य में आने वाली परिस्थितियों में ढालता है।

नैतिकता का विकास

बाल्यावस्था में व्यक्ति न तो नैतिक होता है और न अनैतिक ही; वह कुछ सीमा तक नैतिकता विहीन होता है। जो कुछ भी वह प्रौढ़ से सीखता है वही दोहरा देता है। किशोरावस्था के लिए यह सत्य नहीं है क्योंकि अब आदतन नैतिकता की अवधि समाप्त हो चुकी होती है। अब उसके कार्य एवं व्यवहार विशेष परिस्थितियों में उसके आदर्शों के एवं जीवन मूल्यों के अनुसार लिए गए निर्णयों के अनुसार होते है। सोलह वर्ष की आयु में पहुँचते-पहुँचते उनमें जीवन की द्वन्द्वात्मक स्थितियों में नैतिक विश्वासों के अनुसार निर्णय लेने की क्षमता कुछ-कुछ विकसित होने लगती है। यदि इस आयु में शिक्षक, विद्यालय, अभिभावक आदि उनमें नैतिकता के विकास हेतु प्रयत्न नहीं करते हैं तो किशोर ऐसे प्रौढ़ों में विकसित होते रहेंगे जो कभी भी नैतिक चयन नहीं कर पाएँगे। चरित्र-शिक्षा का यही मूल है। इसके महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। प्रत्येक शिक्षक को इसकी ओर ध्यान देना चाहिए अन्यथा वह अच्छा शिक्षक नहीं कहला सकता।

प्रश्न उठता है कि नैतिकता के विकास के लिए शिक्षक क्या करे। उसे निम्न दिशा में कार्य करना चाहिए—

1. शिक्षक को उन क्षेत्रों का ज्ञान होना चाहिए, जहाँ चयन करते समय नैतिकता कार्य करती है। छोटी-छोटी बातों में भी त्रुटिपूर्ण चयन किशोर की मानसिकता को प्रभावित करेगी तथा फिर वह बड़े क्षेत्रों में भी नैतिक, अनैतिक की परवाह नहीं करेगा। यद्यपि वह छोटा क्षेत्र कूड़ा कचरा-पात्र मे डालने का हो या दूसरे के टिफिन में से भोजन करने का है।
2. प्रत्येक नैतिक चयन तर्क पर आधारित होना चाहिए। केवल शिक्षक के कह देने मात्र से कि यह करो या वह नहीं करो, किशोर सन्तुष्ट नहीं होता।
3. शिक्षक सिखाए कि किशोर को निर्णय लेते समय दूसरों का ध्यान भी रखना चाहिए।
4. शिक्षक अपने विद्यार्थियों के मन मे यह छाप जमाए कि नैतिकता एवं नैतिक साहस आकर्षक एवं प्रशंसनीय गुण हैं। वह अच्छे बच्चों की हमेशा प्रशंसा करे तथा उन्हें प्रोत्साहन दे।
5. अध्यापक विद्यार्थियों को ऐसे अवसर प्रदान करे जहाँ कि उन्हे नैतिक चयन की आवश्यकता पड़े।

धर्म एवं आचार शास्त्र

अधिकांश किशोर किसी न किसी प्रकार के धर्म को मानते है। उनमे से अधिसंख्यक लोग प्राय. नियमित रूप मे मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर जाते हैं। लगभग सब के सब

दृढ़तापूर्वक कहते हैं—उन्हें ईश्वर में विश्वास है। अपने शैशव-काल से ही उन्हें जो नैतिक प्रशिक्षण मिला है उसमें धार्मिक संप्रत्यय गहरे गड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त वे जो महान् साहित्य पढ़ते हैं, उसमें अनेकानेक स्थलों पर धर्म की भाषा उन्हें दृष्टिगत होती है।

धर्म से तात्पर्य

जैसा हम प्रतिदिन देखते हैं—धर्म घोषित विश्वासों, अभिवृत्तियों और व्यवहारों की एक पद्धति है, जो साधारणतः किसी पूजा-स्थल के चारों ओर केंद्रित है।

विकासात्मक प्रवृत्तियाँ और सांस्कृतिक अपेक्षाएँ

अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में किशोरावस्था विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण काल मानी जाती है। विविध अनुष्ठानों और परम्पराओं में किशोरावस्था में धर्म के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। कुछ धार्मिक समूहों ने किशोर अवस्था को "जागरण" (awakening) का काल माना है, जब दूसरों से ली गई आस्था निजी सम्पत्ति बन जाती है। कुछ धार्मिक समूहों मे यह माना जाता है कि किशोरावस्था एक ऐसी अवस्था है, जब व्यक्ति धार्मिक परिवर्तन के लिए परिपक्व हो जाता है या बाल्यावस्था की तुलना में कहीं अधिक जोशपूर्ण निश्चयात्मकता के साथ वह धर्म में निविष्ट हो सकता है। जैसा कि लोग अच्छी तरह जानते हैं, अनेक समूहों में दृढीकरण-संस्कार (practice of confirmation) की अथवा अन्य रूपों में प्रौढोचित धार्मिक सुविधाओं, व्यवहारों तथा कर्तव्यों की दीक्षा ग्रहण करने की प्रथा प्रचलित है, उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म में उपनयन संस्कार।

विकास की सामान्य प्रवृत्तियों के बारे में हम जो कुछ जानते है, उससे हम आशा कर सकते हैं कि व्यक्ति किशोर-काल में अपने विश्वासों पर चिंतन करने और धर्म मे अधिक गहराई से अपने को ले जाने मे समर्थ हो सकेगा परन्तु, इसका यह आशय नही है कि किशोर सचमुच बाल्यावस्था की तुलना में धर्म का अधिक गहन दृष्टिकोण विकसित कर लेगा या धर्म मे अधिक गहराई से तल्लीन हो जाएगा। धर्म किशोर को जीवन के प्रति विश्वास एवं सुरक्षा की भावना प्रदान करता है।

धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों का प्रचलन

अनेक अध्ययनों से यह प्रकट होता है कि हाई स्कूल और प्रारम्भिक कालेज आयु का सामान्य किशोर धार्मिक होता है और कम से कम उस सीमा तक कि वह अनेक धार्मिक विश्वासों को अंगीकार करता है तथा धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेता है।

विभिन्न जन-समुदायों में तरुणों के ईश्वर में विश्वास व्यक्त करने का प्रतिशत कुछ भिन्न-भिन्न पाया गया है पर विविध प्रतिचयित समूहों में लगभग 90 प्रतिशत या उससे भी अधिक ने ईश्वर में किसी न किसी प्रकार का विश्वास प्रकट किया है।

किशोर की धार्मिक अभिवृत्तियों पर बाल्यावस्था के अनुभवों का प्रभाव

दूसरे क्षेत्रों की भाँति प्रायः धार्मिक क्षेत्र में भी हम देखते है कि तरुण की विकासोन्मुख धारणाओं (developing convictions) और अभिवृत्तियों, की इमारत पूर्वार्जित सीख और स्वीकृतियों की नींव पर खड़ी होती हैं। किशोरावस्था प्राप्त कर लेने तक तरुण के सम्पूर्ण व्यक्ति और शिक्षा का उल्लेखनीय प्रभाव किशोर-काल मे उसके धार्मिक अभिविन्यास (religious orientation) पर पड़ता है।

धर्म के प्रमुख रूप में वर्णित प्रेम के अर्थ को स्पष्टतः समझने के लिए तरुण को स्नेही जनों के साथ अपने निजी अनुभवों का सहारा लेना होगा। उसी तरह आस्था (faith) का संप्रत्यय (concept) क्या है, इसका अनुभव करने के लिए तरुण को अपने प्रारम्भिक विकास और लालन-पालन के क्रम में प्रतिष्ठापित विश्वास और आस्था की नींव पर खड़ा होना होगा।

धार्मिक शिक्षा

वर्तमान शिक्षा पद्धति में धार्मिक शिक्षा की भूमिका निम्न कारणों से महत्त्वपूर्ण है—

1. आध्यात्मिक मूल्यों की बढ़ती हुई महत्ता एवं धर्म की इन मूल्यों के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका;
2. शिक्षा से धर्म को किस प्रकार व क्यों जोड़ा जाये इस सम्बन्ध में अनेकों भ्रम हैं। इनके उत्तर में वॉन ह्यूसेन[1] का कथन पर्याप्त है—धर्म का सम्बन्ध सभी सारतत्त्वों, सार्वभौमिकता तथा मानव अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण मुद्दों यथा जन्म, प्यार, पितृत्व एवं मृत्यु से शाश्वत-काल से रहा है। इसकी उत्पत्ति, प्रकृति अर्थ और उद्देश्य, इसका भाग्य, विशेष रूप से घटनाएँ, जिनसे व्यक्ति कभी बच ही नहीं सकता—सबका उत्तर धर्म से जुड़ा है। अतः वह धर्म, जो जीवन का एक अभिन्न अंग है, उसके ज्ञान से व्यक्ति को वंचित रखना उचित नहीं। इसीलिए धार्मिक शिक्षा का महत्त्व है।

सारांश

समय इस बात का साक्षी है कि किसी भी युग में प्रौढ़ युवाओं के स्वतन्त्र विचारक बनने के पक्षधर नहीं रहे। किशोर में चिन्तन की भावना उठते ही वे उसे अवज्ञाकारी व अनुशासनहीन घोषित कर देते हैं। युवक अवज्ञा के निम्न कारण हैं—

1. लोक प्रथाओं एवं संस्थानों के प्रति वह क्या अभिवृत्ति रखता है। यह उसके सामाजिक ढाँचे से प्रभावित रहता है।
2. प्रथाओं में, विशेष रूप से काम-सम्बन्धी प्रथाओं में युवा पीढ़ी द्वारा निरन्तर संशोधन होता रहता है।

युवक अवज्ञा की रोक-थाम के लिए काम में लाए जाने वाले अनुशासन एवं व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहता है। इसको प्रभावी बनाने के लिए किशोर के विगत जीवन का अध्ययन आवश्यक है। उसी के अनुसार किशोर को निर्देशन दिया जाना चाहिए।

किशोर द्वारा नैतिक जीवन-यापन का अध्ययन करने के मार्ग में अनेक समस्याएँ आती हैं। उनमें मुख्य हैं वांछित अभिवृत्तियों और आदतों को समझना तथा उनका समन्वय करना।

जीवन मूल्यों से समायोजन में व्यवहार के चार निर्देशकों का महत्त्वपूर्ण हाथ है। ये चार निर्देशक हैं—स्थापित मानक, आदर्श, नैतिकता एवं धर्म। व्यवहार में उत्तमता को मानक कहते हैं। व्यक्ति अपने समाज द्वारा स्थापित मानकों के अनुसार कार्य करना चाहता है। सर्वोत्तम स्थिति आदर्श कहलाती है। अच्छे व्यवहार का करना ही नैतिकता है।

1. ह्यूसेन एच. पी. वान, "व्हॉट शुड बी द रिलेशन आफ रिलीजन एण्ड पब्लिक एड्यूकेशन ?" "टीचर्स कॉलेज रिकार्ड, 1954 अंक 56, पृ० 3-4.

नैतिकता भी मानक व्यवहार व आदर्श की भाँति बदलती रहती है, पर कुछ नैतिक व्यवहार शाश्वत भी है। धर्म एक आध्यात्मिक अवधारणा है जो जीवन को कुछ सिद्धान्तों में बाँधती है।

मानक, आदर्श, नैतिकता एवं धर्म का व्यक्ति के जीवन में बहुत महत्त्व है। ये व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार को निर्देशित करते हैं। इसीलिए प्रौढ़ इस बात के लिए चिन्तित रहते हैं कि किशोर इनको प्राप्त करे, क्योंकि किशोरावस्था मे सीखे गए ये व्यवहार ही जीवन-पर्यन्त चलते हैं।

यदि किशोर समाज-स्वीकृत मानकों के अनुसार कार्य करता है तो उसका समायोजन उचित रहेगा, उसे सुख शान्ति प्राप्त होगी। ये मानक व्यवहार व परिवार, विद्यालय, समकक्ष समूह, प्रौढ़, टी. वी., सिनेमा, समाचार पत्र, विज्ञापन आदि द्वारा सीखता है। अतः प्रौढ़ का यह कर्त्तव्य है कि वह इन समस्त साधनों मे उचित व्यवहार के मानक प्रस्तुत करे।

आदर्श एवं मूल्य जीवन के अभिन्न अंग हैं। ये सत्य भी हो सकते हैं, काल्पनिक भी। ये व्यक्ति को प्राप्त भी हो सकते हैं, अप्राप्य भी। किशोर पूर्ण व्यक्ति बनने की चाह रखता है, वह आदर्शवादी होता है—इस कारण उसे निराशा ही मिलती है। कुछ बुद्धिमान किशोर परिस्थितियों के अनुसार आदर्शों को बदल भी डालते हैं। कुछ भी हो आदर्श किशोर के जीवन में सहायक रहते है तथा एक "आदर्श स्व" का निर्माण करते हैं। प्रौढो का यह कर्त्तव्य है कि वे किशोर के लिए अच्छे आदर्श एवं मूल्यों की स्थापना मे सहयोग करें।

नैतिकता का अर्थ है कल्याणकारी कार्य करना। यौवनारम्भ के साथ ही किशोर द्वन्द्वों से भर जाता है तथा उसके व्यवहार मे छद्म आता है। किशोर के ये नैतिक द्वन्द्व काम भावना, मद्यपान, धूम्रपान, ईमानदारी, कानून को मानना आदि से सम्बन्धित होते हैं। नैतिकता पुरस्कार व दंड द्वारा सिखाई जाती है, अनुकरण द्वारा सीखी जाती है तथा चिन्तन द्वारा उसका उपयोग किया जाता है। नैतिकता बाल्यकाल से विकसित होनी आरंभ होती है।

धार्मिक संप्रत्यय शैशवकाल से ही व्यक्ति के साथ जुड़ जाते हैं। धर्म घोषित विश्वासों, अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों की एक पद्धति है जिसका केन्द्र कोई पूजास्थल होता है। धर्म किशोर को जीवन के प्रति विश्वास एवं सुरक्षा की भावना से भर देता है। लगभग सभी संस्कृतियो में किशोर के धार्मिक संस्कारों के दृढ़ीकरण की प्रथा है। किशोर की धार्मिक अभिवृत्तियों पर उसके बाल्यावस्था के अनुभवों का प्रभाव पड़ता है। धर्म जीवन का अभिन्न अंग है। अतः किशोर को धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य है।

□□□

अध्याय 10

किशोर व्यक्तित्व

व्यक्तित्व की परिभाषा एवं विशेषताएँ

किशोर व्यक्तित्व से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किशोरावस्था एक पृथक् "स्व" (self) निर्मित करती है तथा यह "स्व" उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों से एक दम भिन्न है। इस अध्याय का शीर्षक "किशोर व्यक्तित्व" रखने का आशय यही है कि किशोरावस्था में व्यक्तित्व कैसा रहता है; कौनसे वे घटक हैं जो व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं, तथा किशोरावस्था की विशिष्ट आवश्यकताएँ क्या हैं; इन सब का विस्तृत वर्णन करने के पूर्व व्यक्तित्व की परिभाषा एवं विशेषताएँ जानना आवश्यक है।

व्युत्पत्ति—व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी के पर्सनेलिटी (personality) शब्द का पर्याय है। पर्सनेलिटी शब्द लेटिन शब्द "पर्सोना" (persona) से लिया गया है। पर्सोना का तात्पर्य है वेश बदलने के लिए प्रयोग किया गया आवरण। इसका प्रयोग प्राचीन नाटकों में किया जाता था। आरम्भ में पर्सोना शब्द का अर्थ बाह्य आवरण के रूप में किया जाता था परन्तु रोमन काल में विशेष गुणयुक्त पात्र को ही पर्सोना कहा जाने लगा। मनोविज्ञान में पर्सनेलिटी के अर्थ के रूप में यह दूसरा अर्थ ही लिया जाता है। जनसाधारण में व्यक्तित्व का अर्थ बाह्य गुण, रूप, वेश-भूषा, उठने-बैठने के तरीके आदि से लिया जाता है परन्तु मनोविज्ञान में व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के आन्तरिक गुणों से सम्बद्ध है।

परिभाषा—मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को अनेक ढंग से परिभाषित किया है। मन के शब्दों में—"व्यक्तित्व की परिभाषा किसी व्यक्ति के शरीर-संरचना व्यवहार के रूपों, रुचियों, साधनों, योग्यताओं और अभिरुचियों के सर्वाधिक लाक्षणिक संकलन के रूप में की जा सकती है।"[1]

गोर्डन ऑलपोर्ट ने 50 परिभाषाओं का विश्लेषण एवं व्याख्या करने के पश्चात् अपनी मौलिक व अनूठी परिभाषा दी, जो आज तक सर्वमान्य है।

"व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोशारीरिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है, जो कि पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।"[2]

---

1. मन, एन. एल. "साइकोलोजी" लन्दन, पृ० 569.
2. Allport, G. W., p. 48—"Personality is the dynamic organisation within the individual of those psycho-physical systems that determine his unique adjustment to his environment."

आलपोर्ट की इस परिभाषा में व्यक्तित्व के उन लक्षणों की ओर संकेत किया गया है, जिनके बिना इसका अध्ययन अधूरा होता है। ऑलपोर्ट के अनुसार व्यक्तित्व का गठन गत्यात्मक है। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व सम्बन्धी जितने घटक, चाहे वे शारीरिक हों अथवा मानसिक उन सबका गठन इस प्रकार होता है कि वे निरन्तर गतिशील रहते हैं। व्यक्तित्व के घटकों की इसी गत्यात्मकता के कारण व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की अनन्यता पाई जाती है और यह अनन्यता उस समय स्पष्ट दिखाई पड़ती है, जबकि व्यक्ति विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों मे समायोजन का प्रयास करता है।

व्यक्तित्व और समायोजन के सन्दर्भ में आलपोर्ट का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्तित्व को एक निष्क्रिय वस्तु नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि परिस्थितियाँ व्यक्तित्व पर पूर्णतः अधिकार नहीं कर सकती। किसी व्यक्तित्व में यह भी क्षमता पाई जाती है कि वह परिस्थितियों मे परिवर्तन ला दे और उन्हें अपने अनुकूल बना ले। प्रायः यह देखा गया है कि कुछ लोग जब व्यक्तित्व समायोजन की बात करते है, तब वे परिस्थितियों को प्रधानता दे देते हैं और व्यक्तित्व को उस एक मिट्टी के लौदे की तरह मान लेते हैं, जो कि परिस्थितियों के दबाव में आकर भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता रहता है।

व्यक्तित्व के निर्धारक (Determinants of personality)—व्यक्तित्व के दो निर्धारक तत्व हैं—

1. जैविक निर्धारक (biological determinants)
2. पर्यावरण सम्बन्धी निर्धारक (environmental determinants)

जैविक निर्धारकों मे आनुवंशिकता (heredity) तथा ग्रन्थियाँ (glands) मुख्य है। जिस प्रकार व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक विकास आनुवंशिकता तथा पर्यावरण प्रभावित से होता है, उसी प्रकार व्यक्तित्व का निर्धारण भी आनुवंशिकता तथा पर्यावरण से होता है। जन्म से व्यक्ति कुछ विशेष प्रकार की क्षमताएँ लेकर संसार में आता है। फिर पर्यावरण के घटकों के द्वारा इन जन्मजात क्षमताओं का यथा सम्भव विकास होता है।

आनुवंशिकता से व्यक्ति की जो क्षमताएँ प्राप्त होती है, उनका स्वरूप एवं विकास व्यक्तित्व के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। व्यक्तित्व के जैविक निर्धारकों में इसी कारण आनुवंशिकता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आनुवंशिकता किस प्रकार व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करती है, इसका अध्ययन जुड़वाँ बच्चों (twins) के आधार पर किया गया है। होलजिंगर (H. Holzinger) ने सन् 1929 में समरूप यमज (identical twins) और भ्रातृक यमज (fraternal twins) के व्यक्तित्व-अन्तर का अध्ययन किया था। उन्होंने दोनों के शरीरों को मापा तथा पाया कि शारीरिक बनावट की दृष्टि से समरूप यमज एवं भ्रातृक यमज में अधिक अन्तर था, "परन्तु भावुकता, मानसिक आयु आदि में अन्तर बहुत कम था। इससे यह निष्कर्ष निकला कि व्यक्तित्व पर पर्यावरण का प्रभाव अधिक पड़ता है।

व्यक्तित्व के जैविक निर्धारकों का प्रभाव व्यक्ति की शारीरिक बनावट में भी लक्षित होता है। क्रेत्समर तथा शेल्डन (Kretschmer and Sheldon) ने शरीर की बनावट के अनुसार मनुष्य को तीन वर्गों में बाटा है—

1. इन्डोमार्फ या गोलाकार (endomorph)

2. मेसोमार्फ या आयताकार (mesomorph)
3. एक्टोमार्फ या लम्बाकार (ectomorph)

व्यक्तित्व का विकास एन्डोक्राइन ग्रन्थियों (Endocrine glands) से अत्यधिक प्रभावित होता है। मुख्य ग्रन्थियाँ हैं—थाइराइड(thyroid) एवं पिट्यूटरी (pitutary) इन ग्रन्थियो से बनने वाले रस शारीरिक बनावट एवं स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

व्यक्तित्व के पर्यावरण सम्बन्धी निर्धारक तत्त्व प्राय. तीन माने जाते हैं—
1. प्राकृतिक (Natural)
2. सांस्कृतिक (Cultural) एवं
3. सामाजिक (Social)—परिवार, विद्यालय, समुदाय आदि।

व्यक्ति प्राकृतिक पर्यावरण मे रहता है। उसके जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों एवं जलवायु आदि का प्रभाव पडता है। प्राकृतिक पर्यावरण संस्कृति को भी प्रभावित करता है, जो कि व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति हेतु वह कार्य और व्यवहार करता है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करे या कार्य और व्यवहार किस प्रकार करे, यह उसके समाज और संस्कृति पर निर्भर करता है।

समाज का भी व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति, माता-पिता के परस्पर सम्बन्ध, परिवार में बालक का क्रम, परिवार का शान्त या अशान्त वातावरण, सभी किशोर व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार किस प्रकार के विद्यालय मे वह शिक्षा प्राप्त करता है, वहाँ के शिक्षक प्राप्त करता है, वहाँ के शिक्षक कैसे हैं, उसकी कक्षा के साथी किस प्रकार के हैं, यह सब व्यक्तित्व के निर्धारक हैं।

व्यक्तित्व का गठन (Organisation of personality)

व्यक्तित्व का गठन बहुत कुछ व्यक्ति में "स्व" के विकास से सम्बन्धित है। व्यक्ति अपने स्वरूप का आत्म-परिचय कब और कैसे प्राप्त करता है, यह उसके व्यक्तित्व के गठन का मुख्य भाग है। व्यक्तित्व का गठन और व्यक्तित्व की समग्रता (integration) प्रायः एक दूसरे के पर्याय हैं। इनके मूल मे वे अन्तर्नोद, अभिप्रेरक, गत्यात्मक प्रवृत्तियाँ आदि हैं, जिनमें सामंजस्य स्थापित करके व्यक्तित्व का गठन सम्पादित किया जाता है। व्यक्तित्व का गठन निम्न बातो के अध्ययन पर आधारित रहता है—

1 व्यक्ति के स्व अथवा अहं का विकास (development of self or ego),
2. व्यक्तित्व के विशेषकों का गठन (organisation of personality traits),
3. आलपोर्ट के अनुसार व्यक्तित्व का गठन (Allport on personality organisation),
4. व्यक्तित्व के गठन के आयाम (dimensions of personality organisation),
5. व्यक्तित्व की समग्रता (integration of personality)।

स्टैग्नर ने व्यक्तित्व विशेषको को चित्त प्रकृति (temperament) का एक अंश माना है। चित्त प्रकृति में एक प्रकार का स्थायित्व इसलिए पाया जाता है कि इसके स्वरूप का निर्धारण जन्म के समय से ही हो जाता है। किसी व्यक्तित्व में कौनसा विशेषक है, इसका अनुमान देखकर नही लगाया जा सकता। जब व्यक्ति व्यवहार करता है, तब उसके व्यक्तित्व मे पाए जाने वाले विशेषको की जानकारी हो सकती है।

आलपोर्ट के अनुसार विशेषक एक प्रकार की निर्णायक प्रवृत्ति है और यह बहुत कुछ

आदत (habit) तथा अभिवृत्ति (attitude) के समान हैं। व्यक्तित्व गठन के सन्दर्भ में आलपोर्ट ने इस आवश्यकता पर बल दिया है कि विशेषकों की पहचान अथवा खोज सही तौर पर की जाए। वास्तव मे किसी विशेषक को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखते हैं। विशेषको का अनुमान व्यक्ति के व्यवहार के आधार पर लगाया जाता है। विशेषक की पहचान करते समय यह भी ध्यान रखना होता है कि व्यक्ति के व्यवहार में हम एक प्रकार की निरन्तरता और पुनरावृत्ति देखने का प्रयास करें।

विशेषकों के आधार पर व्यक्तित्व के गठन की व्याख्या से भी मनोवैज्ञानिक संतुष्ट नही हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको का यह मत है कि व्यक्तित्व के विशेषक व्यक्तित्व गठन की जानकारी आंशिक रूप से प्रदान करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए. एच. मैसलों ने व्यक्तित्व गठन के सन्दर्भ में आत्म-सिद्ध (self actualisation) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

व्यक्तित्व के प्रारूप (Types of personality)

जैसाकि हम देख चुके हैं व्यक्तित्व एक जटिल संगठन है जो, कि परिवेश के प्रति व्यक्ति के अनुकूल करने के तरीकों से अभिव्यक्त होता है परन्तु फिर भी मनोवैज्ञानिको ने अपने ढंग से इसे प्ररूपों में देखने का प्रयत्न किया है।

1. शरीर रचना के आधार पर—क्रेतसमर (Kretschmer) ने शरीर रचना के अनुसार व्यक्तित्व के निम्न प्ररूप बताए हैं—

1. एथलैटिक या पुष्टकाय (Athletic)—सुदृढ़ शारीरिक गठन, साहसी, निर्भय, क्रियाशील।
2. एसथैनिक या कृशकाय (Asthenic)—लम्बा और कृश शरीर, कटु आलोचक।
3. पिकनिक या तुन्दिल (Pyknic)—तोंद बढ़ी हुई, आराम पसन्द, मिलनसार, लोकप्रिय।
4. डिस प्लास्टिक या मिश्रकाय (Dys plastic)—उपरोक्त तीन का मिश्रण।

क्रेतसमर की मान्यता है कि अधिकतर मानसिक रोगी इसी प्ररूप मे होते हैं।

2. स्वभाव के आधार पर—शैल्डन (Sheldon) ने पहले आकार-प्रकार के आधार पर वर्गीकरण किया है और फिर इसके आधार पर स्वभाव के प्ररूप बताये हैं—

आकार प्रकार के प्ररूप और स्वभाव का लक्षण:

1. एण्डोमोर्फिक (Endomorphic) या गोलाकार—विसेरोटोनिया (Viscerotonia) लक्षण—आराम पसन्द, भोजनप्रिय, निद्राप्रिय।
2. मेसोमोर्फिक (Mesomorphic) या आयताकार—सोमेटोटोनिया (Somatotonia); लक्षण—कर्मठ, शक्तिशाली, अधिकार प्रिय।
3. एक्टोमोर्फीक (Ectomorphic) या लम्बाकार—सेरीब्रोटोनिया (Cerebrotonia) लक्षण—संकोचशील, संयमी, संवेदनशील।

3. मनोविज्ञान के आधार पर—इसमे युग का वर्गीकरण सर्वाधिक लोकप्रिय है—

1. वहिर्मुखी (extrovert)—भाव प्रधान, शीघ्र निर्णय लेने वाला, व्यवहार कुशल, समाजप्रिय, यथार्थवादी आदि।
2. अन्तर्मुखी (introvert)—विचार प्रधान, निर्णय में विलम्ब करने वाला, व्यवहारिक कुशलता का अभाव, एकान्तप्रिय, आदर्शवादी आदि।

युंग ने बहिर्मुखिता तथा अन्तर्मुखिता का उल्लेख करते समय समाज के प्रति व्यक्ति के रुझान को प्रमुखता दी है। व्यक्ति समाज में कितनी रुचि लेता है, समाज के प्रति कितना जागरूक है, इस बात को ध्यान में रखकर युंग ने उपरोक्त दो वर्गीकरण किए। परन्तु समाज में ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनमें उपरोक्त दोनों प्ररूप के मिले जुले लक्षण पाए जाते हैं। ऐसे लोगों को उभयमुखी कहते हैं।

व्यक्तित्व के प्ररूपों के सम्बन्ध मे अनेक आलोचनाएँ हुई हैं, इनके अनुसार इन सिद्धान्तो में निम्न त्रुटियाँ हैं—

1. किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व शुद्ध रूप से एक प्ररूप के अन्तर्गत नही आ सकता।
2. व्यक्तित्व के प्ररूप से सम्बन्धित जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे समान रूप से, समान मात्रा में सभी व्यक्तियों में नही पाए जाते।
3. इन सिद्धान्तों के द्वारा विभिन्न व्यक्तित्वो के व्यक्तियों का एकांगी स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

व्यक्तित्व का विकास

सलीवन ने व्यक्तित्व के विकास की छः स्थितियाँ बताई हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. शैशव में व्यक्तित्व विकास (Infancy)
2. बाल्यावस्था में व्यक्तित्व विकास (Childhood)
3. उत्तर बाल्यावस्था में व्यक्तित्व विकास (Juvenile era)
4. प्राक्किशोरावस्था में व्यक्तित्व विकास (Preadole scence)
5. पूर्व किशोरावस्था में व्यक्तित्व विकास (Early adolescence)
6. उत्तर किशोरावस्था मे व्यक्तित्व विकास (Late adolescence)

1. शैशव में किशोर की आत्मचेतना धीरे-धीरे विकसित होने लगती है और उसका स्व प्रगट होने लगता है।
2. बाल्यकाल में वह शैशव में अर्जित बातो का समीकरण करना सीखता है और अन्तर-सम्बन्धों के व्यवहारों को ऐसा रूप देता है कि जिससे नवीन सम्बन्ध स्थापित होते हैं। इस काल में यदि माता-पिता का स्नेह प्राप्त होता रहे तो व्यक्तित्व का विकास सन्तोषप्रद होता है।
3. उत्तर बाल्यावस्था में वह समान रुचि एवं प्रवृत्ति वाले बालकों से घनिष्ठ मित्रता करना सीखता है। अब उसके व्यक्ति के विकास में उसके संगी-साथियों की घनिष्ठ मित्रता एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।
4. प्राक्किशोरावस्था में जननेन्द्रियाँ परिपक्व होने लगती हैं और उसमें यौन सम्बन्धी चेतना उत्पन्न होने लगती है। इस अवस्था में बालक वैसा ही करता है जैसा कि दूसरे उससे अपेक्षा करते हैं अर्थात् वह समाज और संस्कृति के मूल्यों को पहचानने लगता है।

5. पूर्व किशोरावस्था में वह यौन सम्बन्धी ज्ञान में रुचि लेने लगता है। वह जीवन के यथार्थ से भी परिचित होने लगता है। सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों के अनुसार वह सीखता है कि कामवासना को किस प्रकार नियन्त्रित किया जाए और कैसे सामाजिक नियमों के अनुसार आचरण किया जाए।
6. व्यक्तित्व-विकास की अन्तिम स्थिति उत्तर किशोरावस्था से प्रौढ़ावस्था तक है। अब किशोर बौद्धिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक दृष्टि से परिपक्वता प्राप्त करने लगता है।

विकास के विभिन्न कृत्यों में अन्तर-सम्बन्ध

किशोर अपने शारीरिक स्व के विषय में जो धारणा रखता है, वह उसके व्यक्तित्व के विकास के विभिन्न पहलुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। शोपे तथा हैविगहर्स्ट ने इन सम्बन्धों के अध्ययन का प्रयत्न किया। उन्होंने 30 किशोरों के निम्न-कृत्यों का अध्ययन किया—

1. यौन भूमिका सीखना,
2. माता-पिता व अन्य प्रौढ़ों से संवेगात्मक स्वतन्त्रता प्राप्त करना,
3. नैतिकता, मूल्यों आदि का विकास करना,
4. सम-आयु के बालकों से मित्रता करना,
5. बौद्धिक कौशल विकसित करना।

अपने अध्ययन के विश्लेषण पर उन्होंने पाया कि 10 से 13 वर्ष की आयु की अवधि परिवर्तन एवं वांछित व्यक्तित्व एवं सामाजिक प्रतिमानों (patterns) के विकास के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि समकक्ष समूह (pear group) से मधुर एवं सन्तोषजनक सम्बन्ध दूसरे कृकृत्यों की पूर्णता को गति प्रदान करते हैं। कृकृत्यों की सुचारू ढंग से पूर्णता प्राप्ति मे दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है यौन भूमिका का। इस कृकृत्य की प्राप्ति में सबसे अधिक प्रगति पाई गई। यह इस ओर इंगित करती है कि व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास हेतु किशोरावस्था में यौन निर्देशन आवश्यक है।

किशोर व्यक्तित्व की विशेषताएँ

आज से पचास वर्ष पूर्व के किशोर में और आधुनिक किशोर में बड़ा अन्तर है। पचास वर्ष पूर्व के किशोर को तत्कालीन समस्याओं में रुचि नहीं रहती थी। उसके आदर्श पुरुष या तो ऐतिहासिक पात्र होते थे या साहित्य में पढे हुए नायक। परन्तु आज समय के परिवर्तन के साथ किशोर की रुचियों मे भी परिवर्तन आया है। आज का किशोर रेडियो, टी० वी० व सिनेमा के संसार में रहता है, समाचार पत्र पढ़ता है, अतः आधुनिक समस्याओं से, जीवन के यथार्थ से जुड़ा हुआ है। अब उसके आदर्श हाड-मांस के जीवित व्यक्तित्व होते हैं—चाहे वे प्रसिद्ध खिलाड़ी हों, अभिनेता हों, राजनीतिज्ञ हों, उच्च व्यवसायी हों—पर वे समकालीन युग के व्यक्ति होते है। आज का किशोर थोथा आदर्शवादी नही है। वह तो व्यावहारिक बालक है, यथार्थवादी है और इन सबसे भरा उसका मस्तिष्क उसके चयन को भी प्रभावित करता है। किशोर व्यक्तित्व की अग्रांकित विशेषताएँ हैं—

1. वृद्धि उपनतियाँ (Growth Trends)—अधिकांश प्राक्‌किशोरों में दो प्रकार की वृद्धि उपनतियाँ होती हैं—

1. बाल्यावस्था में निर्मित व्यक्तित्व के ढाँचे का विघटन (disorganisation)
2. समकक्ष समूह के उन बालकों की ओर आकर्षण जो विद्रोही स्वभाव के हैं—प्रौढ़ नियंत्रण व अधिकार के विरुद्ध रहते हैं।

वृद्धि की ये उपनतियाँ किस सीमा तक पहुँचती हैं, ये किशोर के बाल्यावस्था के पालन-पोषण एवं प्राप्त निर्देशन पर निर्भर करता है। उसका यह व्यवहार हो सकता है स्थायी न भी रहे। हो सकता है, और अनेक बार ऐसा होता भी है कि अपनी इन उपनतियों के कारण उसे कुसमायोजित (maladjusted) अपचारी (delinquent) आदि समझा जाता है तथा उन्हें न्यायालयों के समक्ष भी उपस्थित होना पड़ता है।

2 आदर्श स्व—आदर्श स्व की संकल्पना आकाक्षाओं (aspirations) एवं तादात्म्यीकरण (identifications) दोनों के ही संदर्भ में की जाती है। चाहे अध्ययन किसी भी संदर्भ में किया जाए यह चरित्र और व्यक्तित्व के विकास के लिए उपयोगी है। फ्रायड तथा उसके अनुयायियों के अनुसार व्यक्ति के तादात्म्यीकरण के फलस्वरूप आदर्श 'स्व' की उत्पत्ति होती है। तादात्म्यीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बालक दूसरे व्यक्तियों के गुणों की यथा-प्यार, प्रशंसा, भय आदि को ग्रहण करता है। जबकि समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार आदर्श स्व वे आकांक्षाएँ या भूमिकाएँ है जो व्यक्ति के जीवन को निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। हैविगहर्स्ट व अन्यो ने बाल्यावस्था और किशोरावस्था मे आदर्श स्व के विकास का अध्ययन किया।[1]

इसके अन्तर्गत 8 से 18 वर्ष तक की आयु के लडके-लड़कियो को एक निबन्ध लिखने को कहा गया। जिसका विषय था कि वडे होकर क्या बनना चाहेगे। चाहे यह एक वास्तविक व्यक्ति न भी हो परन्तु उन्हे उसका चरित्र, वेशभूषा, शक्ल सूरत, कार्य आदि सभी का वर्णन करना था। लड़के-लड़कियों के नौ समूहो से 1147 निबन्ध प्राप्त हुए। लडके-लडकियों के उत्तर को चार वर्गों में रखा जा सकता है। 1 माता-पिता, 2. प्रभावशाली प्रौढ़, 3. आकर्षक व लोकप्रिय परिचित युवा, तथा 4 काल्पनिक चरित्र। इन लोगों की आयु-क्रम को नोट किया गया तथा यह पाया गया कि सामान्यतया बालकों की प्रवृत्ति माता-पिता की ओर थी परन्तु आयु वृद्धि के साथ-साथ आदर्श की कल्पना परिवार की सीमाएँ लांघकर काल्पनिक चरित्र की ओर घूमने लगती है। इसी प्रकार सामाजिक-आर्थिक स्तर का भी स्व आदर्श की कल्पना पर प्रभाव पडता है। निम्न सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण मे पले बालक मध्यवर्गीय बालको से पिछड़े हुए पाए गए।

किशोर की अभिवृत्तियाँ और आकाक्षाओं पर लिंग का भी प्रभाव पड़ता है। लड़के खेलकूद पसन्द करते है परन्तु लडकियाँ पढाई लिखाई मे रुचि रखती हैं।

---

1. आर. जे. हेविगहर्स्ट, एम. जेड. रोबिनसन, एम. डोर, "द डेवेलपमेन्ट आफ दे आइडियल सेल्फ इन चाइल्डहुड एण्ड एडोलसेन्स," जर्नल ऑफ एड्यूकेशनल रिसर्च, 1946–47 अंक 40 पृ०241-257.

इस प्रकार लिंग सामाजिक वर्ग, पर्यावरण आदि भी किशोर के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

3. किशोर व्यक्तित्व के वैषम्य—व्यक्तित्व के विकास में संवेगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम अपने घनिष्ठ एवं सुपरिचित लोगों के व्यक्तित्व का अनुमान इन्ही संवेगात्मक आदतो के आधार पर करते हैं। किन्ही व्यक्तियों में ये संवेग छुपे रहते हैं और किन्हीं में विशेष रूप से स्पष्ट लक्षित होते है। कुछ ऐसे भी संवेग है, जो किशोरावस्था में विशेष रूप में उभरते हैं। किशोरावस्था मे अनेक अन्तर्नोद जोकि जैविक प्रकृति के होते हैं, उनका दमन कर दिया जाता है। इस दमन का कारण प्रचलित रीतिरिवाज एवं प्रथाएँ हैं परन्तु जीवन के कुछ ऐसे भी पहलू हैं, जहाँ इन पर कोई प्रतिबन्ध नही होता। अतः किशोर की प्रकृति में इस "वैषम्य" के कारण अस्थिरता आ जाती है। वैषम्य तथा किशोर संवेगों के महत्त्व को स्वीकारते हुए जी० स्टेनले हाल ने कहा—"युवा मस्तिष्क की गहन स्थिति को पसन्द करते हैं तथा उत्तेजना उन्हें अत्यधिक प्रिय होती है।"[1] चिन्तामुक्त किशोरों की उत्तेजना प्रिय कार्य करने की अभिवृत्ति उनके खेलकूद, सामाजिक रुचियों, क्रियाओं आदि सभी को प्रभावित करती है। इसी कारण उनमें समूह-प्रतिबद्धता (team loyalty) रहती है।

तनिक सी भिन्न स्थितियों में भी किशोर के मूड में एकदम से परिवर्तन आ जाता है। खुशी और दर्द, आँसू और हँसी, आशा व हताशा कुछ इस तरह से एक दूसरे से बँधे रहते हैं कि इस अवधि की विशेषता बन जाते हैं। किशोर आयु-वृद्धि के साथ-साथ *अनेकानेक अनुभव प्राप्त करता है, और उन्ही के अनुसार उसके क्रियाकलापों में भी* परिवर्तन आता है तथा उसका व्यक्तित्व भी परिवर्तित होकर स्थायित्व की ओर बढ़ता है।

4. किशोर व्यक्तित्व में अस्थिरता—किशोर की प्रकृति में उत्तेजना और अस्थिरता होती है। संवेगों की अभिव्यक्ति आदत की बात है और इन आदतों से व्यवहार के प्रतिमान बनते हैं। ये व्यवहार अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी हो सकते हैं। जिन किशोरों का सामाजिक एवं संवेगात्मक विकास उचित ढंग से नहीं हुआ है उनकी आदतें प्रायः अन्तर्मुखी रहती हैं।

किशोर के व्यक्तित्व में अस्थिरता की व्यक्ति-वैषम्य, विचित्र संवेगात्मक व्यवहार, धार्मिक उत्साह या कदाचार आदि मे देखा जा सकता है। सुचारु प्रशिक्षा का इन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि ऐसे अनेक किशोर है जो भिन्न-भिन्न पृष्ठ भूमियों से आकर भी सुसमायोजित हैं, उनकी अभिवृत्तियाँ उचित हैं, व्यवहार में विनम्र हैं, अपनी आदतों मे स्थिरता प्रदर्शित करते हैं परन्तु अधिकांश किशोरों को सही निर्देशन एवं उचित प्रशिक्षण नही प्राप्त हो सकता। ऐसे भी बालक हैं जिनसे कि यह आशा की जाती है कि वे बड़ो की आज्ञा का आँखमीच कर पालन करेंगे। इनको पहल एवं दायित्व पूर्ण आदतों के विकास के लिए कभी अवसर ही नही दिया जाता है जबकि सामान्य जीवन के लिए

---

1. हॉल जी. एस. "एडोलेसेन्स," न्यूयार्क, 1904, अध्याय 10 अंक 2.
"Youth loves intense states of mind and is passionately fond of excitement."

भी इनका बड़ा ही महत्त्व है। यदि वे शौक के अनुसार कार्य करना चाहते हैं, तो इन्हें "बहुत छोटा" कह दिया जाता है और यदि वे बालक की तरह खेलना व कार्य करना पसन्द करते हैं तो "बहुत बड़ा" कह दिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रौढ़ों की इस प्रवृत्ति के कारण अनेक किशोरों के लिए किशोरावस्था एक विस्मय का स्थान बन कर रह जाती है और इसी उधेड़बुन में उनके व्यक्तित्व का उचित समायोजन एवं विकास भी नहीं हो पाता है। उनके वर्तमान एवं भूत दोनों का ही अध्ययन कर कारण पता लगाना चाहिए।

लैंगिक अन्तर

व्यक्तित्व के विकास पर लैंगिक अन्तर का भी प्रभाव पड़ता है। लड़के और लड़कियों के व्यक्तित्व का विकास समान रूप से नहीं होता है। जैसाकि पहले वर्णित किया जा चुका है, हैविगहर्स्ट व अन्यों के "काल्पनिक आदर्श", अध्ययन में यह भेद स्पष्ट झलकता है। लड़के-लड़कियों द्वारा नायक के लिए आवश्यक बतलाए गए व्यक्तित्व विशेषकों के अध्ययन से भी यही ज्ञात होता है। लड़के नैतिक मूल्यों पर जोर देते हैं। उन्हें ईमानदारी, दायित्व एवं श्रम सम्बन्धी कार्य अच्छे लगते हैं, जबकि लड़कियाँ अपनी वेश-भूषा, सफाई, अच्छा शारीरिक गठन आदि पर जोर देती हैं।

किशोर व्यक्तित्व की आवश्यकताएँ

किशोर एक गतिशील व्यक्ति है जो कि बाह्य स्थितियों एवं पर्यावरण की शक्तियों से अन्तर्सम्बन्ध के माध्यम से वृद्धि एवं विकास को प्राप्त होता है। व्यक्ति में गतिशीलता कुछ मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रहती है। ये आवश्यकताएँ निम्न है—

1. जैविक आवश्यकताएँ—जीवित रहने के लिए व्यक्ति की निम्न आवश्यकताएँ हैं, जो कि बुनियादी आवश्यकताएँ मानी जाती हैं—

1 वायु की आवश्यकता
2. भोजन की आवश्यकता
3. तरल पदार्थ की आवश्यकता
4. समुचित तापमान की आवश्यकता
5. विश्राम की आवश्यकता
6. निद्रा की आवश्यकता

2. आवयविक आवश्यकताएँ—इनका स्थान गौण है, ये निम्न हैं—

1. यौन सम्बन्धों की तुष्टि की आवश्यकता
2. क्रिया की आवश्यकता
3. इन्द्रियों से सम्बन्धित तुप्टि की आवश्यकता जैसे जिव्हा का कार्य है रसास्वादन
4. शरीर के किसी अंग में खुजली होने पर उसे दूर करने की आवश्यकता
5. चकाचौंध करने वाले प्रकाश से बचने की आवश्यकता

3. व्यक्तित्व सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ—गैरीसन (Garrison) के अनुसार ये आवश्यकताएँ निम्न हैं—

1 स्नेह की आवश्यकता—यह बाल्यावस्था में प्रकट हो जाती है और किशोरावस्था में इसकी अभिव्यक्ति के अनेक माध्यम हो जाते हैं।

2. सम्बद्धता की आवश्यकता—यह किशोरों के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वे घर के बन्धनों से मुक्त होकर सामुदायिक एवं सामाजिक जीवन में अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। साथ ही विलिंग-कामी सम्बन्धों की अनिवार्यता भी अनुभव करते हैं।

3. उपलब्धि की आवश्यकता—किशोर जैसे-जैसे परिपक्वता की ओर बढ़ता है, इसकी महत्ता बढ़ती जाती है। किशोर शनैः-शनैः अपने कार्य-क्षेत्र निश्चित करता है और उनमें सफलता चाहता है।

4. मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता—यह भी किशोर के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह समकक्ष-समूह पर अत्यधिक निर्भर रहता है तथा उनकी स्वीकृति चाहता है।

5. आत्मसम्मान की आवश्यकता—किशोर यह अनुभव करना चाहता है कि उसका आचरण निश्चित मानकों के अनुसार है, उसका कुछ मूल्य है, लोगों को उसकी आवश्यकता है।

6. एकीकृत जीवन दर्शन की आवश्यकता—परिपक्वता के साथ-साथ किशोर यह अनुभव करता है कि उसका एक निश्चित जीवन दर्शन होना चाहिए, जो कि उसके निर्णयों का आधार बने और पग-पग पर उसका मार्ग प्रदर्शित करता रहे।

इन व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यकताओं पर सभी मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य नहीं है। गेट्स (Gates) तथा उनके सहयोगियों के अनुसार ये आवश्यकताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. स्नेह की आवश्यकता, (need for affection)
2. सम्बद्धता की आवश्यकता, (need for belongingness)
3. उपलब्धि की आवश्यकता, (need for achievement)
4. स्वाधीनता या मुक्ति की आवश्यकता, (need for independence)
5. सामाजिक स्वीकृति की आवश्यकता, (need for social approval)

किशोरों के सभी समूहों में ये आवश्यकताएँ समान रूप से अभिव्यक्त नहीं होती हैं।

वर्तमान समाज मे विशेषकर धनी समुदाय में किशोरावस्था की अवधि को लम्बा कर देने की प्रवृत्ति जन्म ले रही है। यद्यपि किशोर शारीरिक रूप से परिपक्वता की ओर बढ़ रहा है, उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्तियों को रोका जाता है। [illegible] किशोर अपने आपको बड़ी द्वन्द्वात्मक एवं भ्रमात्मक स्थिति में पाता है। [illegible] उन स्थितियों में समायोजन तो करना ही है। यद्यपि इस प्रकार का समायोजन [illegible] अस्थिरता ही उत्पन्न करता है। फिर भी हमें किशोर से हताश नहीं होना चाहिए क्योंकि इन्हीं विषम परिस्थितियों में से युवा और प्रौढ़ को विकसित होना है।

किशोर व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले घटक

किशोर व्यक्तित्व को विकसित करने में [illegible] महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इनमें से कुछ बचपन में महत्त्वपूर्ण रहते हैं [illegible] में भी उनका [illegible] नहीं होता है। कुछ ऐसे भी हैं जो बचपन में [illegible] नहीं थे पर [illegible] महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो बचपन में महत्त्वपूर्ण थे, [illegible] महत्त्व घट जाता है। ये घटक [illegible] हैं—

1. शारीरिक घटक

(क) शारीरिक गठन—व्यक्ति का शारीरिक गठन, विशेप रूप से उसका कद, भार व वाह्य आकर्पण दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करता है। उन अन्य लोगों की प्रतिक्रिया व्यक्ति के स्वयं के प्रति वनने वाले विचारो को प्रभावित करती है। विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिमानों द्वारा स्वीकृत शारीरिक गठन से भिन्न गठन वाले युवक स्वय को सामान्य नही रख पाते। कद या भार का कम या अधिक होना उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को ही झकझोर देता है।

(ख) शारीरिक विकृतियाँ—शारीरिक विकृतियाँ किशोर मे हीनता की भावना भर देती हैं। वचपन में ये कमियाँ उसे प्रभावित नही करती। परन्तु यदि ये अभाव उसके जीवन मे किशोरावस्था मे आते हैं तो वह परेशान हो जाता है। साथियों के अनुरूप कार्य करने की इच्छा पूरी नही हो पाती, अतः वह कुंठाग्रस्त वन जाता है। अंधे, वहरे या गूंगे किशोरों के प्रति उनके माता-पिता का व्यवहार भी वदल जाता है। यह भी किशोर के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

(ग) शारीरिक दशा—व्यक्ति की शारीरिक दशा न केवल उस समय विशेष के लिए उसे प्रभावित करती है अपितु उस पर चिरस्थायी प्रभाव भी छोड़ सकती है। उदाहरण के लिए एक अंधे भूखे व्यक्ति को हमेशा भोजन की समस्या ही उलझाती रहेगी। वह अन्य कार्यों के प्रति उत्साह नही रख सकेगा। भूख का प्रभाव उसके शारीरिक भार पर भी पड़ेगा। इसी तरह से वुखार, दमा, गठिया आदि से पीडित व्यक्तियो मे भी हीनभावना घर कर जाएगी। वे हमेशा वेचैन रहेंगे, निर्णय लेने मे उलझ जाएगे, उनमे संवेगात्मक अस्थिरता भी रहेगी तथा व्यवहार मे चिडचिडापन रहेगा। जितनी अधिक गम्भीर बीमारी उन्हें घेरेगी समायोजन उनके लिए उतना ही कठिन वन जाएगा।

(घ) ग्रन्थि दशा—हार्मोन्स में परिवर्तनो के कारण व्यक्ति की ग्रंथि दशा परिवर्तित होती रहती है जो कि उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। यौनारंभ के समय अंतस्रावी ग्रंथियाँ अधिक सक्रिय हो जाती हैं। हाइपर थाइरोइड (Hyperthyroid) स्थिति में व्यक्ति परेशान, बेचैन, चिडचिड़ा व क्रोधी वन जाता है। अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ शारीरिक वृद्धि को प्रभावित करती हैं, जिसका कि प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है।

(ङ) वेशभूषा—वेशभूषा का किशोर की स्वय के प्रति अवधारणा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जीवन मे प्रसन्नता व सफलता लाने में वेशभूषा प्रभावी रहती है। वेशभूषा व्यक्ति को बनाती व बिगाड़ती है। ये हमारे व्यक्तित्व को निखार सकती है, हमें उसके अधीन बना सकती है। किशोर उसी फैशन की वेशभूषा पसन्द करता है जो कि समाज में प्रचलित है। किशोर लड़के लड़कियाँ इस प्रकार के कपड़े पहनना पसन्द करते है जो कि उनके व्यक्तित्व को आकर्पक बना सके, उसके शारीरिक गठन मे यदि कुछ खामियाँ हैं तो उन्हे ढक सके।

वेशभूषा का लड़के-लड़कियो के व्यवहार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो किशोर भली प्रकार से चयन करके कपड़े पहनते हैं, वे मित्र वनाने मे कुशल होते है, सामाजिक होते हैं क्योंकि उन्हे यह दृढ विश्वास होता है कि वे आकर्पक है। इसके विपरीत जो कपड़े पहनने मे सावधानी नही रखते वे अन्दर से झिझकते रहते हैं, सामाजिक नही बन पाते, मित्र बनाने मे भी हिचकिचाते हैं, लोगो की निगाहों से बचना चाहते हैं।

(च) **व्यक्ति का नाम**—माता-पिता द्वारा दिए गए नाम को बालक बिना किसी सोच विचार या आलोचना के स्वीकार कर लेता है। उसके किशोरावस्था प्राप्त करने पर उसके मित्र भी उस नाम को स्वीकार कर लेते है तो नाम का उसके व्यक्तित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है परन्तु यदि किशोर के नाम को उसके साथी स्वीकार नही करते हैं या उसकी प्रशंसा नही करते है तो उसकी स्वयं की भावना को ठेस पहुँचती है। उसका उसके व्यक्तित्व पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है, उसमे हीनता की भावना आ जाती है जिसका परिणाम कुसमायोजन होता है। यही कारण है कि किशोर यदि अपने नाम को पसन्द नही करता है तो उसके छिपाने का प्रयत्न करता है, वह केवल प्रारम्भिक अक्षर (initial) का प्रयोग करता है या कोई उपनाम रख लेता है या फिर उसे बदल लेता है।

2. सामाजिक सम्बन्ध

विकासशील व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक सम्बन्धों में मुख्य हैं—सास्कृतिक प्रतिमान, यौन प्रतिमान, परिवार, समकक्ष समूह एवं अध्यापक।

(क) **सांस्कृतिक प्रतिमान**—सभी संस्कृतियो में व्यवहार के कुछ प्रतिमान (patterns) होते हैं। उस संस्कृति से सम्बन्धित व्यक्ति को उन्ही के अनुसार अपने व्यक्तित्व को विकसित करना होता है। एक कट्टर हीन समाज का किशोर उस समाज की जटिल धार्मिक व्यवस्था के अनुरूप ही अपने को बनायेगा। उसके व्यक्तित्व को बनाने मे उस समाज की व्यवस्था, धार्मिक संस्कार एवं परिवार सभी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। यदि कोई किशोर उन सांस्कृतिक प्रतिमानों को स्वीकार नही करता है तो उसका व्यवहार प्रचलित मापदंडो से भिन्न होगा तथा सामाजिक रूप से अस्वीकृत रहेगा।

(ख) **यौन प्रतिमान**—सभी सस्कृतियों में स्त्री-पुरुष के लिए व्यवहार के भिन्न-भिन्न प्रतिमान होते हैं। किसी संस्कृति में स्त्री को आक्रामक बनना सिखाया जाता है तो किसी मे अधीनता स्वीकार करना। पुरुष के लिए निर्धारित भूमिका के अनुसार लड़कियों को कार्य नही करना चाहिए अन्यथा वे स्त्रियोचित गुणो से वंचित रह जाएँगी। इसी प्रकार यदि कोई लडका "पुरुष" (masculine) कहलाना चाहता है तो उसे स्त्रियो के लिए निर्धारित भूमिका को अस्वीकार कर देना चाहिए। संस्कृतियों में समय के अनुसार परिवर्तन आते रहते हैं और उसी के अनुसार पुरुष (masculine) एवं स्त्री (feminine) भूमिकाएँ भी बदलती रहती हैं। ऐसी स्थिति मे लड़के लड़की भी समझ नही पाते है कि किस प्रकार का व्यवहार करें। यदि वे अपने लिंग के लिए स्वीकृत प्रतिमानों के अनुसार कार्य नहीं करते है तो इसका उनके व्यक्तित्व पर अनुचित प्रभाव पडता है। यदि वे स्वीकृत प्रतिमानों के अनुरूप कार्य करते है तो उसका प्रभाव अच्छा रहता है और उन्हे सुसमायोजित बनने में सहायक सिद्ध होता है।

(ग) **परिवार का प्रभाव**—यदि घर का वातावरण किशोर के अनुरूप होता है, वह उसकी आवश्यकताओ की भली प्रकार से पूर्ति कर देता है तो वह बालक को स्वस्थ एवं संतुलित व्यक्तित्व वाला बनने मे सहायक रहता है। परिवार के बीच सौहार्दपूर्ण व्यवहार किशोर के लिए नितान्त आवश्यक है।

एक दुःखी घरेलू जीवन जिसमें स्नेह का अभाव है, माता-पिता में अनबन रहती है,

माता-पिता बालक में रुचि नहीं रखते, उससे मित्रता भी नहीं रखते, किशोर को अस्थिरता ही प्रदान करता है। ऐसे वातावरण में पलने वाला व्यक्तित्व कभी भी सुसमायोजित नहीं हो सकता। यदि माता बालक को संवेगात्मक संरक्षण नहीं दे पाती है तो बालक के व्यवहार में अस्थिरता रहेगी। परिवार के सामाजिक, आर्थिक स्तर का भी बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। निर्धन परिवार के बालकों में हीनता की भावना रहती है तथा वे हताश भी जल्दी हो जाते हैं। जबकि उच्च एवं धनी परिवार के युवकों में आत्म विश्वास, आत्म निर्भरता उच्चता की भावना आदि पाई जाती है। इसी प्रकार अल्पसंख्यक, पिछड़ी जाति आदि परिवारों के बालकों में भी हीनता की भावना घर कर जाती है। इसकी क्षतिपूर्ति हेतु वे कभी-कभी समाज के प्रति आक्रामक बन जाते हैं।

(घ) मित्र एवं समाज—किशोर इस बात के प्रति पूर्ण सचेत रहता है कि उसके *मित्र उसके बारे में क्या सोचते हैं, उसका वे किस प्रकार मूल्यांकन करते हैं। यदि वे उसे* नेता का दर्जा देते हैं, वह लोकप्रिय (popular) रहता है तो निश्चय ही वह बहिर्मुखी एवं आत्म विश्वासी बनेगा। यदि वह अपने साथियों के बीच लोकप्रिय नहीं है तो वह तनावों से भरा रहेगा।

(ङ) विद्यालय—बालक के विद्यालय में प्रवेश लेने के साथ ही विद्यालय के वातावरण का उस पर प्रभाव आरम्भ हो जाता है। यह प्रभाव बहुत कुछ उसके अपने साथियों एवं अध्यापकों से बने सम्बन्धों पर निर्भर करता है। किशोरावस्था में उसका अधिकांश समय विद्यालय एवं विद्यालय से जुड़ी गतिविधियों में व्यतीत होता है। यहाँ उसे अपनी शैक्षिक क्षमता एवं पाठ्येत्तर गतिविधियों में योग्यता दिखाने का अवसर प्राप्त होता है। उस जीवन की खट्टी-मीठी स्मृतियाँ उसके व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

जिस प्रकार माता-पिता का व्यक्तित्व एवं व्यवहार घर के वातावरण को प्रभावित करता है, उसी प्रकार अध्यापक विद्यालय के वातावरण को प्रभावित करता है। उसका स्वयं का व्यक्तित्व तथा उसकी अध्यापक के रूप में भूमिका विद्यालय के वातावरण को प्रभावित करती है। किशोर के व्यक्तित्व निर्माण में इस बात का बहुत प्रभाव पड़ता है कि अध्यापक का उसके प्रति व्यवहार आदेशात्मक है अथवा सहयोगात्मक। इसी प्रकार अध्यापक यदि स्वयं पूर्णतः समायोजित है तो वह अपने विद्यार्थियों को भी उचित समायोजन हेतु प्रोत्साहित करेगा। विद्यार्थियों के अच्छे मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक अपने कार्य में रुचि ले तथा अपने विद्यार्थियों को पसन्द करे। वह कक्षा में एक मैत्रीपूर्ण वातावरण बनाए तथा हर वस्तु को अपने शिक्षार्थियों के दृष्टिकोण से देखे।

3. आदर्श

हेविगहर्स्ट (Havighurst, 1950, 1953) द्वारा किए गए अध्ययनों के अनुसार व्यक्ति बाल्यावस्था से किशोरावस्था की ओर प्रगति करते समय सामान्यतः आदर्शों के एक प्रतिमान का अनुसरण करता है। ये प्रतिमान क्रमशः निम्न प्रकार है—

प्रतिमान	लगभग आयु
(1) माता-पिता	आठ या दस वर्ष
(2) अध्यापक	दस से बारह तेरह वर्ष

(3) सफल साथी या कुछ बड़े व्यक्ति	प्रारम्भिक किशोरावस्था
(4) चकाचौंध करने वाले प्रौढ़, जैसे अभिनेता, खिलाड़ी, सैनिक आदि।	अठारह–बीस वर्ष
(5) पुस्तकों में वर्णित वीरपुरुष	अठारह–बीस वर्ष
(6) किशोर की दृष्टि में आकर्षक एवं सफल युवा	युवावस्था

हिल (Hill, 1930) तथा विन्कर (Winker, 1949) द्वारा किए गए अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि लड़के चाहे वे किसी भी आयु के हों, अपने आदर्श अधिकतर दूर-दूर के वातावरण में से खोजते हैं, जबकि लड़कियाँ सामाजिक सम्बन्धों में ही अपने आदर्श ढूँढती हैं। लड़के सामाजिक स्तर को महत्त्व देते हैं और लड़कियाँ सौन्दर्य तथा सामाजिक स्वीकृति को।

किशोर द्वारा चयनित आदर्श किशोर व्यक्तित्व को अत्यधिक प्रभावित करता है। वह अपने आदर्श के अनुसार ही अपने व्यक्तित्व को ढालता है। वह अपने इस आदर्श रूप का न केवल वेशभूषा, चाल-ढाल आदि बाह्य रूपों में ही अनुकरण करता है, अपितु जाने अनजाने उसकी पसन्द नापसन्द, मूल्यों आदि को भी अपनाने लगता है। आदर्श का रखना सामान्यतः किशोर के लिए लाभकारी ही होता है, परन्तु कभी-कभी यह दोषपूर्ण भी हो सकता है। मान लीजिये किशोर ने अपना कोई काल्पनिक आदर्श बना लिया है अथवा उसका आदर्श उसकी पहुँच से बहुत ऊपर है तो वह उसमें निराशा की भावना घोलेगा, उसके उचित समायोजन में बाधक रहेगा।

व्यक्तित्व का अध्ययन

व्यक्तित्व का अनुमान सतही तौर पर नहीं लगाया जा सकता है। जोन्स[1] (Jones) ने व्यक्तित्व से सम्बन्धित 7 बातों की चर्चा की है—

1. व्यक्ति का स्वरूप
2. व्यक्ति की पोशाक
3. बातचीत करने का ढंग
4. उठने, बैठने, चलने का तरीका
5. काम करने का तरीका
6. कार्यकुशलता तथा
7. स्वास्थ्य।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए जोन्स ने व्यक्तित्व अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है।

व्यक्तित्व अध्ययन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग किया जाता है। ये विधियाँ दो प्रकार की हैं—

1. अमानकीकृत विधियाँ (Non-Standarized method)
2. मानकीकृत परीक्षण (Standarized Tests)

1. जोन्स, ए. जे., "प्रिंसिपल आफ गाइडेन्स" न्यू योर्क : मेकग्रो हिल बुक कम्पनी, 1945.

अमानकीकृत विधियाँ

व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिए जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

1. प्रश्नावली (Questionnaire)
2. साक्षात्कार (Interview)
3. प्रेक्षण (Observation)
4. संचयी अभिलेख पत्र (Cumulative record card)
5. समाजमिति (Sociometry)
6. व्यक्तित्व अध्ययन (Case study)
7. क्रम-निर्धारण (Rating)
8. उपाख्यानक अभिलेख (Anecdotal record)
9. आत्मकथा (Autobio-graphy)

मानकीकृत परीक्षण

व्यक्ति के सांस्कृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण में ही मानकीकृत परीक्षणों का उपयोग करना उचित है। मानकीकृत परीक्षणों में साधारणतः निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

1. मानकीकृत मनोवैज्ञानिक परीक्षण वस्तुनिष्ठ तथा विश्वसनीय होते हैं।
2. मानकीकृत परीक्षणों के प्रयोग द्वारा समय और शक्ति की बचत होती है।
3. मानकीकृत परीक्षणों द्वारा जानकारी की व्याख्या में मतभेद की सम्भावना कम रहती है।

व्यक्ति के सम्बन्ध में जानकारी एकत्र करने के लिए प्रायः निम्नलिखित प्रकार के मानकीकृत मनोवैज्ञानिक परीक्षणों को काम में लाया जाता है—

1. बुद्धि-परीक्षण
2. उपलब्धि परीक्षण
3. विशेष योग्यता अथवा अभिरुचि-परीक्षण
4. रुचि-परीक्षण
5. व्यक्तित्व-परीक्षण।

व्यक्तित्व अध्ययन की प्रक्षेपी प्रविधियाँ (Projective Techniques)

कभी-कभी जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है वह आवश्यकता से अधिक सतर्क होकर अपने व्यक्तित्व का अध्ययन कराता है। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व सम्बन्धी तथ्यों को छिपाने का प्रयास करता है। इस प्रकार व्यक्तित्व अध्ययन की जो वस्तुनिष्ठ विधियाँ है उनकी उपयोगिता सीमित हो जाती है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए व्यक्तित्व अध्ययन में प्रक्षेपी प्रविधियों का उपयोग किया जाता है।

प्रक्षेपण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसकी प्रक्रिया अचेतन होती है और व्यक्ति अचेतन रूप में अपने विचारों तथा भावनाओं को अपने से बाहर किसी अन्य वस्तु पर आरोपित करता है। ऐसा करने से व्यक्ति का स्व. सुरक्षित होता है।

प्रक्षेपी प्रविधियों के प्रयोग में फ्रायड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी विचारों का प्रमुख योगदान रहा है। प्रक्षेपी प्रविधियों के विकास में फ्रायड द्वारा वर्णित प्रक्षेपण सम्बन्धी विचारो का सारांश निम्न प्रकार है—

1. व्यक्ति मे भ्रांति का विकास
2. एक व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति के बारे में किसी ऐसी बात पर विश्वास करना जो वास्तव मे सही नहीं है।
3. व्यक्ति की अपनी त्रुटियों को दूसरो पर आरोपित करने की प्रवृत्ति।
4. एक व्यक्ति जिन बातों को छिपाना चाहता है उन्हीं को वह अचेतन रूप से दूसरों पर आरोपित करता है।

इन्ही सब बातों को ध्यान मे रखते हुए प्रक्षेपी प्रविधियों का विकास किया गया है। जब व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए प्रक्षेपी प्रविधियो का प्रयोग करते हैं तब यह प्रायः निश्चित होता है कि जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा रहा है वह यह नहीं जानता कि प्रक्षेपी प्रविधियों के माध्यम से उसके व्यक्तित्व के अचेतन गत्यात्मक पक्ष के सम्बन्ध मे समुचित जानकारी प्राप्त की जा रही है।

प्रक्षेपी प्रविधियों में सबसे अधिक प्रचलित प्रविधियाँ निम्न है :—

1. रोर्शाख प्रविधि (The Rorschach Technique)
2. टी. ए. टी. (Thematic Apperception Test)
3. शाब्दिक साहचर्य प्रक्षेपी प्रविधियाँ (Verbal Association Projective Techniques)
4. भूमिका-निर्वाह प्रविधि (Role Playing Technique)
5. प्रक्षेपी प्रविधि के रूप में हस्तलेखन (Handwriting as a Projective Technique)
6. अंगुलि आलेखन तथा चित्रकारी (Finger painting and drawing)

रोर्शाख प्रविधि

स्विटजरलैण्ड के मनोचिकित्सक हर्मन रोर्शाख ने इस प्रविधि का विकास किया था। रोर्शाख ने स्याही के धब्बे के आधार पर ऐसी उद्दीपन सामग्री तैयार की जो देखने में अस्पष्ट थी और जिसमे आंशिक सममिति भी पाई जाती थी। यह स्याही के धब्बे अर्थहीन होते थे। जिन व्यक्तियो के सम्मुख इन्हें प्रस्तुत किया जाता था, वे अपनी आंतरिक भावनाओं के आधार पर इनका वर्णन प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार जिन बातो को व्यक्ति चेतन रूप मे छिपाना चाहता है, उन्हें ही वह यहाँ परोक्ष रूप से व्यक्त कर देता था। रोर्शाख ने अनेक प्रयोग करके दस स्याही के धब्बों का एक सेट तैयार किया था। इसमें पाँच स्याही के धब्बे रंगीन थे, पाँच भूरे एवं काले।

अन्तश्चेतनाभि बोधन परीक्षण (टी. ए. टी.)

इस परीक्षण की रचना अमेरिका के मनोवैज्ञानिक हेनरी ए. मरे तथा उसके सहयोगी मार्गन ने की थी। मरे तथा मार्गन ने तीस चित्रो का एक सेट तैयार किया। इनमे से दस चित पुरुषो के लिए हैं, दस स्त्रियो के लिए तथा दस स्त्री और पुरुष दोनों के लिए है।

इन चित्रों को देखकर अध्ययन किया जाने वाला व्यक्ति कुछ कहता है। इन चित्रों के माध्यम से वह अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं, भावनाओं, द्वन्द्वों एवं दुश्चिन्ताओं को सरलता से व्यक्त करता है क्योंकि चित्रों के आधार पर जो कहानी वह कहता है वह वास्तव में उसी की होती है, यद्यपि उसे यही लगता है कि चित्रों की कहानी बता रहा है। व्यक्ति द्वारा बताई गई इन कहानियों के विश्लेषण द्वारा ही उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाती है।

अन्य प्रविधियाँ

इन दो प्रमुख प्रविधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रविधियाँ भी हैं। व्यक्तित्व अध्ययन में कुछ ऐसी प्रक्षेपी प्रविधियाँ प्रयुक्त होती हैं जिनका आधार शाब्दिक साहचर्य है। शाब्दिक साहचर्य पर आधारित प्रक्षेपी प्रविधि का प्रयोग करते समय प्रयोगकर्ता को यह देखना पड़ता है कि अनुक्रिया करते समय व्यक्ति रुकता है, हिचकिचाता है या अन्य किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करता है।

भूमिका निर्वाह प्रविधि में व्यक्ति को किसी नाटक के पात्र की भूमिका का अभिनय करना पड़ता है। इस भूमिका का निर्वाह करते समय वह अपने मन की छिपी हुई बातों को भी परोक्ष रूप से व्यक्त करता है।

किसी व्यक्ति की लिखावट के आधार पर भी उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है। इसी प्रकार अँगुलि आलेखन तथा चित्रकारी का प्रयोग भी किया जाता है।

सारांश

किशोरावस्था में व्यक्तित्व कैसा रहता है, कौनसे घटक उसे प्रभावित करते हैं, उसकी विशेष आवश्यकताएँ क्या हैं, तथा व्यक्तित्व अध्ययन की विधियाँ क्या है? इन सबका अध्ययन इस अध्याय में किया गया है।

ऑलपोर्ट ने 50 परिभाषाओं के विश्लेषण के पश्चात् एक सर्वमान्य परिभाषा दी– "व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोशारीरिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है, जो कि पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।" व्यक्तित्व के दो निर्धारक तत्त्व हैं—जैविक एव पर्यावरण सम्बन्धी। जैविक निर्धारकों में आनुवंशिकता एवं ग्रंथियाँ प्रमुख हैं। पर्यावरण सम्बन्धी निर्धारकों में प्राकृतिक, सास्कृतिक एवं सामाजिक सभी कारक सम्मिलित है। जैविक निर्धारकों का प्रभाव शारीरिक गठन पर पड़ता है। क्रेत्समर के अनुसार ये गोलाकार, आयताकार व लम्बाकार हो सकते है।

व्यक्तित्व के गठन के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक भिन्न-भिन्न व्याख्या देते है। कुछ इसे व्यक्ति में "स्व" के विकास से सम्बन्धित मानते है तो अन्य इसकी व्याख्या विशेषकों के आधार पर करते हैं। मैसलो ने इस सन्दर्भ में आत्म-सिद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

व्यक्तित्व गठन की भाँति ही इसके प्ररूपों के सम्बन्ध में भी मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य है। क्रेत्समर ने शरीर रचना को आधार मानते हुए व्यक्तित्व के चार प्ररूप पुष्टकाय, कृशकाय, तुंदित एव मिश्रकाय बताएँ है। शैल्डन ने स्वभाव के आधार पर आकार-प्रकार का वर्गीकरण किया–गोलाकार, आयताकार, लम्बाकार। युंग का वर्गीकरण सर्वाधिक मान्य

है। यह मनोविज्ञान पर आधारित है। इसके अनुसार व्यक्ति बहिर्मुखी, अन्तर्मुखी या उभयमुखी हो सकते हैं। उपरोक्त सभी वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण हैं, किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को हम शुद्ध रूप से एक प्ररूप के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

व्यक्तित्व का विकास धीरे-धीरे होता है। शैशवावस्था में प्रगट होने वाला स्व किशोरावस्था के समापन तक परिपक्वता प्राप्त करने लगता है। किशोर व्यक्तित्व विकास के प्रमुख कृकृत्य इस प्रकार हैं—यौन-भूमिका सीखना, संवेगात्मक स्वतन्त्रता प्राप्त करना, नैतिकता एवं मूल्यों का विकास करना, समकक्ष समूह से सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित करना, बौद्धिक कौशल विकसित करना आदि।

बदलती हुई परिस्थितियों एवं वैज्ञानिक परिवर्तनों के कारण आधुनिक युग का किशोर अतीत के किशोर से भिन्न है। वह कपोल कल्पनाओं में समय नहीं बिताता है, अपितु यथार्थ के धरातल पर खड़ा होना पसन्द करता है। किशोर व्यक्तित्व की विशेषताओं में किशोर में पाई जाने वाली वृद्धि उपनतियाँ हैं, इनके कारण भी उसे कई बार समस्याओं से जूझना पड़ता है। आदर्श स्व वे आकांक्षाएँ एवं भूमिकाएँ हैं, जिनकी चाहना प्रत्येक किशोर को रहती है। आदर्श स्व के निर्धारण में आयु, सामाजिक, आर्थिक-स्तर, लिंग, पर्यावरण आदि का प्रभाव पड़ता है। किशोर व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता उसमें वैषम्य का पाया जाना है। इसी वैषम्य के कारण उसमें उत्तेजना एवं अस्थिरता पाई जाती है। प्रौढ़ भी उन्हें आज्ञाकारी एवं अनुशासित बनाने की धुन में उनमें अस्थिरता भर देते हैं। लैंगिक अन्तर भी किशोर व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

किशोर व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

1. जैविक
2. आवयविक एवं
3. मनोवैज्ञानिक।

मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य है।

किशोर व्यक्तित्व को प्रभावित करने में तीन प्रकार के घटक कार्य करते हैं—

1. शारीरिक घटक के अन्तर्गत किशोर का शारीरिक गठन, शारीरिक विकृतियाँ, शारीरिक दशा, ग्रंथिदशा, वेश-भूषा तथा व्यक्ति का नाम है।
2. सामाजिक सम्बन्धों में प्रमुख हैं—सांस्कृतिक प्रतिमान, यौन प्रतिमान, परिवार, समकक्ष समूह एवं अध्यापक।
3. आदर्श लड़के, लड़कियाँ दोनों ही अपने लिए खोजते हैं। अन्तर इतना ही है कि लड़कों के आदर्श दूर स्थित होते हैं और लड़कियों के घर परिवार में ही। अच्छे आदर्श का चयन किशोर के लिए लाभकारी है, परन्तु गलत आदर्श उसके जीवन में समस्याएँ ला देगा।

व्यक्तित्व का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि बुद्धि, अभिरुचियों, योग्यताओं, रुचियों, शैक्षिक उपलब्धियों, व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण, अभिवृत्तियों, मूल्यों तथा आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटकों की ओर ध्यान दिया जाए। व्यक्तित्व सम्बन्धी जानकारी के लिए दो प्रकार की प्रविधियों को काम में लिया जाता है।

अध्याय II

वैयक्तिक एवं सामाजिक समायोजन

वैयक्तिक एवं सामाजिक समायोजन

यदि हम किशोर को यह विश्वास दे सकें कि विद्यालय में विद्यार्जन करने के साथ ही साथ वह सही माने में एक सुसमायोजित व्यक्ति भी बन सकेगा, तो यह उसके प्रति हमारी बहुत बड़ी सेवा मानी जाएगी। पहली कक्षा में प्रवेश से लेकर ग्यारहवी या बारहवी कक्षा में उत्तीर्ण होने तक विद्यार्थी के रूप में किशोर को अपने अनूठे व्यक्तित्व एवं विद्यालय कार्यक्रम, समकक्ष समूह तथा शिक्षकों के साथ समायोजन करना होता है। विद्यालय के बाहर उसे परिवार व पड़ौस के व्यक्तियों से समायोजन करना होता है। प्रत्येक किशोर एक विशिष्ट व्यक्ति बनना चाहता है, जिसका शरीर स्वस्थ हो जिसमें विकसित होती हुई बौद्धिक योग्यताएँ हों, पर्याप्त मात्रा में संवेगात्मक संतुलन हो तथा समाज के अधिक से अधिक काम आ सके। अतः विद्यार्थी के समायोजन की समस्या केवल उसकी निजी समस्या न रहकर परिवार, समाज, व राष्ट्र की समस्या बन जाती है। अतः सुसमायोजन द्वारा विद्यालय किशोर को यह विश्वास देते हैं कि वे उसे सुखी रहने के लिए हर सम्भव एवं सर्वोत्तम आधार देंगे। इस प्रकार हम उसे उसकी वैयक्तिक कठिनाइयों से उत्पन्न होने वाली परेशानियों से बचा लेंगे।

बालक एवं किशोर की अपनी जैविक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ एवं अन्तर्नोद होते हैं, वह इनकी पूर्ति चाहता है। यदि उनकी पूर्ति हो जाती है, तो वह संतुलित रहता है अन्यथा वह अपने जीवन में अशाति अनुभव करने लगता है, उसमें द्वन्द्व और कुण्ठाओं का जन्म हो जाता है। यह सब उसके उचित समायोजन के अभाव का सूचक होता है।

समायोजन का अर्थ

समायोजन वह पथ है, जिस पर चलते हुए हम ऐसे वातावरण में, जो कभी सहायक है, तो कभी जटिल है, और कभी हानिकारक है, अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि करते हैं। हमारे समायोजित होने की प्रक्रिया केवल तभी घटित होती है, जब हमारी कुछ आवश्यकताएँ हों, जब हम उन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक मार्ग चुनें और जब पर्यावरण, जिसमें कि हमें अपनी संतुष्टियाँ ढूँढनी हैं, हमारे प्रति तटस्थ या विरोधी बना रहे।[1]

---

1. माम मार्गरेट तथा जेनिसन,आलिस, जो. "एडोलेसेन्स" मैक ग्रा हिल बुक कं., 1952, पृ०282.

मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली दशाएँ

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात अब सर्वमान्य हो चुकी है। अध्ययनों से ज्ञात होता है कि कुपोषण एवं शारीरिक अयोग्यताओं का वर्द्धमान बालक की संवेगात्मक स्थिरता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार किशोर की मानसिक अभिवृत्तियाँ तथा संवेगात्मक विशेषताएँ उसकी शारीरिक क्षमताओं को प्रभावित करती है।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान

अर्थ एवं उद्देश्य

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक मानसिक रोगियों को पापी या शैतान मानकर मारा पीटा जाता था, उनको सुधारने के लिए उन पर अमानुषिक अत्याचार किए जाते थे परन्तु मनोविज्ञान के अध्ययन से मानसिक क्रियाओं का ज्ञान हुआ और 1841 में डेरोथी डिक्स के प्रयत्नों से पागलों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार प्रारम्भ हुआ। उसके बाद मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के लिए आन्दोलन किया डब्ल्यू. बीयर्स (C. W. Biers) ने। फ्रायड एवं युंग के आगमन से तो इस दिशा में प्रभावकारी प्रयत्न आए। इन मनोविश्लेषणवादियों ने मानसिक रोगों के कारणों का निदान किया तथा उनका सफलतापूर्वक उपचार भी किया।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के कार्य है—

1. मानसिक दोषों का निराकरण करना
2. व्यक्तित्व के व्यतिक्रमों पर नियंत्रण करना ताकि व्यक्ति में असमानताएँ न आएँ तथा विचलन भी नहीं हो,
3. मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा।

इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के तीन पहलू है—निराकरणात्मक, विरोधात्मक एवं सरक्षात्मक।

किशोरावस्था में मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान

किशोर का विकास क्रमिक एवं निरन्तर है। वह विगत अनुभवों का पुंज है। किशोर की अधिकाश मानसिक समस्याओं की उत्पत्ति बाल्यावस्था में ही प्रारम्भ हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक के जीवन के आरम्भिक पाँच-छः सालों में जो प्रभाव पड़ता है उसी से उसके भावी जीवन का व्यवहार निश्चित होता है। यह प्रभाव निश्चय ही उसके परिवार का ही होता है। परिवार में ही बालक संवेगों, विचारों, भावनाओं आदि को व्यक्त करना, नियन्त्रण करना एवं परिष्कृत करना सीखता है। यदि माता बालक के रोने-मचलने पर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती है या कोई माता बच्चे पर नियन्त्रण आवश्यकता से अधिक रखती है और बालक को पलायन के लिए विवश कर देती हैं तो ये दोनों ही स्थितियाँ बच्चे के स्वस्थ विकास के लिए लाभकारी नहीं है क्योंकि इससे बालक में आत्म-नियन्त्रण व निर्णय लेने की क्षमता उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार की आदतें उसके भावी जीवन में अड़चनें उत्पन्न करती है। समाज मे समायोजन के लिए उत्तरदायित्व की भावना एवं आत्म-नियन्त्रण दोनों ही अत्यन्त आवश्यक है। अतः किशोर के मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि स्वास्थ्य विज्ञान का आरम्भ

बाल्यावस्था से ही कर दिया जाए। अन्यथा फिर सम्भावनाओं के अनुसार ही कार्य करना पड़ेगा। यद्यपि यह आवश्यक नही है कि सभी प्रारम्भिक गड़बड़ियों के कारण ही किशोर को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है बल्कि अनेक ऐसे भी किशोर हैं, जिनका कि शैशव बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों मे व्यतीत हुआ, बाल्यावस्था भी जिनको कटु अनुभव ही प्रदान करती रहीं, फिर भी उनकी किशोरावस्था बिना किसी कठिनाइयों के व्यतीत हो गई।

किशोरावस्था मे मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान की आवश्यकता अधिक है, क्योंकि किशोरावस्था व्यक्तित्व के विकास में सबसे अधिक परिवर्तनशील अवस्था है। इसमें शारीरिक, मानसिक सभी तरह का विकास बड़ी तेजी से होता है। बालक-बालिका में तरुण होने के शारीरिक लक्षण प्रकट होने लगते हैं। लड़के के दाढ़ी-मूँछ आने लगती है और आवाज भारी हो जाती है। लड़कियो के स्तन बढ़ने लगते हैं और अंगों मे गोलाई आने लगती है। इस शारीरिक परिवर्तन के साथ-साथ मानसिक परिवर्तन भी दिखाई देने लगते हैं। अब वे अपने को बच्चा समझा जाना पसन्द नही करते। वे चाहते हैं कि उनकी गिनती भी बड़ों में की जाए। इसकी जल्दबाजी मे कुछ लड़के समय से पहले ही ब्लेड इस्तेमाल करके कृत्रिम रूप से दाढ़ी-मूँछ बढाने की कोशिश करते भी देखे जाते हैं। इस आयु में कल्पनाशीलता तथा भावुकता अत्यधिक बढ़ जाती है। विषमलिंगीय आकर्षण बढ़ जाता है और यौन-सम्बन्धी जिज्ञासा असाधारण रूप से तीव्र हो जाती है। किशोर के सामने भविष्य की चिन्ता भी आने लगती है और वह अपने भविष्य के बारे में सोचना तथा कल्पना करना शुरू कर देता है। किशोरावस्था की इन विविध समस्याओं के दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि इस अवस्था में मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण और मानसिक दोषों तथा व्यक्तित्व के असन्तुलन की रोक-थाम की सबसे अधिक जरूरत है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बुढ़ापे में व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन ठीक रहना एक समस्या बन जाती है अतः बूढ़ों को मानसिक आरोग्य के नियमों तथा विधियों से बड़ा लाभ हो सकता है। बदचलन लोगो में शराबी, अपराधी, वैश्यागामी, वेश्याएँ तथा समाजविरुद्ध काम करने वाले लोग आते हैं। इनके दोषों का बहुत कुछ निराकरण मानसिक आरोग्य के नियमों तथा विधियों से किया जा सकता है। इस प्रकार मानव जीवन में मानसिक आरोग्य का महत्त्व सर्वव्यापी है। उसका सब कहीं प्रयोग किया जा सकता है, यद्यपि उससे समुचित लाभ उसको प्रयोग करने वालो की कुशलता और परिस्थितियों के काबू में आने पर निर्भर है। मानसिक आरोग्य एक विज्ञान है। उसमे मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण तथा मानसिक अस्वस्थता की रोक-थाम और निराकरण के नियमों और विधियों का वर्णन किया जाता है। अतः व्यक्तिगत, घरेलू, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में विभिन्न वर्गों, लिंगों, आयु वर्गों, समुदायों तथा जातियों के लोगों के अन्तःसम्बन्धों मे, दूकानों, कारखानों, आफिसों और व्यवसायों मे सब कही और सब समय मानसिक-आरोग्य से लाभ उठाया जा सकता है। यही मानसिक-आरोग्य का मूल्य है। उससे वास्तव मे कितना कम लाभ उठाया जाता है, इससे उसका मूल्य कम नहीं होता। विज्ञान तटस्थ होता है। वह स्वयं किसी को लाभ पहुँचाने नहीं आता। मनुष्य को ही उससे लाभ उठाना होता है। मनुष्य उसका लाभ ले या न ले, इससे उसका मूल्य नही घटता। अस्तु मानसिक आरोग्य का मूल्य स्वयंसिद्ध है।

विद्यालय एवं मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान

बालक के विकास में विद्यालय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वे सभी संस्थाएँ, जो वृद्धिशील बालक की समस्या का अध्ययन करती हैं, विद्यालय की इस भूमिका पर बल देती है। स्वास्थ्य विज्ञान से सम्बन्धित सभी समितियाँ अपने कार्य के प्रचार एवं प्रसार के लिए विद्यालयों का एक अभिकरण के रूप मे प्रयोग करती हैं। वे अपने सभी कार्यों में विद्यालय को रखती हैं।

कई स्थितियों मे ऐसा भी होता है कि शिक्षक या मनश्चिकित्सक, किसी का भी ध्यान उस बालक पर नही पड़ता, जिसे कि मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में वे प्रयत्न तथा त्रुटि-पद्धति (trial and error method) से कार्य करते हैं।

वर्तमान युग में जबकि मानसिक स्वास्थ्य की समस्या मे वृद्धि हो रही है, प्रत्येक विद्यालय को शारीरिक स्वास्थ्य विज्ञान कार्यक्रम के साथ-साथ मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान से सम्बन्धित कार्यक्रम भी रखना चाहिए ताकि देश के भावी नागरिको के व्यक्तित्व का विकास सुचारू रूप से वांछित दिशाओं में हो सके। विद्यालय से सम्बन्धित ऐसे कार्यक्रम में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

1. अध्यापकों को बाल एवं किशोर मनोविज्ञान तथा मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में प्रशिक्षित होना चाहिए।
2. हर नए विद्यार्थी का मनःशारीरिक अध्ययन करना चाहिए।
3. बालको की रुचियो और स्वभाव के अनुसार प्राथमिक कक्षाओं का पुनर्गठन समय-समय पर इस प्रकार से होता रहना चाहिए कि शिक्षक को व्यवस्थित व सावधानीपूर्ण निरीक्षण के अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हो सकें।
4. बालकों की शिक्षा एवं विकास से सम्बन्धित अन्य अभिकरणों का ज्ञान।
5. विकलांगो एव मन्दबुद्धि वाले बालकों के लिए विशेष शिक्षा का प्रबन्ध।
6. बालकों के कुसमायोजन के कारणों पर ध्यान देना।

वही शिक्षा सबसे अधिक स्वास्थ्य-वर्धक है, जो बालकों की छिपी हुई योग्यताओं एवं क्षमताओं का पता लगाकर उनका-विकास करे तथा उन्हें एक अच्छे नागरिक बनने मे सहायता करे। अतः शिक्षक अपने बालकों के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करके राष्ट्र की शक्ति एवं सुरक्षा मे वृद्धि कर सकते हैं। जब तक कि विद्यालय अपने ध्यान का केन्द्र विषय-वस्तु से हटाकर शिष्यो--जीवित प्राणियो—की ओर नही ले जाते है, पर्याप्त मात्रा मे प्रगति नहीं हो सकती।

अध्यापक का मानसिक स्वास्थ्य

अध्यापक के मानसिक स्वास्थ्य का बालकों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि अध्यापक स्वयं ही मनोविकारों मे ग्रसित है, कुंठित है, उसे शिक्षण से अरुचि है, तो वह बालकों में विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व अव्यवस्थापन उत्पन्न कर देगा। इस सम्बन्ध मे अनेक अध्ययन किए जा चुके हैं कि अच्छा एवं सफल अध्यापक कौन होता है, अध्यापक का व्यक्तित्व-समायोजन कैसा होना चाहिए आदि। ये अध्ययन बालकों के विकास में अध्यापक की महत्ता

को प्रमाणित करते हैं। रियान्स[1] ने अध्यापक की विशेषताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उसके अनुसार अध्यापक की विशेषताएँ निम्न प्रकार है :

1. जागरूक, उत्साही तथा विद्यार्थियों में रुचि लेने वाला।
2. प्रफुल्ल, आशावादी।
3. आत्म-नियन्त्रण रखता है, सुसंगठित है, आसानी से अशान्त नही होता।
4. हास-परिहास में रुचि रखता है।
5. अपने दोषों को पहचानता है और स्वीकार करता है।
6. शिष्यों के साथ न्यायपूर्ण, पक्षपातहीन व्यवहार करता है।
7. शिष्यों को समझता है व सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है।

यदि कोई अध्यापक स्वयं ही समायोजित नहीं है, तो उसके विद्यार्थी भी उससे समायोजन के लिए आवश्यक आदतें नही सीख सकेंगे।

अनेक ऐसे अध्यापक हैं, जो स्वयं भी मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है। उनके हृदय में हमेशा एक न एक क्षोभ बना रहता है। इसके निम्न कारण हैं—

1. अपर्याप्त वेतन
2. शिक्षण कार्य में अरुचि
3. व्यवसाय की असुरक्षा
4. निजी विद्यालयों में दोषपूर्ण प्रबन्ध
5. पारिवारिक कठिनाइयाँ
6. समाज में अध्यापक का मान नहीं।

अनेक व्यक्ति केवल इसलिए शिक्षण-कार्य ले लेते हैं क्योंकि उन्हें अन्यत्र कोई व्यवसाय नहीं मिलता है। भारत में भी निम्न वेतन एवं हीन स्तर के कारण लोग विद्यालयों में अध्यापक बनना पसन्द नहीं करते। जीवनयापन की विवशता ही उन्हे अध्यापक बना देती है। ऐसे अध्यापक न तो स्वयं सन्तुलित एवं समायोजित होते हैं, न ही अपने शिष्यों को बना सकते हैं।

संवेगात्मक रूप से अस्थिर अध्यापकों का अपने शिष्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी तुलना उन अध्यापकों से की गई, जिनमे कि संवेगात्मक स्थिरता है।[2] पाँचवी और छठी कक्षा के अध्यापकों को "वुडवर्थ-मैथ्यूज पर्सनल डेटाशीट" दी गई तथा प्राप्तांकों का विश्लेषण किया। समायोजित व असमायोजित अध्यापकों के शिष्यों को एकसे परीक्षण दिए गए तथा उनकी तुलना की गई। तुलना के आधार पर जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ उसके अनुसार यदि अध्यापक अति-संवेगात्मक है तो उसका व्यवहार उसके शिष्यों को भी संवेगात्मक रूप से स्थिर नही रहने देगा लेकिन यदि शिक्षक में संवेगात्मक स्थिरता है तो वह अपने शिष्यों को भी संवेगात्मक स्थिरता प्रदान करने मे सक्षम होगा।

---

1. रियान्स डी. जी., "द इन्वेस्टीगेशन ऑफ टीचर केरेक्टेरिस्टिक्स" एड्यूकेशनल रिकार्ड, 1953 अंक 34, पृ. 383.
2. पी. एल. बाइस्टन व अन्य, "द इमोशनल स्टेबिलिटि ऑफ टीचर्स एण्ड प्यूपिल्स" जर्नल आफ जुवेनाइल रिसर्च, 1934 अंक 28, पृ. 223-232,

कुछ समस्याएँ अध्यापकों की भी हैं—जैसे

1. कक्षा में शिष्यों की बड़ी संख्या;
2. पर्याप्त शिक्षण सामग्री का अभाव;
3. मनोरंजन के लिए अल्प समय;
4. अनुशासन की आवश्यकता तथा शिष्यों को सहायता देने की इच्छा में द्वन्द्व ।

समुदाय की भूमिका

ग्रलपोर्ट का कथन है, "क्योंकि व्यक्तित्व एक बड़ी सीमा तक सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं नियमों का रूपान्तर है, इसलिए यह जानना शिक्षाप्रद होगा कि किन सांस्कृतिक उद्दीपकों एवं आदर्शों के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विकास के कार्य में लगा हुआ है । इस सामाजिक ढाँचे का ज्ञान पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है ।"[1]

समुदाय और उसकी संस्कृति बालक के जन्म से ही उसको प्रभावित करती हैं । उस समाज के रीति-रिवाज, उसके अनुभव एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं । समुदाय की आदतें उसकी आदतें बन जाती हैं; समुदाय के विश्वास उसके विश्वास बन जाते हैं; समुदाय की सम्भावनाएँ उसकी सम्भावनाएँ बन जाती हैं ।

समुदाय के अनेक स्थल व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता देते हैं; जैसे कि मनोरंजन के स्थानों का प्रभाव किशोर के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य पर पड़ता है । वे समुदाय, जिनमें किशोर को सरलता से सिगरेट, शराब एवं अन्य मादक पेय उपलब्ध हो जाते हैं, उसे अपने विवेक को काम में लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती तथा किशोर की आदतें वैसी ही पड़ जाती हैं । यही कारण है कि आधुनिक सभ्यता में किशोरों में मद्यपान की समस्या बढ़ती जा रही है; किशोर अपराधों की समस्या में भी वृद्धि हो रही है जो राष्ट्र के लिए चिन्ता का विषय बन गई है ।

स्वस्थ वैयक्तिक जीवन यापन

सन्तोषप्रद वैयक्तिक एवं सामाजिक समायोजन का विकास सामाजिक रूप से स्वीकृत एवं वांछित विधियों द्वारा मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के विकास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है । ये आवश्यकताएँ विकास के कृत्यों से जुड़ी हुई होती हैं । वह किशोर, जो कि वृद्धि की समस्याओं का सन्तोषजनक विधि से समाधान जानता है, स्वस्थ जीवन-यापन की समस्याओं का भी सरलता से निवारण कर लेता है । यद्यपि स्वस्थ जीवन-यापन के लिए कोई सरल सूत्र उपलब्ध नहीं है परन्तु मनोवैज्ञानिकों द्वारा किए गए अनेक अध्ययनों से, जिनमें कि साइमन्ड्स[2] प्रमुख हैं, यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई किशोर अपने दिन-प्रति-दिन के जीवन में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है, तो उसे स्वैर कल्पनाओं में खोने की आवश्यकता नहीं रहती ।

किशोरावस्था में समकक्ष समूह के अनुरूप बनने के लिए भी भरसक प्रयास किए जाते है । इसमें कुछ प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं तो कुछ उभर जाती हैं । स्वस्थ जीवन-यापन के लिए अग्रांकित बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं ।

1. "आलपोर्ट जी. डब्ल्यू. "पर्सनेलिटी" पृ. 372–373.
2. साइमन्ड्स पी. एम. "अडोलेसेन्ट फैन्टेसी", न्यूयार्क—कोलम्बिया यूनीवर्सिटी प्रेस, 1949 पृ. 32,

(1) सुरक्षा की भावना का विकास

किशोर को स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव होती है। वह न तो अपने को बालक ही समझता है और न ही वृद्धि से इन्कार कर सकता है। वह चाहता है कि अपने निर्णय स्वयं ले, अपने मित्र स्वयं चुने परन्तु मन ही मन इस बात से भी भयभीत रहता है कि कही उसके चयन मे त्रुटि न रह जाए। यदि उसमें कही उलझन हो जाती है, तो वह स्वयं को असुरक्षित अनुभव करता है।

(2) सम्बन्धिता की आवश्यकता

सुरक्षा की भावना से ही सम्बन्धित सम्बन्धिता की भावना है। किशोर की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है कि वह यह अनुभव करे कि वह परिवार एवं समकक्ष समूह दोनों का ही सदस्य है, एक अभिन्न अंग है। दोनों से ही उसे पर्याप्त स्नेह मिलता रहे। धीरे-धीरे वह परिवार के घेरे से बाहर आना चाहता है, मुक्ति की चाहना करता है परन्तु बाह्य मित्रता करते समय उसे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसको व उसके मित्रों की समान रुचियाँ, अवबोध व समस्याएँ हैं। समायोजन के लिए यह आवश्यक है।

(3) आत्म की महत्ता की भावना का विकास

पहल व दायित्व (Initiative and Responsibility) की आदतें किशोर को आत्मविश्वास एवं स्वयं की महत्ता की भावना देती है। अतः किशोर में इन भावनाओं को विकसित किया जाना चाहिए। यदि किसी बालक को निरन्तर यह कहा जाए कि वह कुछ भी नहीं है, तो वह वास्तव में "कुछ भी नहीं" बन जाता है। यह उसके लिए कल्याणकारी नहीं है। बल्कि उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वह अपनी क्षमताओं को पहचाने, अपने पर एव अपनी क्षमताओं पर भरोसा करे। उसमें आत्म-विश्वास की भावना भरे। आत्म-विश्वास की भावना तभी विकसित होगी जबकि वह अपने कार्य स्वय करे। यदि वह अपने कार्य सतोषजनक ढग से करता है, तो इन अनुभवो से ही उसमे आत्मविश्वास की भावना भरती है और यदि असफलता मिलती है तो कुंठाओ का जन्म होता है। विभिन्न कार्यों में सफलता उसे और अधिक कार्य करने की उत्प्रेरणा देती है। यही कारण है कि मन्द बुद्धि व प्रतिभाशाली दोनो ही प्रकार के विद्यार्थी कक्षा में कोई कार्य नही होने के कारण समस्या बालक बन जाते है। मन्द बुद्धि मे कार्य करने की क्षमता नही है अतः वह फालतू बैठा रहता है तथा प्रतिभाशाली अपने कार्य को शीघ्रता से कर लेने के कारण फालतू हो जाता है।

(4) इष्टतम स्वास्थ्य बनाए रखना

मनुष्य शरीर एक इकाई है। यह व्यवहार प्रतिमानों का संग्रह है—इसके एक अंग मे भी यदि असन्तुलन हो जाता है, तो उसका कुप्रभाव अन्य अंगों पर भी पड़ता है। अतः व्यक्ति को शारीरिक एव मानसिक दोनों ही दृष्टिकोणों से स्वस्थ रहना चाहिए। क्योंकि रुग्ण शरीर को मानसिक समस्याएँ सरलता से दबोच लेती हैं और मानसिक रोगी का शरीर कभी निरोग नही रह सकता है।

(5) स्वयं को समझना एवं स्वीकार करना

किशोर को स्वयं को समझना चाहिए अर्थात् उसे अपनी सीमाओं और शक्तियों दोनों का ही ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान पूर्वाग्रह, द्वेष, अनुकम्पा आदि पर आधारित नही

होकर पूर्णतः वैज्ञानिक होना चाहिए। उचित व अशुद्ध निर्देशन द्वारा यह सम्भव हो सकता है कि वह जो कुछ है उसे स्वीकारे न कि जो वह चाहता है उसी की कल्पना में डूबकर सत्य को नकार दे। अर्थात् उसे स्वयं के प्रति ईमानदार बनना चाहिए। वह किशोर जो इस प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाता है अनावश्यक संवेगात्मक द्वन्द्वों से मुक्त रहेगा तथा सुखी रहेगा।

(6) अपने लिंग की भूमिका समझना

बालक का लैंगिक जीवन उसके जन्म से ही शुरू हो जाता है। यह माता-पिता का दायित्व है कि वह उसकी आयु-आवश्यकताओं एवं समझ के अनुसार उसे यौन-सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करते रहें। साथ ही उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाँच वर्ष के बालक को जो कुछ कहा गया है तथा 13 वर्ष के किशोर को जो कुछ कहना है, उसमें अन्तर नहीं आए। हाँ आयु के अनुसार कहने के तरीके में अन्तर अवश्य आएगा और आना भी चाहिए। परन्तु माता-पिता के उत्तर से किशोर को यह झलक नहीं मिलनी चाहिए कि उससे कुछ छिपाया गया है या 6 वर्ष पूर्व जो कुछ कहा गया था वह झूठ था। उसकी जिज्ञासाओं का भी उचित समाधान किया जाना चाहिए। इस प्रकार किशोर काम के प्रति उचित अभिवृत्ति विकसित करेगा तथा यौनारम्भ के समय के लिए अपने को तैयार कर पाएगा।

(7) सामाजिक चेतना का विकास

बालक जन्म से न तो सामाजिक होता है और न ही समाज विरोधी। वह तो एक ऐसे समाज में पैदा होता है, जिसके कुछ सांस्कृतिक प्रतिमान हैं। बचपन में यह संस्कृति उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वह तो अपनी शारीरिक आवश्यकताओं, भोजन, निद्रा, व्यायाम आदि की पूर्ति चाहता है। फिर धीरे-धीरे उसमें सामाजिक चेतना का उदय एवं विकास होता है।

किशोरावस्था में यह चेतना सर्वाधिक होती है। प्राक्किशोरावस्था में यह समूह, गुट एवं क्लबों के निर्माण में दिखाई देने लगती है। इसी का विस्तार किशोरावस्था में होता है। किशोर के लिए इसका विस्तार स्वास्थ्यकारी है।

(8) संगत तथा एकीकृत जीवनदर्शन प्राप्त करना

किशोर ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, वह संसार, जिसमें वह रहता है, उसके सम्बन्ध में, स्वयं के सम्बन्ध में और जीवन के उद्देश्यों के सम्बन्ध में कुछ-कुछ सोचने लगता है। अनेक प्रकार की विचारधाराओं से वह अवगत होता है। यह उसके सामने विभ्रम एवं द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। किशोर को इस दिशा में पूर्ण सहयोग मिलना चाहिए, ताकि वह एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण विकसित कर सके, तथा एक संगत जीवन-दर्शन का विकास कर सके।

यदि माता-पिता, अध्यापक एवं अन्य प्रौढ़ किशोर को उपरोक्त बिन्दुओं के लिए उचित निर्देशन दे सकें, तो निश्चय ही वह किशोर के स्वस्थ बनने में सहायता देकर उसका उपकार करते हैं।

यौन शिक्षा (Sex Education)

जैसा कि ऊपर व अन्यत्र बतलाया जा चुका है, काम-भावना बालक एवं किशोर के जीवन में अत्यधिक महत्त्व रखती है अतः उसका उचित विकास आवश्यक है। किशोरावस्था में ही किशोर को अपनी लैंगिक भूमिका भी समझनी, सीखनी एवं स्वीकार करनी होती है। बालक के उचित समायोजन के लिए भी यह आवश्यक है कि वह लैंगिक बातों को समझ सके।

यौन शिक्षा का अर्थ

बालक बालिकाओं को लिगीय भेद एवं काम-भावना की सही-सही जानकारी कराना एवं उन्हें काम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण प्रदान करना ही इस शिक्षण का उद्देश्य है, जिसके फलस्वरूप किशोर और किशोरियाँ सुन्दर एवं सफल सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकें तथा बुराइयों से बच सकें। अतः हम कह सकते हैं कि काम सम्बन्धी शिक्षण, वह शिक्षण है, जिसके द्वारा बालक और बालिकाओं का इस रीति से समुचित विकास हो कि उनमें से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके, वे अपने पुरुष और स्त्री जीवन का पूर्ण सुख भोग सकें, तथा स्त्री एवं पुरुष दोनों ही सुनियोजित और व्यवस्थित सामाजिक जीवन के विकास में कुछ योगदान दे सकें।

काम सम्बन्धी शिक्षण की प्रक्रिया शैशव-काल से ही प्रारम्भ होकर किशोरावस्था तक चलती रहनी चाहिए, जिससे बालक को लिंग सम्बन्धी जानकारी शुद्ध रूप से प्राप्त हो सके। शैशवकाल में माँ का यह कर्तव्य होता है कि वह बालक को काम-सम्बन्धी निर्देश दे एवं उचित मार्ग प्रदर्शन करे। सामान्यतः 3-4 वर्ष के बालकों का प्रायः यह प्रश्न होता है कि—"बच्चा कैसे पैदा होता है ?" इस प्रश्न का उत्तर माँ को स्पष्ट किन्तु सरल शब्दों में देना चाहिए ताकि बालक की जिज्ञासा अपूर्ण न रहे और वह जन्म के बारे में कोई भ्रान्त एवं भद्दी धारणा न बना ले। इस प्रश्न का यह उत्तर देना कि—"यह बालक परिचारिका ने दिया है अथवा ईश्वर ने भेजा है", त्रुटिपूर्ण है।

इस प्रकार के प्रश्न पर बालकों को डाँट दिया जाता है तो बालक की जिज्ञासा और तीव्र हो जाती है। वह हठपूर्वक किसी न किसी प्रकार से उसे जानने की चेष्टा करता है। किसी उपयुक्त उत्तर के न मिलने पर "जन्म" के बारे में वह कल्पना द्वारा अपनी धारणा बनाता है, जो प्रायः भद्दी और अनुचित होती है।

किन्तु इस बात का भी सदैव ध्यान रखना चाहिए कि यह शिक्षा आवश्यकता से अधिक इस प्रकार न दी जाए जो बालक में उत्तेजना को उत्पन्न करने वाली हो, वह हानिकारक होगी। अतिवादी सीमा से उसे सदैव बचाना चाहिए।

किशोरावस्था में लिंग भेद सम्बन्धी शिक्षा

किशोरावस्था में जबकि बालक तारुण्य को प्राप्त होता है, उससे पहले ही लड़कियों को उनके ऋतुस्राव के सम्बन्ध में और लड़कों को शुक्र एवं उसके स्राव के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करा देनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो किशोर स्राव को देखकर अत्यन्त भयभीत होता है और उसके सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ करता हुआ अपने को दोषी ठहराता है और लिंग अवयवों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणाएँ बना लेता है, जो बिल्कुल ही भ्रान्त एवं अशुद्ध होती हैं।

किशोर-काल प्रारम्भ होने पर जब स्वप्न-दोष आदि प्रारम्भ होते हैं, तो वे इसे पाप समझते हैं। उनकी धारणा है कि यह एक विशेष रोग है और वे उससे पीड़ित है। किशोरावस्था के कारण कुछ आलस्य भी आता है और नींद अधिक आती है। फलस्वरूप वे अपने को रुग्ण समझने लगते हैं। जब उनसे कहा गया कि यह तो इस उम्र मे स्वाभाविक है, तो उन्होंने विश्वास नही किया। यहाँ तक कि जब उन्हे डॉक्टर को दिखाया गया और वहाँ भी वही बात दुहराई गई, तब भी वे विश्वास करने को तैयार नहीं हुए। जब उनसे बार-बार कहा गया और जीव-शास्त्र की पुस्तको को पढने को दिया गया, तो उन्हे विश्वास आया, तब उनकी शारीरिक ही नही, मानसिक भ्रान्ति भी दूर हो गई। भारत मे इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं और व्यर्थ झूठे मानसिक कष्टों को सहने वाले हजारो नवयुवक और नवयुवतियाँ हैं, जिन्हे लिंग भेद और वीर्य सम्बन्धी जानकारी की बहुत आवश्यकता है। तभी वे इस भ्रम-जाल की बुराइयो से बच सकेंगे।

इस अवस्था मे सर्वथा उचित यही होगा कि लिंग भेद सम्बन्धी शिक्षा प्रौढ़, अनुभवी एवं योग्य व्यक्तियों द्वारा बालकों को दी जाए। पाश्चात्य देशों मे यह प्रथा प्रचलित है कि वहाँ कक्षाओं में लिंग भेद सम्बन्धी शिक्षा वयस्कों एव योग्य प्रौढ व्यक्तियों द्वारा दी जाती है। इस प्रकार की शिक्षा का प्रचलन वहाँ मनोविज्ञान के गहन अध्ययन और मनन के उपरान्त हुआ। कुछ लोगों के विचार से इस प्रकार का सामूहिक शिक्षण परमोपयोगी है किन्तु अन्य लोगो का मत है कि लिंग भेद सम्बन्धी शिक्षा सामूहिक रूप से एक कक्षा के रूप मे न देकर वैयक्तिक रूप से देनी चाहिए, क्योंकि किशोरो मे आपस मे वैयक्तिक भेद होता है, जिसके फलस्वरूप समान रूप से सभी को शिक्षा नहीं दी जा सकती और माता-पिता ही इस प्रकार की शिक्षा देने के सर्वथा योग्य एव उपयुक्त पात्र है।

किशोरावस्था की काम-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान एव उनके उपयुक्त हल के लिए लिंग भेद सम्बन्धी सूचना मात्र देना पर्याप्त नहीं है वरन् उसके बारे मे पूर्ण ज्ञान प्रदान करना चाहिए। काम-सम्बन्धी समस्याएँ क्यों और कैसे उत्पन्न होती है। इनका निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है अथवा सामाजिक दृष्टि से, जिन मूल-प्रवृत्तियो का प्रकाशन हम प्राकृतिक रूप से नही कर सकते, उनका शोधन किस प्रकार होना चाहिए। इन सभी तथ्यो से बालकों को अवगत कराना चाहिए। किशोर के लिए विविध प्रकार के ऐसे कार्यों का आयोजन कराना चाहिए, जिससे वह रचनात्मक कार्यों में भाग ले सके और अपनी काम जिज्ञासा की तुष्टि उन व्यावहारिक कार्यों के द्वारा कर सके। इस प्रकार अध्यापक किशोर को रचनात्मक कार्यों में लगाकर उसकी काम-शक्ति का मार्ग परिवर्तन कर सकता है। वह शक्ति अन्य दूसरे सृजनात्मक कार्यों में प्रयुक्त होकर व्यक्ति और समाज दोनों का लाभ कर सकती है। उसे एक नई दिशा मिल जाती है, जिसमे व्यस्त होकर वह कामुकता के गर्हित पक्ष को छोड़ बैठता है। साहित्य, कला एवं समाज-सेवा की भावना से अनुप्राणित होकर किशोर की काम-भावना सृजनात्मक कार्यों मे पर्यवसित हो जाती है, उसका उन्नयन एव मार्गान्तरीकरण हो जाता है, जिससे उसका शोधन होकर वह समाजोपयोगी कार्यों में योगदान देती है। किशोरावस्था मे बालचर और बालचारिका पद्धति अत्यन्त लाभदायक होती है। भ्रमण, समाज-सेवा, आत्म-निर्भरता से उसे परम आनन्द प्राप्त होता है और वह रचनात्मक कार्यों मे रत हो जाता है।

किशोर की लिंग-भेद सम्बन्धी शिक्षा बिना चारित्रिक शिक्षा के अधूरी होती है। वस्तुतः ये दोनों प्रकार की शिक्षाएँ एक-दूसरे की पूरक है। वे एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं और दोनों प्रकार की शिक्षा से किशोर की लिंग-भेद सम्बन्धी शिक्षा की पूर्ति होती है। यदि तरुण बालक अथवा बालिका को नैतिक एवं आदर्श सम्बन्धी अथवा धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी तो उसका पतन सम्भाव्य ही होता है।

बिना चारित्रिक और नैतिक शिक्षा के लिंग-भेद सम्बन्धी शिक्षा व्यर्थ ही नहीं वरन् हानिकारक भी सिद्ध होती है। किशोर की जिज्ञासा इस दिशा में अधिक तीव्र होगी और वह किसी न किसी प्रकार काम-भावना की तुष्टि का मार्ग खोजेगा, जो व्यक्ति और समाज दोनों की ही दृष्टि से हानिकारक है। लिंग-भेद के प्रति किशोर की रुचि वैज्ञानिक न होकर, कामुकतापूर्ण हो जाएगी और वह गर्हित भावनाओं एवं इन्द्रिय सस्पर्श की ओर झुक जाएगा। अतः लिंग-भेद सम्बन्धी शिक्षा देते समय सदैव नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षा भी साथ-साथ देनी चाहिए तथा किशोर का ध्यान आध्यात्मिक भावना की दिशा मे भी उन्मुख करना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा के बहुत ही सुन्दर परिणाम निकलते हैं। किशोर अवांछनीय कामुकता में अपने को नहीं फँसाता है तथा अवैध मैथुन को पापाचार एवं भ्रष्टाचार समझ उन कार्यों से दूर ही रहता है।

सारांश यह है कि किशोर को लिंग-भेद सम्बन्धी बुराइयों से बचाने के लिए उसे तत्सम्बन्धी शिक्षा अवश्य देनी चाहिए किन्तु वह शिक्षा किशोर की काम-भावना को उत्तेजना देने वाली और वासना को जगाने वाली न बन जाए इसलिए उसे आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा भी देनी चाहिए। नैतिक शिक्षा के बिना लिंग-सम्बन्धी शिक्षा अधूरी रह जाएगी। वह एकांगी होगी और व्यक्तित्व के विकास होने के स्थान पर उसके ह्रास की ओर उन्मुख होने की सम्भावना बनी रहेगी। अतः नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षण देना भी अनिवार्य एवं परम उपयोगी है।

सारांश

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सामाजिक कार्यकर्त्ता, मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षक सभी का ध्यान मानसिक समस्याओं की ओर गया। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति ही सुख-शान्तिपूर्वक रह सकता है, कल्याणकारी समाज की रचना में सहयोग दे सकता है। एक रुग्ण व्यक्ति स्वयं भी परेशान रहेगा और समाज के लिए भी बोझ रहेगा। वह अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं रख सकता। उसका पर्यावरण से समायोजन भी उचित रूप से नहीं होता। इससे कुंठाएँ उत्पन्न होती हैं। कुसमायोजन के कारण उनकी व्यवहार-स्थिति में या तो भगोड़ापन आ जाता है या वे समस्या बन जाते हैं। कुछ किशोर आक्रामक प्रवृत्ति को अपना लेते हैं, तो कुछ अपराधी बन जाते है तो कुछ अति अवरोधात्मक प्रवृत्तियों की शरण चले जाते है।

कुसमायोजन के तीन प्रारूप हो सकते है—असामाजीकृत आक्रामक व्यवहार, अति-अवरोधात्मक प्रवृतियाँ, सामाजीकृत-अपराधी व्यवहार।

किशोर मानसिक अस्वस्थता से सम्बन्धित कारको के तीन वर्ग है—

1. समायोजन मे बाधक कारक—वातावरण में परिवर्तन, रुचियों और अन्तर्नोद का संघर्ष और विरोध तथा यथार्थ अथवा काल्पनिक व्यक्ति दोष।

2. मानसिक अस्वस्थता की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले कारक—पर्यावरण, शारीरिक रचना और स्वास्थ्य तथा आनुवंशिकता।

3 मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न करने वाले कारक—तीव्र मानसिक संघर्ष अत्यधिक थकान, तीव्र संवेगात्मक तनाव, लैंगिक हताशाएँ, दमित भावना ग्रन्थियां, मानसिक दुर्बलता, हीन-भावना ग्रन्थि।

मानसिक अस्वस्थता एक सापेक्ष शब्द है। इसमे अनेक प्रकार की विकृतियाँ सम्मिलित हैं—लैंगिक विकृतियाँ, दैनिक मनोविकृतियाँ, मनोस्नायु विकृतियाँ।

किशोरावस्था मे तनाव और दबाव होते हैं। जो किशोर इनका दृढता से सामना नही कर सकते वे कुसमायोजन अथवा मानसिक विकारो से ग्रसित हो जाते है। फलस्वरूप वे अपराधी बन सकते है, हीन भावना के कारण आत्म-हत्या तक कर सकते है।

सरल मानसिक विकारों का उपचार पुन: शिक्षण विधि और मनो-अभिनय विधि से किया जा सकता है। जटिल मानसिक विकारों के लिए आघात-चिकित्सा, शल्य-चिकित्सा, मनो-विश्लेषण, संसूचन सम्मोहन विधियो मे से किसी का प्रयोग किया जा सकता है। मनो-अभिनय मे रोगी स्वय ही अपनी समस्याओं का अभिनय करते है और इस प्रकार उन पर नियन्त्रण पाते है। पुन. शिक्षण मे रोगी में आत्म-विश्वास उत्पन्न किया जाता है तथा संवेगो पर नियन्त्रण करना सिखाया जाता है। सामूहिक चिकित्सा में रोगी समूह मे एकत्रित होकर अपनी समस्याओं पर विचार-विमर्श कर उन्हें सुलझाते है। व्यावसायिक चिकित्सा मे रोगियों से उनकी स्थिति के अनुसार कुछ ऐसे कार्य कराएँ जाते है, जिनमें उन्हे अपनी उपयोगिता अनुभव हो और वे अपनी व्याधियो को भूलने लगे। अगुली चित्रण विधि द्वारा चिकित्सा में रोगी द्वारा अंगुली से बनाए गए चित्रों द्वारा उसकी दमित भावनाएँ प्रकट होती है और तनाव घटता है। निद्रा चिकित्सा में रोगी को दवाइयों द्वारा निद्रा में रखा जाता है, इससे भी उसे अपने आघातो को भूलने में सहायता मिलती है। मनो-विश्लेषण विधि का अन्वेषण फ्रायड ने किया था। उसने मुक्त साहचर्य, स्वप्न विश्लेषण आदि द्वारा रोग के कारण खोजे और उपचार किया। संसूचन विधि मे भावना परिवर्तन पर जोर दिया जाता है। रोगी को सम्मोहन द्वारा भी ठीक किया जाता है। आघात चिकित्सा मे रोगी को औषधियों या विद्युत् से आघात देकर उसके मनोविकार छिन्न-भिन्न किए जाकर ठीक किया जाता है। यदि सभी विधियाँ असफल हो जाती है तो शल्य-चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। संगीत द्वारा, समस्याओं से सम्बन्धित पुस्तको के अध्ययन द्वारा भी रोगी ठीक किए जाते है। इस प्रकार रोगी को रोग का ज्ञान देकर या आत्म-विश्वास पैदा करके या मन.स्नायु सम्बन्धो को तोड़कर या अतीत भुलवाकर रोगी का उपरोक्त विधियो द्वारा उपचार किया जाता है।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत: किशोर के लिए पोषक आहार, उपयुक्त चिकित्सा आदि की ओर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। इसके मुख्य कार्य दोषों का निराकरण करना, असामान्यताएँ न आने का प्रबन्ध करना तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है।

समाज मे समायोजन के लिए उत्तरदायित्व की भावना एवं आत्म-नियन्त्रण दोनो

ही आवश्यक हैं। किशोर के लिए इनकी अधिक आवश्यकता है। किशोरावस्था तनावों एवं दबावों से भरी पड़ी है, अतः इस अवस्था में मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण और मानसिक दोषों तथा व्यक्तित्व के असन्तुलन की रोकथाम की सबसे अधिक जरूरत है। इसके लिए विद्यालयों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। अध्यापकों को भी मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि अध्यापक स्वय भी मानसिक रूप से स्वस्थ हो।

विद्यालय के समान ही समुदाय की भी मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

स्वस्थ जीवन यापन के लिए निम्न बिन्दु आवश्यक है—(1) सुरक्षा की भावना का विकास, (2) सम्बन्धिता की आवश्यकता, (3) आत्म की महत्ता की भावना का विकास, (4) *इष्टतम स्वास्थ्य बनाए रखना, (5) स्वयं को समझना एवं स्वीकार करना, (6) अपने* लिंग की भूमिका समझना, (7) सामाजिक चेतना का विकास, (8) संगत एवं एकीकृत जीवन-दर्शन प्राप्त करना।

काम भावना किशोर के जीवन में अत्यधिक महत्त्व रखती है। इसी आयु मे उसे अपनी लैंगिक भूमिका सीखनी होती है। यौवन का आरम्भ भी इसी अवस्था मे होता है। अतः किशोर के लिए यौन शिक्षा आवश्यक है। इसके द्वारा वे लिंगीय भेद को समझते है, काम भावना की सही जानकारी प्राप्त करते है एवं काम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाते हैं। यौन शिक्षा के अभाव मे वे भ्रान्त धारणाओं से घिर जाते हैं और अनेक मानसिक कष्ट सहते हैं। इस शिक्षा को सबसे अधिक उत्तम रीति से माता-पिता ही दे सकते है।

यौन शिक्षा द्वारा किशोर को इससे उत्पन्न समस्याओ के ज्ञान के साथ-साथ उनके निराकरण एवं शोधन की विधियाँ भी ज्ञात होती हैं। इसके द्वारा वह कामुकता के गर्हित पक्ष को त्याग कर सृजनात्मक कार्यों में अपने को लगाता है। यौन शिक्षा के अतिरिक्त किशोर को नैतिक शिक्षा भी अवश्य दी जानी चाहिए।

□□□

अध्याय 13

किशोरावस्था एवं घर

सामान्य अवलोकन

किशोरावस्था जीवन का महत्त्वपूर्ण काल है—इसमे विभिन्न प्रकार की वृद्धियाँ होती हैं, जो कि शारीरिक, श्रावयविक एव मनोवैज्ञानिक सभी प्रतिमानो मे परिवर्तन लाती है तथा इस प्रकार बालक को युवा बना देती हैं। इन सभी वृद्धियों का विस्तार से अध्ययन पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। व्यक्ति मे परिपक्वता की दिशा में अग्रसर होने के साथ ही साथ अन्त प्रेरणा (urge) का भी विकास होता है। यह अन्त. प्रेरणा अत्यधिक शारीरिक शक्ति, कभी-कभी वर्धित एवं विकसित मानसिक शाति तथा सामाजिक आदर्शों एव महत्त्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण होती है। यह अंत प्रेरणा बाल्यावस्था से अभिव्यक्ति की खोज में रहती है। यह परिवार के नियन्त्रण को तोड़कर स्वतन्त्र रूप से चिंतन व कार्य करने की प्रेरणा देती है, ताकि वयस्क जीवन में व्यक्ति अपनी योजनाएँ स्वयं निर्मित कर सके।

परिवार से यह पृथक्करण शारीरिक कम व संवेगात्मक अधिक होता है क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य तो उन वस्तुओ व लक्ष्यों की प्राप्ति करना है, जिनकी कि वह वयस्क जीवन मे स्वतन्त्र रूप से अपेक्षा करता है। यह प्रक्रिया पारिवारिक बन्धनो से मुक्ति दिलाने वाली है।

किशोर यदि अन्त प्रेरणा (urge) के अनुसार स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर सकता है, तो उसे द्विविधा की स्थिति का सामना करना होता है। एक ओर माता-पिता उसकी बढ़ती हुई वृद्धि एवं परिपक्वता को मानने के अनिच्छुक होते हैं तो दूसरी ओर किशोर की स्वयं की स्वतन्त्र होने की भावना निरन्तर बढ़ती जाती है। ऐसे मे एक उलझनपूर्ण समस्या (conflictius situation) उठ खड़ी होती है। किशोर घर की दीवारो से निकल कर बाहर आना चाहता है, कतिपय नियन्त्रणों से छुटकारा चाहता है, परन्तु दूसरी ओर माता-पिता इस सबसे अनजान बने रह कर उसे वही सुरक्षा एव सरक्षण प्रदान करते रहना चाहते हैं, जिनकी बालक को तो आवश्यकता थी परन्तु किशोर को नही। किशोर की विपरीत इच्छाओं के परिणाम से उत्पन्न उलझनमयी परिस्थिति किशोर द्वारा जीवन मे दोहरी भूमिकाओं (dual roles) के निर्वाह मे प्रगट होती है।

इस प्रकार पूर्ववर्ती पीढी के साथ स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करना किशोर एव तरुण प्रौढ के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कार्य होता है। यह काम आसान नही है। दीर्घकाल तक किशोर अपने माँ-बाप पर निर्भर रहा है। वह रात-दिन उनसे सम्बद्ध रहता आया है। अब उसे एक पृथक् आत्म बनना है, एक ऐसा व्यक्ति, जिसने मानो अपने को पा

लिया हो और इसके लिए उसे एक निजी अस्तित्व तथा स्वाधीनता की उपलब्धि करनी होगी। एक मनोवैज्ञानिक अर्थ में अब उसे पितृभूमि का परित्याग करना होगा और आगे बढ़कर अपनी स्वाधिकारमयी सत्ता स्थापित करनी होगी।

पूर्णतः मुक्त होने के लिए किशोर को अपनी एक ऐसी स्थिति बनानी है, जिससे कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके; यह तय कर सके कि उसकी निष्ठाएँ किनके प्रति होंगी और माता-पिता से अलग होकर साथी से जुट सके। उसे अपने मूल्यों को अपनाना, निजी विचारों का रखना और जीवन के प्रति दृष्टिकोण का निर्माण करना सीखना होगा। यदि परिस्थितियाँ ठीक चलती रहें तो किशोर का विकास मुक्त वातावरण में होता रहता है, इसलिए नहीं कि भला बनकर अथवा प्रतिबन्धों से जूझकर उसने यह सुविधा प्राप्त की है, बल्कि इसलिए कि उसने एक निजी शक्ति अर्जित कर ली है। यदि उसमें इस प्रकार की आंतरिक शक्ति हो, तो उसे हर बातों मे सहमत होते हुए, न तो यह जिज्ञासा रखने की आवश्यकता प्रतीत होगी कि माता या पिता के ऊपर इस बात की क्या प्रतिक्रिया होगी, और न भीतर एक प्रतिरोधात्मक युद्ध जारी रखने की जरूरत पड़ेगी।

प्रारम्भिक अवस्था में परिवार के प्रभाव की महत्ता

शैशवावस्था मे परिवार का प्रभाव सबसे अधिक होता है। इन्ही दिनो उसमें अनेक आदतों का विकास होता है। जीवन-आयु में वृद्धि के साथ-साथ नई आदतें आती है। यद्यपि नई आदतें पुरानी आदतों से कुछ न कुछ ग्रहण करती चलती हैं। नई आदतों पर पुरानी आदतो का प्रभाव पड़े बिना नही रहता है। रोजेनहेम ने एक उदाहरण द्वारा इसको विस्तार से समझाया है। उन्होने एक तेरह वर्षीय बालक की आदतों का विश्लेषण किया। यह बालक जीवन के आरम्भ से ही माता-पिता के स्नेह से वंचित रहा अतः उसने दूसरों के प्रति स्नेह भावना रखना सीखा ही नही। न ही वह सम-आयु के लड़के-लड़कियों के साथ घुलमिल सका। बालक को उपचारात्मक निर्देशन दिए गए। इनका कुछ अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु प्रारम्भिक आयु का घरेलू वातावरण उसके मन-मस्तिष्क पर निरन्तर छाया रहा। इस कारण उसमे सामाजिक अनुक्रियात्मकता का अभाव रहा। अतः वह दूसरों के साथ अच्छे सामाजिक संबंध स्थापित करने मे असफल रहा। उसका व्यवहार भी अच्छे स्तर का नहीं रहा। आदर्शों के प्रति भी उसकी आस्था नहीं रही।

मनोवैज्ञानिकों ने बालक की प्रारम्भिक आयु में घर के वातावरण के प्रभाव के संबंध में अनेक अध्ययन किए हैं। उन सबसे यही निष्कर्ष निकला है कि माता-पिता की शिक्षा, परिवार का आकार, उसका आर्थिक-सामाजिक स्तर बालक के समायोजन के लिए इतना महत्वपूर्ण नही है, जितना कि उसकी आधारभूत आवश्यकताएँ जैसे प्रेम, सुरक्षा, अपनेपन की भावना आदि। परिवार द्वारा वांछित परिस्थितियों का बालक की रुचियों और अभिवृत्तियों के विकास पर समुचित प्रभाव पड़ता है। एन्डर्सन ने इसी प्रकार एक बालिका का अध्ययन किया। वह कक्षा 9 की छात्रा थी तथा उसकी बुद्धि-उपलब्धि मापाक 122 थी। इस बालिका को बचपन मे माता-पिता का भरपूर स्नेह मिला। उन्होंने इस पर कभी बहुत अधिक बन्धन नहीं रखे। अतः यह माता-पिता से संतुष्ट आत्म विश्वासी, हँसमुख, मिलनसार, संतुलित ढंग से बातचीत करने वाली बालिका थी। उसकी पर्याप्त संख्या में मित्र थी तथा उसके माता-पिता ने भी उसे मित्र बनाने की दिशा में कभी हतोत्साहित नही किया बल्कि उसके मित्रों को स्वीकार किया वे उसके घर भी आते जाते थे।

परिवार की विशेषताओं का वर्धित बोध

प्राक्‌किशोरावस्था और किशोरावस्था में अधिकांश बालक अपनी तथा दूसरों की उन विशेषताओं को अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने लगते हैं, जिनका संबंध उनकी प्रतिष्ठा और स्वाभिमान की भावना से होता है। कोई बालक, जो पहले कुछ बातों पर खास तरह से ध्यान देता हुआ नही जान पड़ता था, अब उन बातों पर गौरव अथवा लज्जा का अनुभव कर सकता है। परिवार के नाम पर उसे गर्व हो सकता है अथवा जो बातें पहले उसे खलती नही थी, उनके बारे मे अब उसे शिकायतें हो सकती हैं। माँ को अधिक स्वच्छ रहना चाहिए; छोटे भाई को इतने जोर से नही चिल्लाने देना चाहिए नहीं तो पड़ोस के लोग सुन लेंगे; अपने ही मजाकों पर पिता को इतने जोर से नही हँसना चाहिए; बहन को अपना मन ठीक कर लेना चाहिए और चलचित्र सम्बन्धी इतनी अधिक पत्रिकाएँ नही पढ़नी चाहिए। जो नववयस्क अब अपनी वेष-भूषा की चिंता करने लगा है, वह अपने माता-पिता की वेश-भूषा की फिक्र भी इस ढंग से करने लग सकता है, जिसका उसे पहले ख्याल नही आता था। कोई बालक, जो पहले अपने भाइयो और बहिनो की वेशभूषा तथा दूसरी विशेषताओं पर ध्यान ही नही देता था, अब उनकी ऐसी बातें देख सकता है, जो उसे पहले दिखाई नही पड़ती थी। उदाहरण के लिए एक बालक को लें, जिसके मन में यह प्रश्न ही नही उठा था कि उसकी बहिन, मेरी, सुन्दर है या नही क्योकि उस समय मेरी केवल मेरी ही थी और कुछ नही किन्तु अब उसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उसकी बहिन वस्तुत. काफी सुन्दर है।

किशोर की सुधारवादी भावना जीवन के अनेक क्षेत्रों में क्रियाशील हो सकती है। उदाहरणार्थ, वह हठ कर सकता है कि पुराने सोफे को हटा दिया जाए यद्यपि उससे अच्छी तरह काम चलता आ रहा है।

सुधार का यह आवेग सभी किशोरों मे नही होता परन्तु यह कुछ समय तक इतना प्रवल रूप धारण कर सकता है कि युवा व्यक्ति के साथ रहना कठिन हो जाता है। इस क्रम में यदि बालक मर्मस्पर्शी विषयो मे तथा ऐसे मामलो मे छेड़-छाड करता है, जिनमे पहले से ही माता-पिता अथवा परिवार के अन्य लोग हीनभावना मे ग्रस्त हैं, तो 'इन सब लोगों के लिए उसका यह अभियान एक कठिन परीक्षा का रूप ले सकता है। कभी-कभी माँ-बाप के लिए बालक की इस भावना को समझना सहज नही होता है कि यह बातें उसके मनोनुकूल न हुई तो उसका बहुत कुछ विगड़ जाएगा। यदि परिस्थिति ठीक चलती रहे, तो बालक जिन चीजों से आन्दोलित होकर आज सुधार करने पर इतना तुला हुआ है, कालान्तर मे उन चीजों से वह विचलित नही होगा। यदि माता-पिता इस तथ्य पर गौर करें, तो उन्हें तसल्ली हो सकती है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाएगी, उसे सम्भवतः पता चलेगा कि एक सीमा तक ही कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सुधार कर सकता है। इस तथ्य को समझना परिपक्वता का एक लक्षण है। वह अन्ततः यह भी समझ सकता है कि अन्य व्यक्तियों से भिन्न होने का जितना अधिकार उसे है, उतना ही उससे भिन्न होने का अधिकार दूसरो को भी है।

किशोरों तथा उनके माता-पिताओं की समान चिन्ताएँ

स्वतन्त्र रूप से बढते जाने का प्रयास करते हुए भी किशोर को अपने माँ-बाप के परामर्श और स्नेह की आवश्यकता बनी रहती है। यद्यपि विकास के सामान्य क्रम मे उसे

संभवतः प्रचुर एकांतता की चाह रहती है, तथापि ऐसे प्रौढ़ों का होना उसके लिए हितकर है, जिन्हें इच्छा होने पर वह अपना हृदय खोलकर दिखा सके। माँ-बाप से स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टाएँ वह करता है, किन्तु उनका सहारा उसे अब भी चाहिए।

किशोरावस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ तो वही हैं, जो किशोर के अपने जीवन में घटित होती हैं किन्तु उसके माता-पिता के जीवन वृत्त में भी यह अवस्था महत्त्व रखती है। जब परिस्थितियाँ प्रायः ठीक चलती हैं, तो माँ-बाप के जीवन में यह बहुत ही तोषप्रद भूमिका अदा करती हैं। एक नया जीवन मानो उनकी आँखों के सामने प्रस्फुटित होता रहता है; तथापि इस नवीन सृष्टि में अतीत के सभी परिचित एवं प्रिय लक्षण विद्यमान रहते हैं। यदि शारीरिक विकास को ही लें, तो इस विकासक्रम को देखते जाना बड़ा ही आकर्षक जान पड़ता है। जो कभी छोटा बच्चा था, वह बढ़कर पिता के बराबर या उससे भी अधिक लम्बा हो गया है। इससे भी अधिक परितुष्टि उस अभिनय में भाग लेने से होती है, जिसका आरम्भ उस समय होता है, जब किशोर प्रौढ़-युवकोचित अधिकारों और सुविधाओं की माँग जोर देकर करने लगता है। यह नाटक कभी शांतिपूर्वक चलता है और कभी अशांतिपूर्वक। वह रात में बाहर जाने और चलचित्रों एवं पार्टियों में जाने की माँग करता है; किसी एक ही प्रेमपात्र से मिले-जुले या नहीं, इस पर विवाद करता है। परिवार की मोटरगाड़ी चलाना या इतने पैसे बचाना जिससे कि अपनी निजी गाड़ी खरीद ले, पारिवारिक विचार-विमर्शों में अधिक भाग लेना, परिवार की अर्थव्यवस्था में विशेष रुचि दिखाना, भविष्य के लिए ऐसी योजनाएँ बनाना, जो घर से उसे सदा के लिए अलग कर दें, और इसी प्रकार के कुछ अन्य अधिकारों की वह माँग करता है।

बालक के विकास क्रम में होने वाली इस प्रकार की बहुत सी बातें किसी स्नेही माँ-बाप को सुखद लगती हैं किन्तु अनेक उद्विग्नताएँ और शंकाएँ भी उन्हें होती हैं। मानव-व्यापारों के बीच किसी परिवार की स्थिति जितनी अच्छी हो सकती है। उतनी अच्छी हो, तो भी माँ-बाप को ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, जिनका पूरा-पूरा समाधान करना उनके लिए संभव नहीं है। इसका अर्थ यह होता है कि बहुतेरी व्यावहारिक बातों में किशोर का जीवन अपने माता-पिता के किशोरकालीन जीवन से भिन्न हो जाता है। अपने किशोर जीवन में उसके माँ-बाप, जो उम्मीदें किया करते थे, अब अनेक परिवारों में किशोर की माँगें उनसे बहुत भिन्न होती हैं, या कम-से-कम बहुत भिन्न प्रतीत होती हैं। वह ऐसी सुविधाएँ चाहता है, ऐसी स्वाधीनता की उम्मीद करता है, जिनमें भारी अंतर पड़ गए हैं। ऐसा नहीं है कि ये व्यावहारिक बातें सदा ही कठिन समस्या उत्पन्न करती हों किन्तु जब कोई नैतिक प्रश्न इनसे उलझा रहता है, तो यह सहज ही चिन्ता का कारण बन सकती है। चिन्ता तब और अधिक बढ़ सकती है, जब किशोर ऐसी समस्याओं के समाधान में लगा हो, जो माता-पिता के जीवन की किन्हीं समस्याओं से सम्बद्ध हों और जिनका समाधान स्वयं नहीं कर सके हों।

किशोरों के संपर्क में आने वाले बहुतेरे प्रौढ़ व्यक्ति किसी हद तक स्वयं "किशोर" ही बने रहते हैं। किसी किशोर के माँ-बाप स्वयं भी किशोर ही हैं यदि वे ऐसे अंतर्द्वन्द्वों और अविघटित समस्याओं (unresolved problems) से पीड़ित हैं, जो उनके अपने किशोर जीवन से उद्भूत हैं। उदाहरणार्थ, हम उन समस्याओं को ले सकते हैं, जिनका

सम्बन्ध सेक्स कार्य, अपने और दूसरों के उत्तरदायित्व, अधिकारियों के प्रति अभिवृत्तियों आदि से है। यदि वे दूसरों की रायों पर बहुत अधिक निर्भर हैं, अपने विवेक में विश्वास नहीं रखते, और जो कुछ सोचते और करने का निश्चय करते हैं, उसमें बच्चों की तरह दूसरों का सहारा चाहते हैं, तो समझना चाहिए कि वे अभी तक अपनी किशोर मनोवृत्ति से जूझ रहे हैं। ऐसे माता-पिता के समक्ष जब उनकी बालिका या बालक उनकी निजी समस्याओं से बहुत कुछ मिलती जुलती समस्याएँ खड़ी कर देते हैं, तो वे संत्रस्त हो सकते हैं।

यह देखकर सांत्वना होती है कि बहुतेरे माता-पिता तथा किशोरों के सम्पर्क में आनेवाले अन्य प्रौढ़ व्यक्ति स्वयं ही उन समस्याओं से जूझ रहे हैं, जिनका सामना किशोरों को करना पड़ता है। इस विचार से किशोरों का दायित्व वहन करने वाले प्रौढों को प्रोत्साहित होकर एक-दूसरे के प्रति और स्वय अपने प्रति संवेदनशील होना चाहिए। यह बात अधिकाश प्रौढ़ों के साथ लागू होती है, क्योंकि ऐसे आश्वस्त एवं शांतिचित्त प्रौढ़ व्यक्ति शायद बहुत कम ही मिलेंगे, जिन्हें किशोर को परेशान करने वाली किसी भी समस्या से कोई शंका या उद्विग्नता नही रही हो।

इस विचार का एक अन्य तात्पर्य यह है कि किशोर को समझने की चेष्ठा मे प्रौढ़ व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को समझने का प्रयास करे। यह सभी परिस्थितियो मे किया जाना चाहिए, किन्तु यह खास तरह से उस स्थिति में आवश्यक है जबकि किसी प्रौढ व्यक्ति को उसकी अपनी किशोरावस्था से संबद्ध अंतर्द्वन्द्वों ने इस प्रकार चौंधिया दिया है, कि वह किशोर को यथार्थ रूप में देख नहीं पाता और उसकी चिन्ताओं को इतना तीक्ष्ण बना देता है कि पर्याप्त सवेगात्मक स्वतन्त्रता के अभाव मे किशोर से थोड़ा भी तादात्म्य वह स्थापित नही कर पाता है।

माता-पिता के व्यवहार के प्रकार

माता-पिता का व्यवहार बालकों के प्रति कैसा होता है, यह उनके बालकों संबंधी समझ तथा अपने विश्वासों पर आधारित होता है। इसके अतिरिक्त उनके स्वयं के जीवन के अनुभव, उनके आदर्श व विश्वास, उनकी आशाएँ, निराशाएँ, कुंठाएँ, संतुष्टियाँ आदि भी उसमे प्रतिबिम्बित होती हैं। माता-पिता व बालको के परस्पर सम्बन्धों में ये सब बातें अत्यन्त महत्त्व की है। माता-पिता के व्यवहार के सम्बन्ध में किए गए एक अध्ययन में फ़ैल्स को "माता-पिता व्यवहार मापनी" (Fels Parent Behaviour Scales) का प्रयोग किया गया।

इस अध्ययन पर आधारित सलक्षणों (syndromes) के आधार पर व्यवहार के निम्न रूप हैं—

1 अस्वीकरण (Rejectant)
2 आकस्मिक व्यवहार (Casual types of behaviour)
3 स्वीकरण (Acceptant)
4 अतिरक्षण (Over-protection)
5. प्रभाविता (Authority)

1. अस्वीकरण

कुछ माता-पिता अत्यधिक व्यस्त होते है, अतः बालक को समय नही दे पाते । बालक अपने को तिरस्कृत अनुभव करता है । या वे खुल्लमखुल्ला बालक की हर बात का, हर इच्छा का, हर व्यवहार का अनादर करते है । बेट्टी की माँ श्रीमती मैककेने एक ऐसी ही महिला थी । उन्हे बेट्टी के लालन पालन में कोई रुचि नही थी । उन्हे बालक की सार संभाल के दायित्व से चिढ़ होती थी । अतः वे बेट्टी के हर कार्य के प्रति खीझती रहती थी। यदि उसकी इच्छा आइसक्रीम खाने की होती, तो वे उसे यह झिड़की देकर रोक देती कि वह कपड़े गन्दे कर लेगी । वह बाहर जाना चाहती, तो सोचती दरवाजा खुला छोड़कर चली जाएगी । कहने का अर्थ यह है कि उसके हर कार्य व व्यवहार से वह क्रोधित रहती थी । इसके अतिरिक्त उनका व्यवहार सदैव एक सा भी नही था । एक ही आचरण पर कभी तो वे बेट्टी को झिड़क देती, सजा देती, और कभी ध्यान ही नही देती । अतः बेट्टी अपनी माँ की अधिकार भावना का उद्दंडता से सामना करने लगी । विद्यालय में भी वह निष्क्रिय रहती ।

2. आकस्मिक व्यवहार (Casual types of behaviour)

कतिपय माता-पिता ऐसे भी होते हैं, जिनका व्यवहार सर्वदा समान नहीं होता-न तो यही कहा जा सकता है कि वे बालक को स्वीकृत करते है और न ही यह कि उन्हे वह अस्वीकार्य है । ऐसे माता-पिता अपने व्यवहार में अस्थिर होते है, वे किसी एक समय तो बालक को स्वीकार कर लेते है और दूसरे समय अस्वीकार । इस प्रकार के आकस्मिक व्यवहार का दो सामान्य रूपों में वर्गीकरण किया जा सकता है—

(अ) कभी-कभी निरंकुश (Casually autocratic)—माता-पिता के कभी-कभी निरंकुश व्यवहार वाले परिवार का खाका एक सर्वदा निरंकुश परिवार से भिन्न होता है, जिसमें माता-पिता एकदम निष्क्रिय नहीं रहते बल्कि अपनी सत्ता का कुशलता से प्रयोग करते हैं । एक निरंकुश परिवार में माता-पिता की इच्छा प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक समय मे बालक से श्रेष्ठ समझी जाती है । इन परिवारों में माता-पिता व बालकों के मध्य वांछित ऊष्मा का भी अभाव रहता है । प्रजातांत्रिक परिवारों की तुलना मे यह परिवार अधिक बिखरे हुए, असमंजित, निष्क्रिय, लड़ाके व मन्दबुद्धि होते है । इस कारण बच्चों के बौद्धिक विकास में बाधा आती है तथा उनमें मौलिकता, पहल, उत्सुकता और साधन सम्पन्नता आदि गुणों का भी पर्याप्त विकास नही हो सकता ।

(ब) कभी-कभी अतिरक्षणात्मक (Casually Indulgent)—ऐसा कोई उत्प्रेरक नही है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि माता-पिता कभी-कभी उदार व्यवहार क्यों करते हैं । सामान्य मान्यता यह कि वे इसे सरलतम मार्ग मानते है । उदाहरण के लिए रॉबर्टस का परिवार लिया जा सकता है ।

श्रीमती रॉबर्ट्स के पास अपनी पुत्री इवेलिन की देखभाल किस प्रकार की जाए, इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट धारणा नही थी, सिवाय इसके कि उनके माता-पिता उनके प्रति कठोर थे और वे स्वयं अपने बच्चों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार चाहती थी । अतः वे इवेलिन के किसी भी कार्य या व्यवहार में हस्तक्षेप नही करती थी । उनके परस्पर सम्बन्ध अच्छे व स्वस्थ थे । इवेलिन जैसा भी चाहे करने को स्वतंत्र थी । परिणाम यह हुआ कि

परिवार से बाहर स्टेनिन कायर थी। वैसे कभी-कभी वह भयंकर रूप में आक्रामक भी बन जाती थी। उसका इस प्रकार का व्यवहार उसको विद्यालय में सामंजस्य स्थापित करने में अड़चन डालने लगा तथा बाद के जीवन में सामाजिक समायोजन में भी उसे कठिनाई आती रही।

3. स्वीकरण (Acceptance)

स्वीकरण तीन प्रकार का हो सकता है—

1. अतिरक्षणात्मक (indulgent)—जो उदार विचार रखते हैं, परन्तु प्रजातान्त्रिक नहीं होते।
2. प्रजातंत्रात्मक (democratic)—जो प्रजातांत्रिक विचार रखते हैं परन्तु उदार नहीं होते।
3. प्रजातंत्रात्मक-अतिरक्षणात्मक (democtatic indulgent)—उपरोक्त दोनों का मिला-जुला रूप।

सामान्य प्रजातंत्रात्मक परिवार में परिवार के सभी सदस्यों में अच्छा समायोजन होता है तथा वहाँ परिवार के किसी भी सदस्य के प्रति आवश्यकता से अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है। इन परिवारों में स्नेह एवं सामरस्य पाया जाता है तथा किसी व्यक्ति विशेष की ओर वे केन्द्रित नहीं होते। जबकि अतिरक्षणात्मक परिवारों में सामरस्य तो अच्छी मात्रा में पाया जाता है परन्तु वे बालकों की ओर अत्यधिक केन्द्रित होते है। प्रजातंत्रात्मक अतिरक्षणात्मक परिवारों में इन दोनों ही वर्गों का एक अच्छा सामंजस्य होता है। यह अतिरक्षण एवं ठंडी उदासीनता का मध्य मार्ग होता है। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि परिवारों में इस प्रकार के व्यवहारों का कोई स्पष्ट वर्गीकरण नहीं होता। परन्तु वे परिवार जो स्वीकरण प्रतिमान को लेकर चलते है उनमें प्रजातंत्रात्मक एवं अतिरक्षणात्मक व्यवहार पाए जाते हैं; उनकी मात्रा कम व अधिक हो सकती है।

बाल्डिवन द्वारा वर्णित जैम्सन परिवार इसकी पुष्टि करता है। यह परिवार स्वीकरण के प्रजातंत्रात्मक वर्ग में आता है।

माता-पिता परिवार व बच्चों की समस्या को बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से लेते है परन्तु साथ ही साथ मानवीय सम्बन्धों का भी ध्यान रखते हुए परिवार के सभी सदस्यों को नीति निर्धारण एवं योजना निर्माण में सम्मिलित करते हैं। ऐसा करते समय बालकों की आयु व क्षमता का पूरा ध्यान रखा जाता है। उदाहरण के लिए पाँच वर्षीय डेल को पूरा अधिकार था भोजन, खेलकूद एवं उसके प्रतिदिन के जीवन सम्बन्धी बातों के लिए निर्णय लेने का। उसकी पसन्द को बड़ों की पसन्द के नीचे दबा नहीं दिया जाता था। हाँ, साथ ही साथ उसे इस बात का भी स्पष्ट आभास दे दिया गया था कि कुछ बातों में निर्णय बड़ों के द्वारा ही लिया जाएगा। वैसे श्रीमती जेन्सन डेल के प्रति स्नेह व प्यार अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। यहाँ तक कि बिल्ली ने एक बार उसके खरोंचें कर दी तब भी उन्होंने उसके प्रति न तो विशेष ध्यान दिया और न ही सहानुभूति दिखाई। इस परिवार में मित्रता बौद्धिक स्तर पर अधिक है। इसमें अपनत्व एवं रक्षण की भावना कम है। श्रीमती जेन्सन की यह भी हार्दिक इच्छा थी कि डेल अन्य बालकों से उत्कृष्ट

बनें। अतः वे अपने व्यवहार में इस बात से एक बड़ी सीमा तक उत्प्रेरित थीं। उन्होंने डेल को प्रयोग, खोज, अन्तर्दृष्टि-प्रयोग आदि के सभी अवसर उपलब्ध कराए। अल्प-आयु में ही उसने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। यहाँ तक कि वह वार्तालाप एवं भाषा के विकास की दृष्टि से पूर्ण प्रौढ़ता का परिचय देने लगा। मौलिकता एवं कल्पनाओं की उड़ान के सभी क्षेत्रों से वह अपने साथियों से कहीं आगे था।

उसमें पूर्व प्रौढ़ता से भी अधिक हिंसक एवं अति आक्रामक भावना थी। वह किसी से भी डरता नहीं था। वह चलते रास्ते बच्चों को काट दिया करता था, अपने सम्बन्धियों एवं अध्यापकों से भी झगड़ पड़ता था। यह शायद शैशव में प्राप्त असुरक्षा की भावना का विस्फोट था। बाल्यावस्था में उसे आवश्यक संवेगात्मक प्यार भरा वातावरण नहीं मिला था। यह जैन्सन परिवार के उच्छृंखल वातावरण का प्रतिफल था। परन्तु जब उसने विद्यालय में प्रवेश लिया तथा अपने सहपाठियों के सम्पर्क में आया तो, सामाजिक स्वीकृति की भावना ने उसके व्यवहार में सुधार किया।

4. अतिरक्षण

कभी-कभी स्वीकरण के प्रयत्न में प्रौढ़ अतिरक्षणात्मक अभिवृत्तियों की ओर झुक जाते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार अतिरक्षण भी उतना ही हानिकारक है जितना कि अस्वीकरण। किशोर में सुधार लाने का प्रयत्न नहीं किया जाकर उसकी प्रत्येक इच्छा के आगे झुक जाना और इस प्रकार हर प्रकार का रक्षण देना, उसके लिए हानिकर है।

5. प्रभाविता

यदि माता-पिता प्रेम की अभिव्यक्ति किशोर को प्रभावित करने के रूप में करते है तो यह भी कई कठिनाइयों को उत्पन्न कर देती है। यदि यह प्रभाविता स्वीकरण के रूप में होती है तो और भी अधिक उलझनपूर्ण एवं निराशाजनक होती है।

पारिवारिक प्रभुता (Family authority)

पारिवारिक प्रभुता से तात्पर्य है परिवार की गतिविधियों से सम्बन्धित बातों पर नियंत्रण। परिवार पर नियंत्रण करने वाले दो माता-पिता ही होते है, परन्तु यह नियंत्रण अनेक प्रकार से किया जा सकता है या फिर दोनों के ही द्वारा किया जा सके, इस प्रकार से बँटवारा हो सकता है।

एच. एल. इन्गरसोल[1] ने 37 परिवारों का गहन अध्ययन किया था। अपने इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने पारिवारिक प्रभुता के निम्न प्रकार पाए।

प्रभुता प्रतिमानों के प्रकार

1. मातृ-नियंत्रण-निरंकुशता (Mother controlled-autocratic pattern)
2. मातृ-नेतृत्व-प्रजातंत्रात्मकता (Mother led-democratic)
3. संतुलित नियंत्रण (Balanced Control)

---

1. एच. एल. इन्गरसोल, "ए स्टडी ऑफ ट्रांसमिशन ऑफ आथोरिटी पैटर्न्स इन द फेमिली", जैनेटिक साइकोलोजी मोनोग्राफ्स, 1946 अंक 38 पृ० 287-293.

समतावादी-प्रजातंत्रात्मक (Equalitarian-democratic)
समतावादी-अतिरक्षणात्मक (Equalitarian-indulgent)
समतावादी-तटस्थ्यात्मक (Equalitarian-laissez-faue)
समतावादी-द्वन्द्वात्मक (Equalitarian-conflicting)

4. पितृनियंत्रण-निरंकुशता (Father-controlled-autocratic)
5. पितृ नियंत्रण-मिथ्या-निरंकुशता (Father-controlled-pseudo-autocratic)
6. पितृ नेतृत्व-प्रजातंत्रात्मकता ((Father-led-democratic)

माता द्वारा नियंत्रित परिवारों में पति निष्क्रिय रहता है। वह पत्नी के प्रति उदासीन रहता है तथा बच्चों के पालन-पोषण की समस्याओं को पत्नी पर छोड़ देता है। उसे अपने परिवार से बाहर के लोगों की मित्रता अच्छी लगती है। पत्नी भी वैवाहिक सम्बन्ध और पति का निरादर करती है। कभी-कभी माता-पिता के स्नेह सम्बन्धों में बिखराव भी आ जाता है। ऐसे स्थिति में माँ किसी बालक को प्यार देती है, तो पिता किसी दूसरे को।

माता के नेतृत्व में चलने वाले परिवारों में परिवार के कार्य माता-पिता के संयुक्त निर्णय से चलते हैं परन्तु उनमें पहल व नेतृत्व माता का होता है। ऐसे परिवारों में स्नेह व उष्मा बनी रहती है। हाँ यह अवश्य है कि माँ का व्यक्तित्व सबल होता है तथा बच्चे भी उसके प्रति अधिक अनुराग रखते है। बच्चों का पालन-पोषण व व्यक्तित्व निर्माण माता-पिता मिल-जुल कर करते हैं।

जिन परिवारों में नियंत्रण का स्वरूप समतावादी होता है, माता-पिता मिल बैठकर परिवार की मान्यताओं एवं परम्पराओं के अनुसार अधिकार विभाजन कर लेते हैं। यह प्रथा शिक्षित परिवारों में पाई जाती है। माता-पिता मिल-जुलकर बालकों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं, और उन क्षेत्रों को जहाँ माता की योग्यता व क्षमता अधिक होती हैं, माता सभालती है तथा पिता की योग्यता व क्षमता अधिक होती है, पिता संभालते है। इस नियंत्रण का तरीका प्रजातान्त्रिक भी हो सकता है, जहाँ बालकों को दायित्व सौंपा जाता है तथा उनका अपना भी कुछ व्यक्तित्व है यह भावना उत्पन्न की जाती है। समतावादी नियंत्रण अतिरक्षणात्मक भी हो सकता है। यह भी संभव है कि दोनों ही माता-पिता बालक की उपेक्षा कर दें, या फिर द्वन्द्व की स्थिति बनी रहे तथा बालक भी उलझन में भटकते रहें।

वे परिवार, जहाँ पिता का नेतृत्व प्रजातंत्रात्मक पद्धति से है, पिता के नेतृत्व में परिवार का कार्य चलता है। माता-पिता के बीच मधुर सम्बन्ध होते हैं; माता संवेगात्मक रूप से अपने को अधिक सुरक्षित समझती है तथा घर का प्रबन्ध एवं बालकों का लालन-पालन पिता की सहमति से तैयार योजना के अनुसार करती है। पिता के नेतृत्व में चलने वाले परिवार के अनेक रूप हो सकते हैं, यह भी होता है कि पिता अपने नियंत्रण में अत्यन्त कठोर बन जाये तथा निरंकुशता का रूप लेले। ऐसी स्थिति में पिता अपने को घर का स्वामी समझता है। ऐसे परिवारों में माता-पिता में टकराव होना साधारण बात होती है।

पारिवारिक प्रभुता के प्रतिमानों में एक स्वरूप तटस्थ्यात्मक भी होता है। इसमें

पिता अधिकांश कार्य माता पर छोड़ देता है। माता भी बालकों के आचरण के कुछ निश्चित स्तर बना देती है परन्तु माता-पिता दोनों ही बालकों पर इस बात के लिए बल नहीं देते है कि वे उन सबके अनुसार ही चलें। ऐसी स्थिति में बच्चे मनमानी करते हैं तथा उनके हृदय में माता-पिता के लिए आदर भाव भी कम होता है। ऐसे घरों में पारिवारिकता की भावना न्यूनतम होती है तथा स्नेह भी यदा-कदा पाया जाता है। सबके अपने-अपने रास्ते होते हैं।

पारिवारिक प्रतिमानों का किशोर पर प्रभाव

पारिवारिक प्रतिमानों का किशोर के व्यक्तित्व के विकास पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है। जिन परिवारों में सत्ता का प्रयोग निरंकुशता से किया जाता है, किशोरों के मन में घर त्याग देने की बलवती इच्छा रहती है। शहर में रहने वाली किशोरियों में यह भावना और भी अधिक रहती है क्योंकि नगरों में रहने वाले परिवार अपनी लड़कियों के प्रति अधिक रक्षणात्मक व्यवहार रखते हैं। देहाती क्षेत्रों के प्रजातांत्रिक परिवारों में यह भावना नही के बराबर पाई जाती है। इसी प्रकार से प्रजातंत्रात्मक परिवारों में पलने वाले किशोरों में समायोजन की समस्या निरंकुश परिवारों से कम मात्रा में पाई जाती है। प्रजातांत्रिक परिवारों के किशोर माता-पिता के अधिक निकट रहते हैं, उनमें परस्पर अधिक स्नेह भाव रहता है तथा उन्हें बहुत कम निराशाओं का सामना करना पड़ता है। इन परिवारों के किशोर सामाजिक कार्यों में भी बिना किसी रोक-टोक के हिस्सा ले सकते हैं, अतः उनका सामाजिक विकास भी सुन्दर एवं सुखकारी होता है। इनके आचरण आदेशात्मक की अपेक्षा सहकारी होते हैं। अतः इनका अहम व बुद्धि का विकास किशोर की मुक्ति की ओर होता है।

पारिवारिक झगड़े

माता-पिता का व्यवहार

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, अपने लड़के लड़कियों के प्रति माता-पिता के व्यवहारों में बड़ी भिन्नता पाई जाती है। कुछ माता-पिता, अपने किशोरों का अत्यन्त ही कोमलता व मृदुलता से लालन पालन करते हैं तो कुछ कठोर अनुशासन रखते हैं। माता-पिता को बच्चों के प्रति कोई भी कदम उठाने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि सामान्य रूप से वृद्धि एक क्रमिक एवं निरन्तर प्रक्रिया है, जिसका प्रत्येक चरण व्यक्ति को उससे अगले चरण के लिए तैयार करता है।

परडयू यूनीवर्सिटी ओपीनियन पोल द्वारा सन् 1948 में किए गए सर्वेक्षण के आधार पर यह सूचना ली गई कि माता-पिता द्वारा किशोरों की समस्याओं की समझ के सम्बन्ध में स्वयं किशोरों के क्या विचार हैं ? यह सर्वे 10,000 विद्यार्थियों का किया गया था। माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत विद्यार्थियों से यह प्रश्न पूछा गया था, "तुम क्या सोचते हो कि आजकल के माता-पिता अपने किशोरों की समस्याओं को समझते है, अथवा नही ?" इस प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार था।

समझते है—35 प्रतिशत

नही समझते है—56 प्रतिशत

कोई निश्चित उत्तर नहीं—9 प्रतिशत

इस प्रकार केवल एक तिहाई विद्यार्थी यह मानते हैं कि उनके माता-पिता किशोरों की समस्याएँ समझते हैं; शेष तो यही सोचते है कि माता-पिता उनको अच्छी तरह नहीं समझ पाते है। शायद प्रत्येक पीढ़ी यही समझती है कि हमें गलत समझा जा रहा है। इस प्रकार की अभिवृत्ति माता-पिता तथा किशोर के सम्बन्धों मे रुकावट का कार्य करती है।

इस सम्बन्ध में स्टॉट ने भी अध्ययन किए तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे घरेलू परिस्थितियाँ जहाँ माता-पिता दोनों के ही अधिकार से किशोर को कुछ मुक्ति मिलती है, किशोर के आत्म-विश्वास के विकास के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं।

माता-पिता से संघर्ष

माता-पिता किशोरो पर कुछ प्रतिबन्ध लगाते है, इससे किशोरो एवं माता-पिता के बीच असहमति की भावना उत्पन्न होती है। इनके बीच सबसे बड़ा टकराव रात्रि के समय बाहर जाने का है। यह समस्या दो विभिन्न स्तरों के समायोजन या द्वन्द्व के कारण है। एक ओर माता-पिता चाहते है कि किशोर रात्रि के समय घर से बाहर नही जाए या अधिक रात्रि तक घर से बाहर नही निकले, दूसरी ओर उनके मित्र चाहते है कि वे उनके साथ रात्रि को भी बाहर ही रहें। ऐसी व अनेक अन्य समस्याएँ झगड़े का कारण बनती है परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि ऐसा सभी परिवारों में होता है। न तो हर किशोर मुक्ति के लिए संघर्ष करता है, और न ही सभी माता-पिता किशोर को स्वतन्त्रता देने मे हिचकिचाते है।

निर्भरता-त्याग एवं मुक्ति की प्रक्रिया

(The process of weaning and emancipation)

किशोर जब बालक था, माँ के स्तनो पर शारीरिक निर्भरता से छुटकारा पाना उसके लिए आवश्यक हो गया था। तरुणाई मे प्रवेश करते समय अब उसके लिए यह आवश्यक है कि वह माता-पिता पर संवेगात्मक निर्भरता से, मनोवैज्ञानिक अर्थ मे, छुटकारा पा जाए। निर्भरता-त्याग की प्रक्रिया बालक एव माता-पिता दोनो ही के लिए बहुधा कठिन होती है। जैसा कि हम कह चुके हैं, प्रौढ़ व्यक्तियों में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें इस निर्भरता से छुटकारा नहीं मिला होता है। ये ऐसे लोग होते है, जिनकी उम्र चाहे बीस-पच्चीस हो या तीस-पैंतीस हो या साठ-पैंसठ कुछ भी हो, जिन्हें सदा दूसरों के संवेगात्मक सहारे की आवश्यकता होती है। वे सदा अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा करते है; किसी की स्वीकृति चाहते हैं और कुछ करने के लिए आगे कदम बढाने के पूर्व किसी के संकेत की प्रतीक्षा करते है। किसी मातृ या पितृ मूर्ति से आलोचना या सजा तक की भी अपेक्षा रखते है। यह "माता" या "पिता" उनके अपने माँ-बाप हो सकते हैं, अथवा यह उनसे छोटा या बडा कोई साथी हो सकता है, या इस स्थान पर हम उनके पति या पत्नी को भी पा सकते है।

सारणी 13.1

विभिन्न वर्ग-स्तरों पर उन बच्चों का प्रतिशत, जिन्होंने बतलाया कि किसी बात के सम्बन्ध में चिन्तित होने पर वे "माता या पिता से बातें करते हैं" अथवा "मित्र से बातें करते हैं।"

	विद्यालय वर्ग	VI	VIII	X	XII
किशोर बालिकाएँ	माता या पिता	81	68	56	43
	मित्र	1	10	24	37
किशोर बालक	माता या पिता	61	63	48	51
	मित्र	8	10	13	23

सी. एम. टायन, यू. सी. इनवेण्टी "सामाजिक एवं संवेगात्मक समंजन", बाल-कल्याण संस्थान, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, 1939 से संकलित।

निर्भरता-त्याग की यह बात विद्रोह होने अथवा अवमानना करने की बात (rebellious or defiant) से भिन्न है। वस्तुतः निर्भर किशोरों तथा प्रौढ़ों में कुछ ऐसे होते हैं, जो भारी विद्रोही और अवज्ञाकारी होते हैं। हो सकता है कि माता-पिता की इच्छा को वे जैसा समझ पाए हैं, उसका ठीक उल्टा कर रहे हों किन्तु जब तक विद्रोह करने की भावना से ऐसा करते हैं, तब तक परिणामतः उनका आचरण माता-पिता द्वारा उतना ही नियमित रहता है जितना कि वह तब रहता है जब वे सब कुछ यह सोचकर करते हैं कि माता-पिता की वैसी ही इच्छा है या कभी थी और उन्हें उसी के अनुरूप चलना है। जिस हद तक व्यक्ति माता-पिता के विरुद्ध अथवा उनके विचारों के विरुद्ध विद्रोह का अभिनय करता रहता है, उस हद तक उसे एक स्वाधीन व्यक्ति नहीं माना जा सकता है।

आत्म-निर्धारण के संघर्ष में अन्ततोगत्वा जब व्यक्ति के विजयी होने की संभावना रहती है, तब भी यह संघर्ष अनेक तरुण व्यक्तियों के जीवन में हाई स्कूल की शिक्षा समाप्त करके कॉलिज में जाने पर अथवा नौकरी कर लेने पर भी चलता ही रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के एक दक्षिणी राज्य के पाँच कॉलेजों के लगभग एक हजार छात्रों का अध्ययन करके लॉयड (1952) ने अनुमान लगाया कि बहुसंख्यक तरुण व्यक्ति अपने माता-पिता से "संवेगात्मक मुक्ति" प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके थे। शरमन (1946) ने—मुक्ति-स्थिति के सम्बन्ध में एक प्रश्नावली के उत्तर चार सौ से अधिक विश्वविद्यालयी छात्रों से प्राप्त किए थे। इस प्रश्नावली में व्यक्तिगत समस्याओं से जूझने में माता-पिता के सहारे पर निर्भरता, माँ-बाप के घर लौट आने के बारे में अधिक सोचने अथवा दिवास्वप्न देखने की प्रवृत्ति, माता-पिता की स्वीकृति-अस्वीकृति की चिन्ता न करके सोचने और करने की स्वतंत्रता आदि विषयों पर प्रश्न रखे गए थे। मुक्ति-लब्धियों का सीमान्तर सत्रह से अट्ठावन तक था। सबसे कम मुक्त व्यक्ति की लब्धि सत्रह थी और सर्वाधिक मुक्त की अट्ठावन। अधिकतम संभव-लब्धि साठ थी।[1]

1. मार्श (1946) ने मुक्ति के कतिपय अवयवों का विवेचन किया है।

कॉलेज-छात्रावस्था में कोई व्यक्ति किस हद तक मुक्ति उपलब्ध कर सका है, इसका प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि हम मुक्ति की परिभाषा किस प्रकार करते हैं। स्वाधीन एवं स्व-निश्चयी व्यक्ति के लक्षण इतने अनम्य बनाए जा सकते हैं, कि उनके अनुसार किसी भी उम्र में शायद ही कोई प्रौढ़ व्यक्ति अपने माता-पिता से मुक्त माना जा सकेगा। चाहे जो भी हो, कॉलेज में शिक्षा पाने वाले अनेकानेक छात्र यदि विमुक्ति प्राप्त करने में असफल रहे हैं, तो इससे उनकी हीनता नहीं सूचित होती। संस्कृति तथा पालक-बालक सम्बन्ध में स्वभावत. ऐसी अनेक शक्तियाँ होती हैं, जिनके चलते रहने पर इस प्रकार की मुक्ति उपलब्ध करना कठिन हो जाता है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरा तथ्य जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, यह है कि न तो प्रत्यक्षतः माता-पिता पर निर्भर प्रतीत होने वाले किशोर निश्चय ही न्यूनतम मुक्त माने जा सकते हैं और न बाहर से सर्वाधिक स्वतन्त्र दीखने वाले व्यक्ति सबसे अधिक मुक्त। कोई व्यक्ति अपने बूते पर पैसे कमा सकता है, स्वयं निर्णय कर सकता है कि वह किसी काम में लगेगा या कॉलेज में पढ़ेगा, और यह भी स्वयं तय कर सकता है कि वह कहाँ और किस प्रकार का जीवन व्यतीत करेगा तथा अपने आचरण और आदर्शों में विवेक से कहाँ तक काम लेगा, पर यह सब होते हुए भी यह सम्भव है कि वह मुक्त नहीं हो। यदि विद्रोही बनने के लिए वह गलत तरीके अपना रहा है अथवा यदि स्वतन्त्रता के प्रदर्शन के बावजूद उसके भीतर अपराध भावना है, या अपने कार्यों की अच्छाई बुराई आँकने के लिए अपने किसी निजी मानक को आधार मानने की अपेक्षा उसे अधिकतर यही चिन्ता बनी रहती है कि उसके माँ बाप उसके कार्यों के सम्बन्ध में क्या सोचते होंगे, तो कहा जाएगा कि उसे स्वनिश्चय की उपलब्धि नहीं हुई।

दैनिक जीवन में हम बहुधा सोचते हैं कि उत्तरदायित्व वहन करने की योग्यता इस बात का लक्षण है कि युवा व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से परिपक्व होता जा रहा है और माता-पिता अथवा अन्य प्रौढ़ों की सतत देख भाल के बिना ही अपना काम काज चलाने में समर्थ हो रहा है। हैरीस एवं उनके सहकर्मियों (1954 अ, 1954 ब) ने प्राक्किशोरों तथा किशोरों के लक्षण के रूप में उत्तरदायित्व का अध्ययन किया था। उस अध्ययन के परिणाम प्रत्याशित परिणामों के पूर्णतः अनुरूप नहीं हैं। उत्तरदायित्व के अनेक व्यवहारिक पक्षों को मापने के उद्देश्य से निर्मित एक परीक्षण द्वारा बालकों की जाँच की गई और शिक्षकों द्वारा व्यवहृत एक चिह्नांकन सूची के जरिये भी सूचना प्राप्त की गई। आयु में वृद्धि के साथ उत्तरदायित्व लब्धि में सदा एक सी वृद्धि नहीं देखी गई। शायद आमतौर से यह मान लिया जाता है कि ग्रामीण बालक शहरी बालकों से आगे बढ़ जाते हैं परन्तु इस अध्ययन में ऐसा नहीं पाया गया। इस बात का प्रमाण प्रायः नहीं मिला कि युवा व्यक्ति में उत्तरदायित्व की अभिवृत्ति उससे केवल नित्य के कार्यों, जैसे, बर्तन धोना, घर साफ करना, भोजन बनाना आदि, में लगा देने से काफी बढ़ जाएगी। उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में अपना कार्य करने के लिए यह स्पष्टतः आवश्यक है कि किशोर न केवल तकनीकी कौशल प्राप्त करे बल्कि उत्तरदायी व्यक्ति के साथ व्यवहार करने की अभिप्रेरणा (motive) भी उसमें आनी चाहिए।

गृहासक्ति (Homesickness)

कतिपय परिस्थितियों में किशोर की गृहासक्ति यह सूचित करती है कि वह अपने

घर से विमुक्त नही हो सका है अथवा विमुक्त होने के लिए अब तक संघर्ष कर रहा है। "हम कतिपय परिस्थितियाँ" इसलिए कहते हैं कि गृहासक्ति अपने आप में स्वयं ही दुर्बलता या निर्बलता का लक्षण नहीं है। जो व्यक्ति गृहासक्ति से पीड़ित है वह कम से कम इतनी दूर तक घर से अलग हो जाने का साहस तो कर सका है, जिसके परिणाम स्वरूप उसे गृहासक्ति हुई है। सम्भव है कि उसने घर इसलिए छोड़ा है कि उसे वैसा करना पड़ा किन्तु बहुतेरे ऐसे किशोर हैं, जो यह जानते हुए भी की उन्हें गृहासक्ति सताएगी, घर छोड़ने का साहस करते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी होते हैं जो कभी भी, किसी भी परिस्थिति में घर से दूर जाने का साहस ही नहीं कर सकते। क्योकि घर से दूर आने वालों को प्रारम्भिक दिनों मे तो गृहासक्ति की टीस से पीड़ित होना ही पड़ेगा। तथापि.......

गृहासक्ति के अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनुभव होते हैं। जिसका जैसा व्यक्तित्व होता है, गृहासक्ति उसे उसी रूप मे प्रभावित करती है। गृहासक्त होने में जो अनुभव लोगो को होते है, उनके एकाकीपन, अजनबीपन, खोया-खोया-सा लगना, उदासी अनुभव करना, खिन्न रहना आदि सम्मिलित है। कतिपय किशोरों मे चिड़चिड़ापन एवं शत्रुता के भाव भी आ जाते हैं।

गृहासक्ति क्यों होती है ? घर की कौनसी वस्तुओं के लिए होती है ? इस सम्बन्ध मे अनेक अध्ययन किए गए हैं। उन पर आधारित विश्लेषण से यही संकेत मिलता है कि कदाचित् गृहासक्ति घर के भीतर बिछड़े हुए व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति ललक की अपेक्षा वर्तमान परिस्थितियों या व्यक्तियों से असन्तोष की भावना के कारण अधिक होती है। गृहासक्ति के कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें गृहासक्त व्यक्तियों को अपर्याप्तता की अनुभूतियाँ होती रहती हैं।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जीवन में भिन्न-भिन्न समयों में गृहासक्ति के बिल्कुल अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। यह भी पाया गया है कि जो किशोर घर पर अत्यधिक सुरक्षित अनुभव करते थे, जिनका घर से पूर्णत: संवेगात्मक रूप मे सहज समायोजन था, वे घर से दूर जाने पर अधिक पीडित नही होते है, या उस पीड़ा से सहजता से मुक्ति पाने की सामर्थ्य रखते है, जब कि घर में स्वयं को अरक्षित अनुभव करने वाले किशोर गृहासक्ति से अधिक पीड़ित रहे; उन्हें सताने वाली चिन्ताओं का क्रम सभी स्थानों पर निरन्तर बना रहता है। अर्थात् गृहासक्ति का यह तात्पर्य नही है कि घर के लिए व्यक्ति तरस रहा है।

गृहासक्ति से पीड़ित व्यक्ति के हृदय मे दुःख की अपेक्षा क्रोध की भावना अधिक पाई जाती है। कभी यह क्रोध स्वयं पर आता है कि उसने घर त्यागा ही क्यो और कभी क्रोध उन लोगो या परिस्थितियों पर, जिनके कारण व्यक्ति को अपना घर छोड़ना पडा। वह आत्म निन्दा या परनिन्दा में ही खोया रहता है।

मुक्त करने में माता-पिता की कठिनाइयाँ
(Difficulties parents face in "Letting go")

विमुक्ति की समस्या केवल किशोरों के लिए ही नही है बल्कि यह समस्या माता-पिता की भी है। किशोर को 'छूट देना' विकासशील पुत्र या पुत्रियों को स्वतन्त्र रूप से सोचने, अनुभव करने और निर्णय करने देना माँ-बाप के लिए आसान नही है। शैशव से ही वे उसकी देख-भाल करते आ रहे हैं। उसकी हँसी-खुशी के लिए वे अपने को उत्तरदायी

समझते हैं। वह किशोर बन गया हो, परन्तु अब भी माता-पिता के लिए वही नन्हा है; उसकी देखभाल करने की उनकी आदत, उनकी इच्छा अब भी उतनी ही है। वह इस आदत को छोड़ना नहीं चाहते। इस इच्छा को समाप्त नहीं करना चाहते। उन्हें लगता है कि यदि अपने ढंग से 'सयाना' बनने लगा, तो हो सकता है वह उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करे। ये बालकों को ही अपनी सुख-लब्धि का साधन मान लेते हैं। अपनी आकांक्षाओं-महत्वाकांक्षाओं को उन पर थोपते हैं और इसी कारण अपने नियन्त्रण को सुदृढ़ बनाते रहते हैं।

एक तीसरी कठिनाई जो माता-पिता के समक्ष उपस्थित होती है, वह है संवेगात्मक अवलम्ब के लिए बालकों पर निर्भर रहने की। इन विचारों वाले माता-पिता भी बालकों को स्वतन्त्र रूप से नहीं विकसित होने देना चाहते। ऐसे माता-पिता किशोर को छूट देने की बात सामने आते ही यह सोचकर अपने को अरक्षित एवं परित्यक्त समझने लगते हैं कि अब उनकी सन्तान केवल उनकी ही नहीं रहेगी—वे अब दूसरों से नए सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं। जब उनके बच्चे बड़े होने लगते हैं और वयस्कों की सुविधाओं का उपभोग करना चाहते हैं, तो वे पार्थक्य की चिन्ताओं से आशंकित हो जाते हैं।

कभी-कभी यह भी पाया जाता है कि माता-पिता अपने ही बच्चों की तरुणाई से ईर्ष्या करने लग जाते हैं। इसका मुख्य कारण माता-पिता के तनावपूर्ण सम्बन्ध होते हैं, जिनके कारण वह सन्तान को माता-पिता के प्रतिरूप मानने लगते हैं और इस कारण उनसे अप्रसन्न रहते हैं।

मुक्ति न देने के लिए अपनाई गई विधियाँ

अपने पैत्रिक प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए माता-पिता अनेक विधियाँ काम में लाते हैं। ये विधियाँ उन माता-पिताओं द्वारा अपनाई जाती हैं, जो अपने बच्चों को प्रौढ़ता की ओर बढ़ने देने के अनिच्छुक हैं, जो उन्हें मुक्ति देने के अनिच्छुक हैं।

पहला तरीका यह है कि वे किशोर को कोई भी दायित्वपूर्ण कार्य करने से रोकते हैं। उन्हें भिन्न-लिंगी व्यक्तियों से भी नहीं मिलने-जुलने दिया जाता। उन्हें धन उपार्जन की स्वतन्त्रता भी नहीं दी जाती।

दूसरा तरीका है कृतज्ञता और निष्ठा बनाए रखने हेतु सन्तान को निरन्तर उपदेश देना। अपने द्वारा किए गए कार्यों को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाना। बराबर यह कहते रहना कि उनको पाल-पोस कर बड़ा करने में उन्हें कितने कष्ट उठाने पड़े।

तीसरा तरीका है किशोर में कुछ करने की सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होने देना या उनकी ही दृष्टि में उनके महत्व को कम करना।

एक और तरीका है किशोर को निरन्तर कुछ न कुछ घरेलू कार्य बतलाते रहना ताकि वह उन्हें ही करता रहे तथा उनसे पृथक् अपने मित्रों आदि में नहीं जाए।

प्राय: सम्पन्न माता-पिता किशोर को अपनी प्रभुता, ऐश्वर्य आदि का भी प्रलोभन देते रहते हैं। वे किशोर के मन-मस्तिष्क में यह बात भली प्रकार जचा देते हैं कि यदि वह उनकी आज्ञानुसार चलता रहेगा, उन्हीं के विचार को मानेगा, अपने स्वतन्त्र विचार नहीं रखेगा, उन्हीं के निर्णयों को शिरोधार्य रखेगा तो वे उसे जमीन, मकान या खेत का बहुत बड़ा हिस्सा दे देंगे।

कहने का अभिप्राय: यह है कि अधिकांश माता-पिता किशोर पर नियन्त्रण की पकड़ को ढीला नहीं छोड़ना चाहते। कुछ माता-पिता की तो मानसिकता ही ऐसी बन जाती है कि वे जाने-अनजाने किशोर को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते।

दूसरी ओर अनेक माता-पिता ऐसे भी है, जो अपने बालक को बड़ा होते देखकर फूले नहीं समाते हैं; उसे साहसिक कार्य करते देखकर गर्व से जिनका सीना चौड़ा हो जाता है; आत्म-निर्धारण के स्वाभाविक प्रयासों को करता देखकर उन्हें सन्तोष की अनुभूति होती है। ऐसे माता-पिता अनेक ऐसे उपाय खोजते हैं, साधन अपनाते हैं, जिससे कि विमुक्ति प्राप्ति की दिशा में तेजी से आगे बढ़ते बालकों की सहायता की जा सके।

विद्यालय तथा किशोर की पारिवारिक कठिनाइयाँ

1. किशोर की पारिवारिक पृष्ठभूमि का बोध—शिक्षक द्वारा किशोर की सहायता का आरम्भ ही बोध से होता है। बोध का प्रमुख अंग है, यह जानना कि किशोर का घर कैसा है। शिक्षक को किशोर के परिवार के आर्थिक स्तर के बारे मे जानकारी होनी चाहिए। यदि वह निर्धन परिवार से सम्बन्धित है तो शिक्षक को समझ लेना चाहिए कि किशोर में कुछ-कुछ हीनता की भावना का पाया जाना सभव है; विद्यालय की पाठ्येतर गतिविधियों में भाग लेने के अवसर भी उसे कठिनाई से ही उपलब्ध हो सकेंगे; उसमें यह भावना भी जन्म लेगी कि वह पोशाक में, पैसा खर्च करने में तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों मे धनवानों की बराबरी नहीं कर सकता। इन भावनाओं के परिणामस्वरूप वह या तो अत्यधिक शांत या अत्यधिक आक्रामक बन सकता है। यदि शिक्षक निम्न आर्थिक स्तर से जुड़ी हुई इन कठिनाइयों को समझ सकता है, तो निश्चय ही वह अपने व्यवहार मे सहिष्णुता रखेगा ताकि बालक के उक्त अभावो की क्षति-पूर्ति हो सके तथा घर में अभावों के रहते हुए भी किशोर विद्यालय में सफलता की ओर अग्रसर हो सके। इसी प्रकार से अत्यधिक धनी परिवारों से भी कुछ समस्याएँ जुड़ी होती हैं। उन परिवारों में, जहाँ पैसा पानी की तरह बहाया जाता है, किशोरों में उच्चता की भावना आ जाती है। वह अकड़ू तथा घमंडी बन जाता है; निराशाओं को स्वीकार करने से कतराता है; उसमे यह भावना अत्यधिक होती है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में अग्रणी रहे आदि।

विद्यालय में ऐसे परिवारों से भी छात्र आते है, जहाँ कि उन्हे दो समय पेट भर भोजन भी नहीं प्राप्त होता है; अध्ययन के लिए समय भी बहुत कम उपलब्ध होता है; उसे कठिन श्रम करना पड़ता है। शिक्षक को चाहिए कि ऐसे किशोरों से वह अधिक कुछ अच्छा करने की आशा नहीं रखे, उनकी कमियों या त्रुटियों पर उनकी कटु आलोचना भी नही करे।

शिक्षक को यह बात भी अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि किशोरो के माता-पिता की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि मे भी बड़ा अन्तर रहता है। ऐसे में सभी विद्यार्थियो से "उचित" व्यवहार की अपेक्षा करना उचित नही है। इसी प्रकार से शिक्षक को अपने स्वयं के परिवार के बारे मे भी पूरा बोध होना चाहिए। उसकी अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण उसकी अपने विद्यार्थियो से कुछ अपेक्षाएँ हो सकती है, परन्तु भिन्न-भिन्न पारिवारिक पृष्ठ-भूमि से आने वाले किशोर उनकी पूर्ति नहीं कर सकते है।

अनेक ऐसे व्यवहार भी आते है, जबकि जाने अनजाने मे शिक्षक के व्यवहार मे किशोरों के सामाजिक स्तर के कारण अन्तर आ जाता है। यह भेद-भाव की भावना भली नही होती है अतः शिक्षक को सतर्कता रखनी चाहिए।

2. अभिभावकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क—शिक्षक द्वारा किशोर के घर जाना, घर का निरीक्षण करना, उनके अभिभावकों से भेंट करना कितना उपयुक्त है, यह विवाद का विषय है क्योंकि किशोर यह अनुभव कर सकता है कि अब भी उसे बालक ही समझा जा रहा है। दूसरी ओर उसके अभिभावक भी इसकी आवश्यकता अनुभव नही करें क्योंकि अब उनका बालक बड़ा होता जा रहा है। अतः प्राथमिक विद्यालय की भाँति शिक्षक का किशोर के घर जाना अधिक उचित नही माना जाता है परन्तु क्योंकि शिक्षक की अभिभावक से भेट भी आवश्यक है। अतः अधिक उपयुक्त यही रहेगा कि अभिभावक को ही विद्यालय में बुलाया जाए।

यह कुशल एवं विद्वान् आचार्य की सूझ-बूझ पर निर्भर करता है, कि वह अभिभावकों और शिक्षकों की परस्पर भेंट का किस प्रकार से व्यवस्था करते हैं। व्यवस्था कैसी भी हो, इस परस्पर-मिलन मे किशोरों की अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं। यदि किशोर कभी कठिनाई में पड़ जाता है, तो परामर्शदाता व अभिभावक को मिल-बैठकर समाधान खोजना चाहिए। आवश्यकता हो तो उस मीटिंग में किशोर को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। शिक्षक-अभिभावक सघ की स्थापना भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम है। इससे युवकों का विकास अधिक समायोजित ढंग से सम्भव होता है। इस प्रकार की बैठकों से माता-पिता को भी इस बात का बोध हो जाता है कि शिक्षा एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। जैसा कि कहा गया है, इससे अभिभावकों की मानसिकता में भी परिवर्तन आ जाता है। वे यह न सोचकर कि, "मैं अपने बच्चे को विद्यालय में शिक्षा लेने भेजता हूँ" यह सोचने लगते हैं कि, "मैं अपने बच्चे को विद्यालय मे उस शिक्षा में आपूर्ति करने को भेजता हूँ, जो कि मैं उसे घर पर देता हूँ।"

अतः शिक्षकों एवं प्रशासकों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस प्रकार के सगठनों के निर्माण में पहल करे, क्योंकि इन्ही को बालक से जुड़े समस्त क्षेत्रों का ज्ञान होता है तथा इनका शैक्षिक दृष्टिकोण भी विस्तृत होता है।

किशोर-अभिभावक अवबोध को प्रोत्साहन देना

किशोर तथा उसके माता-पिता के सम्बन्धों में सुधार कैसे लाया जा सकता है तथा विद्यालय का इसमें क्या योगदान हो सकता है? इस सम्बन्ध में पुन्के[1] ने विस्तार से अध्ययन किया है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने निम्न बिन्दु बताए हैं, जिनके द्वारा वांछित सुधार लाया जा सकता है—

1. विद्यालय अपने विद्यार्थियों को परिवार की आय के अनुसार व्यय करने की तथा प्रसन्न रहने की शिक्षा दे सकता है।

2. यह माता-पिता को युवकों की मनोरंजनात्मक आवश्यकताओं को समझने में सहायता देते हुए उनका औचित्य समझा सकता है तथा किशोर को भी माता-पिता के

1. हैरोल्ड एच॰ पुन्के, "हाई स्कूल यूथ एण्ड फैमिली", "स्कूल एण्ड सोसायटी, 58 : 507-511, (1943).

रूढ़िवादी व्यवहार के कारणों को समझा सकता है। इस प्रकार किशोर एवं अभिभावक के बीच की दरार को पाट सकता है।

3. वह विद्यालय में ही मनोरंजन के साधन जुटाकर माता-पिता की इस चिन्ता को घटा सकता है कि किशोर सही स्थान पर सही रूप से अवकाश के समय का उपभोग कर रहा है।

4. वह माता-पिता तथा किशोरों की उन आदतों में परिवर्तन लाने की दिशा में भी उन्हें निर्देशन दे सकता है, जो कि परस्पर स्वीकार्य नहीं है।

5. सामान्यतः किशोर अपने माता-पिता की समस्याओं से अनभिज्ञ रहते हैं। वे इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि माता-पिता उनके सुखी जीवन के लिए कितने अथक प्रयास करते हैं। उन्हें इस बात की भी समझ नहीं होती कि उनके माता-पिता के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य हैं, उन्हें उनके प्रति सद्व्यवहार रखना चाहिए। अनेक बार किशोर यह भी सोचता है कि केवल उसे ही अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यदि उसे इस बात का बोध हो जाए कि जिन समस्याओं से वह जूझ रहा है, जो शारीरिक परिवर्तन उसमें आ रहे हैं, जो संवेगात्मक अड़चनें उसके साथ हैं, वह सभी किशोरों के साथ है तो उसकी कठिनाई कम हो जाएगी तथा वह उन परिवर्तित परिस्थितियों में सरलता से समझौता कर सकता है। विद्यालय अनेक प्रकार की कक्षाओं, संगोष्ठियों एवं परिचर्चाओं द्वारा युवकों की कठिनाइयों की, उनके मनोविज्ञान की चर्चा कर सकता है तथा किशोरों की इस क्षेत्र में समझ की वृद्धि करके उसे परिवार में अधिक उत्तम प्रणाली से रहने की शिक्षा दे सकता है।

किशोर के लिए आदर्श घर

किशोर क्या है और वह किस प्रकार का घर पसन्द करता है? इस सम्बन्ध में किशोर क्या कहता है, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

1 किशोर यह चाहता है कि उसे सुरक्षा मिलती रहे। माता-पिता उसे अपने नियन्त्रण से क्रमशः मुक्ति प्रदान करें।

2. परिवार उनके मित्रों के चयन में बाधक नहीं बने।

3 माता-पिता अपनी समायोजन सम्बन्धी विसंगतियाँ किशोर को नहीं स्थानान्तरित करें। वे अपनी समस्याएँ एवं कठिनाइयाँ अपने पास ही रखें।

4. किशोर परिवार में तादात्म्यीकरण कर सकें। परिवार उसे मॉडल्स प्रदान करे, जिनका अनुसरण कर वे जीवन में सफलता प्रदान करें।

5. घर ऐसा हो कि किशोर उसमें रुचि ले सके, वह उसमें उत्साह भरे एवं प्रेरणा दे।

आदर्श घर की विशेषताएँ

जो घर किशोर के लिए आदर्श है, वह सभी आयु के बालकों के लिए भी आदर्श है। ऐसे आदर्श परिवार की निम्न विशेषताएँ हैं—

1. स्नेह—परस्पर स्नेह आदर्श घर की प्रमुख विशेषता है। ऐसे परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे को प्यार करते हैं, परस्पर कोमल भावना रखते हैं। उन परिवारों की

भाँति जहाँ प्यार समय-समय पर घटता-बढ़ता रहता है, आदर्श परिवार में यह सर्वदा समान रहता है।

2. प्रजातान्त्रिक—प्रजातन्त्र का आशय है, सभी के अधिकारों का सम्मान तथा सभी के विकास का ध्यान। अत. व्यक्ति के विकास का प्रजातन्त्र सबसे उत्तम माध्यम है। एक प्रजातान्त्रिक घर में छोटे-बड़े सभी का समान दर्जा होता है, परिवार के संगठन व व्यवस्था में सभी समान रूप से हिस्सा लेते है। ऐसे परिवार मे किशोर आत्म-सम्मान सीखता है क्योकि उसे सभी सम्मान देते है, छोटा समझकर उसकी अवहेलना नही की जाती है। उसमें आत्म-विश्वास की भावना भी जाग्रत होती है क्योंकि वह परिवार के कार्यों मे हिस्सा बँटाता है। उसे कुछ दायित्व दिया जाता है, क्योंकि वह परिवार छोटे समूह का अंग है अत: वह सामाजिक दायित्व की भावना भी सीखता है। वह दूसरो की आवश्यकताओं को समझता है तथा अपनी आवश्यकताओं के साथ-साथ दूसरो की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है।

3 कलह का अभाव—आम तौर पर परिवारों मे विचारधाराओ का अन्तर पाया जाता है; परन्तु आदर्श परिवार मे, विशेषकर जबकि बच्चे बड़े हो रहे हों, माता-पिता प्रयत्नशील रहते है कि किसी प्रकार का भी टकराव नही हो, क्योंकि वह बालक पर विपरीत प्रभाव डालने वाला होगा। झगड़ा, कटुता, बदला लेने की भावना आदि से भरा हुआ वातावरण न केवल परिवार को दु:खी बनाता है, बल्कि उसके बच्चो में भी यही भावनाएँ भरता है तथा गलत आदतें डालता है।

4. मैत्री—अन्तरग मैत्री की भावना परिवार के सुख सामंजस्य का आधार होती है। इससे माता-पिता बच्चो को अधिक भली प्रकार समझ सकते हैं। बच्चे भी माता-पिता के साथ कार्य करने में आनन्द प्राप्त करते हुए युवा तौर तरीके सीखते है।

5. माता-पिता के मध्य उचित समायोजन—बालक हो या किशोर सभी सबसे अधिक माता-पिता से प्रभावित होते हैं। यदि माता-पिता के बीच उचित समंजन नही है तो इसका प्रभाव उस घर के बालकों पर भी पडेगा। क्योंकि ऐसे माता-पिता अपने बालकों को उदारता व स्नेह से पालन-पोषण नहीं कर सकते, अतः बालक भी समंजित नही बन सकते तथा वे चिड़चिड़े, उद्दंड, ईर्ष्यालु, उदास व मुर्झाएँ से रहेंगे। अतः आदर्श घर वह है जहाँ माता पिता हिलमिल कर रहते है।

6. माता-पिता का बालक के साथ विकास—एक आदर्श परिवार मे माता-पिता बच्चों के अनुसार अपने को ढालते चलते है; उनके विचारों व व्यवहार में समय के अनुसार परिवर्तन आता रहता है। अत: 1985 के माता-पिता 1975 के माता-पिता की तरह बालकों के संबंध में नहीं सोचेंगे। इससे पीढ़ी के अन्तर की समस्या नही रहती है। अतः आदर्श परिवार के माता-पिता समय की मांग व किशोर की आवश्यकता के प्रकाश में सोचेंगे तथा कार्य करेंगे।

7. बालकों मे रुचि—एक आदर्श परिवार में माता-पिता किशोर का पूरा-पूरा ध्यान उसी प्रकार से रखते हैं, जैसे कि एक मित्र अपने दूसरे मित्र का। उनकी बालक में मित्रवत् रुचि रहती है। वह उसी के अनुसार उसे समय-समय पर परामर्श देते है न कि कुछ बुरे परिवारों की भाँति जहाँ माता-पिता को यदि बालको के प्रति कुछ रुचि है भी, तो केवल झिड़कियाँ देने में या पिटाई करने मे।

8. अनुशासन—एक अच्छे परिवार में कुछ आदर्श स्थापित होते है तथा उस परिवार के सदस्य उनसे परिचित होते हैं। वे जानते हैं कि सही कार्य क्या है तथा अच्छे बुरे के बीच की क्या सीमाएँ हैं। उन्हें पता होता है कि वे निर्धारित मार्ग क्या है, जिन पर कि उन्हें चलना है। इन परिवारों के माता-पिता अपनी इच्छानुसार जब तब न तो बच्चों को सजा ही देते है और न झिड़कते ही रहते हैं, "तुम कितने गन्दे हो" या "तुमने तो परिवार के नाम पर बट्टा लगा दिया," या "मै तो तुमसे ऊब गई हूँ," या "ऐसे बच्चों से तो बच्चे न होना ही भला"। बल्कि उसके विपरीत वे बच्चे को समझा कर कहते हैं, "तुमने यहाँ यह त्रुटि की है। तम्हारा यह कार्य उचित नही है, बताओ अब हमे क्या करना चाहिए? आदर्श परिवार के बच्चे यह जानते हैं कि यदि उन्हें दण्डित किया जाना है, तो वह भी उनके सुधार की भावना से, न कि माता-पिता की सनक या उन्माद के कारण।

9. उचित यौन शिक्षा—आदर्श माता-पिता सुखी दम्पत्ति होते हैं; उन्हें विवाह मे यौवन का आनन्द प्राप्त होता है तथा वे अपने बच्चों को भी जब तब बड़े सरल शब्दों में बिना किसी उलझन के यौन सम्बन्धी ज्ञान दे देते हैं।

10. किशोर के कंधों पर दायित्व डालना—आदर्श परिवार मे बालक की आयु-वृद्धि के साथ-साथ उस पर दायित्व भी बढा दिए जाते हैं। उन्हे अपने निर्णय स्वय लेने की भी छूट दे दी जाती है। हो सकता है, कि वे कभी-कभी गलत निर्णय भी ले लें परन्तु इस भय से उन्हें निर्णय लेने से नहीं रोका जा सकता। गलत निर्णय से भी वह भविष्य के लिए कुछ सीखता ही है। इसी प्रकार उन्हें उनकी क्षमता के अनुसार कार्य करने की भी छूट मिलनी चाहिए। यदि आठ वर्ष का बालक सड़क पर साइकिल चलाना चाहता है और यदि वह साइकिल अच्छी तरह चला सकता है, तो उसे सड़क पर जाने दिया जाना चाहिए।

11. किशोर को प्रौढ़ता की ओर बढ़ने में पूरी सहायता दी जानी चाहिए—आम-तौर पर माता-पिता यह चाहते है कि वे जीवन भर परामर्श देते रहें और वह ज्यों का त्यों माना भी जाए और वे जीवन भर बालक की रक्षा ही करते रहें। इस कार्य में वे इतने अधिक लगे रहते हैं कि उन्हे यह ध्यान ही नही रहता कि बालक किशोर बन गया है और किशोर युवावस्था की ओर बढ़ गया है, अब वह भी उन्ही की भांति प्रौढ़ बनने वाला है। किशोर को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देने की छूट देने में वे हिचकिचाते हैं। कुछ सीमा तक इससे उनके अहम् को भी ठेस लगती है और वे अपनी अधिकार-भावना से चिपके रहना चाहते हैं परन्तु आदर्श परिवार में ऐसा नही होता। वहाँ माता-पिता किशोर एवं किशो-रियों को अनेक प्रकार से प्रशिक्षित एवं अनुशासित करते है, उन्हें अपना मार्ग स्वय चुनने देते हैं, अपने मित्र स्वयं चुनने देते हैं, अपने निर्णय स्वयं लेने देते है; केवल उन विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, जहाँ कि इस स्वतन्त्रता के अत्यन्त ही प्रतिकूल व हानिकारक परिणाम होते है।

परन्तु इसका यह आशय नही है कि ऐसे माता-पिता बालक से एकदम उदासीन हो जाते हैं। नहीं, वे स्वतन्त्रता के साथ ही साथ उसे अब भी प्यार दुलार देते हैं, जिनकी कि उसे आवश्यकता है परन्तु इसमें एकाधिकार की भावना नही रहती, अतिरक्षण की चाहना नहीं रहती, निरंकुशता भी नही रहती। आदर्श माता-पिता को यह समझ लेना चाहिए कि वे बिना परामर्श के, बिना शोषण के, बिना अधिकार-भावना जमाए भी अपने किशोर

को उदारता से प्यार कर सकते है, जो कि उसकी सुरक्षा के लिए अत्यन्त अनिवार्य भी है।

सारांश

किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक, आवयविक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन बालक को युवा बना देते हैं। परिपक्वता के साथ ही साथ उसमें एक अंतः प्रेरणा भी विकसित होती है जो उसे स्वतन्त्र-रूप से चिंतन एवं कार्य करने की प्रेरणा देती है। यदि किशोर माता-पिता की वर्जनाओं के कारण अपनी अंतःप्रेरणा के अनुसार कार्य नहीं कर सकते हैं तो उन्हे दोहरी भूमिकाओं मे जीना पड़ता है। किशोर का मन निजी अस्तित्व तथा स्वाधीनता के लिए छटपटाता है, जबकि माता-पिता अब भी उसे अपने अधिकार में रखना चाहते है। यह किशोर की आंतरिक शक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार माता-पिता की प्रतिक्रिया की चिन्ता किए बिना अपना विकास मुक्त वातावरण मे करता है तथा अपने भीतर किसी प्रकार का प्रतिरोधात्मक युद्ध नही रखता है।

व्यक्ति के जीवन मे परिवार का सर्वाधिक प्रभाव शैशवावस्था में पड़ता है। आयु-वृद्धि के साथ नई आदतों का निर्माण होता है यद्यपि नई आदतें पुरानी आदतो से प्रभावित हुए बिना नही रहती है। बालक के उचित समायोजन के लिए महत्त्वपूर्ण है प्रेम, सुरक्षा, अपनेपन की भावना आदि आधारभूत आवश्यकताएँ, प्राक्किशोरावस्था और किशोरावस्था में अधिकांश बालक अपनी तथा दूसरों की प्रतिष्ठा तथा स्वाभिमान की भावना को स्पष्टता-पूर्वक समझने लगता है। स्वयं की एवं परिजनों से सम्बन्धित कई छोटी-बड़ी बातें जिनकी ओर अब तक उसका ध्यान नहीं गया था, अब उसका ध्यान आकर्षित करने लगती हैं और वह उनमे सुधार के प्रयास भी करता है। उसकी यह भावना अधिक समय तक नही रहती है, क्योकि वह धीरे-धीरे समझ जाता है कि दूसरों मे सुधार लाना सरल नही है। दूसरे शब्दों मे उसमें परिपक्वता की भावना आ जाती है।

किशोर यद्यपि माता-पिता से स्वतन्त्र होने की चाहना करता है, परन्तु माता-पिता का सहारा भी उसे चाहिए। माता-पिता के लिए भी यह सुखद व संतोषप्रद होता है कि एक नया जीवन उनकी आँखों के सामने प्रस्फुटित हो रहा है। कभी-कभी वे शंकाओ से भी भर जाते है, विशेष रूप से तब जब कि किशोर की माँगो में कोई नैतिक प्रश्न उलझा हुआ हो।

ऐसे भी अनेक प्रौढ है जो जिन्दगी भर किशोर ही बने रहते है। उनमे आत्म विश्वास की कमी होती है, दूसरो के सहारे की आवश्यकता होती है। ऐसे माता-पिता किशोर की समस्याओं से तुरन्त ही संत्रस्त हो जाते हैं। ऐसे आश्वस्त एवं शांतचित प्रौढ़ व्यक्ति शायद बहुत कम होते हैं, जिन्हे किशोर को परेशान करने वाली किसी भी समस्या मे कोई शका या उद्विग्नता नहीं रही हो।

माता-पिता का बालकों के प्रति व्यवहार उनकी बालकों सम्बन्धी समझ तथा अपने विश्वास पर आधारित होता है। उनका स्व उसमे प्रतिबिम्बित होता है। फैल्स पेरेन्ट विहेवियर स्केल्स पर आधारित संलक्षणों के अनुसार माता-पिता का व्यवहार अग्राकित प्रकार का होता है।

1. अस्वीकरण—माता-पिता या तो अत्यधिक व्यस्तता के कारण बालक को समय नही दे पाते या खुल्लमखुल्ला उसकी हर बात का अनादर कर देते हैं । दोनों ही स्थिति में किशोर स्वयं को तिरस्कृत समझता है ।

2. आकस्मिक व्यवहार—कुछ माता-पिता अपने व्यवहार में अस्थिर होते है । एक क्षण पहले वे बालक को स्वीकार कर उसका दुलार करते हैं तो दूसरे ही क्षण उसका तिरस्कार कर देते हैं । यह व्यवहार दो प्रकार का होता है ।

(अ) कभी कभी निरंकुश, तथा
(ब) कभी कभी अतिरक्षणात्मक ।

3. स्वीकरण—स्वीकरण तीन प्रकार का होता है–अतिरक्षणात्मक, प्रजातन्त्रात्मक एवं प्रजातन्त्रात्मक अतिरक्षणात्मक ।

4. अतिरक्षण—कई बार प्रौढ़ किशोर की प्रत्येक बात को स्वीकार करते जाते हैं, उचित अनुचित का अन्तर नहीं समझते, सुधार का प्रयत्न नहीं करते । इस प्रकार का अतिरक्षण भी किशोर के लिए हानिकारक है ।

5. प्रभाविता—माता-पिता का स्नेह जब किशोर को अत्यधिक प्रभावित करने वाला होता है, तब भी वह अनेक समस्याएँ खड़ी कर देता है ।

पारिवारिक प्रभुता

एच. एल. इन्गरसोल ने 37 परिवारों का गहन अध्ययन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पारिवारिक प्रभुता के प्रतिमान निम्न प्रकार से हैं—

1. मातृ नियन्त्रण—निरंकुशता नियंत्रण माता द्वारा होता है । पिता उदासीन रहता है । माता-पिता स्नेह, मे सौहार्द के स्थान पर बिखराव की भावना की अधिकता होती है ।

2. मातृ-नेतृत्व-प्रजातन्त्रात्मक—माता-पिता का संयुक्त निर्णय होता है, परन्तु पहल व नेतृत्व माता का होता है ।

3. संतुलित नियंत्रण—माता-पिता मिल बैठकर अपना कार्य बाँट लेते हैं और उसी के अनुसार किशोर पर नियंत्रण रखते हैं । नियंत्रण का यह रूप प्रजातन्त्रात्मक, अतिरक्षणात्मक, तटस्थ्यात्मक एवं द्वन्द्वात्मक में से कोई भी हो सकता है ।

4. पितृनियन्त्रण—इन परिवारो में नियंत्रण पिता का चलता है । यह कभी-कभी निरंकुश या मिथ्या निरंकुश भी बन सकता है ।

5. पितृ-नेतृत्व—पिता परिवार के नेता के रूप में कार्य करता है ।

उपरोक्त वर्णित पारिवारिक प्रतिमानों का प्रभाव किशोर के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है । प्रजातांत्रिक परिवारों में किशोर माता-पिता के निकट रहते हैं, स्नेह भाव बना रहता है । अतः निराशाओ का सामना नही करना पड़ता ।

परड्यू यूनिवर्सिटी ओपिनियन पोल द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार अधिकांश किशोर यही मानते हैं कि उनके माता-पिता उन्हें भली प्रकार नहीं समझ पाते । इस कमी

वृत्ति किशोर के विकास मे वाधक है। स्टॉट की भी मान्यता है कि माता-पिता के अधिकार में रहकर किशोर में कभी भी आत्मविश्वास की भावना नही आ सकती। माता-पिता द्वारा रोकटोक लगाए जाने पर भी किशोर का उनसे संघर्ष होता है।

शिशु के लिए जिस प्रकार माँ की शारीरिक निर्भरता से छुटकारा पाना आवश्यक है, उसी प्रकार किशोर के लिए माता-पिता पर से संवेगात्मक निर्भरता से छुटकारा पाना आवश्यक है। निर्भरता-त्याग एक कठिन कार्य है। कभी कभी तो वृद्ध हो जाने पर भी व्यक्ति किसी न किसी रूप में सहारे की खोज करता है।

निर्भरता-त्याग विद्रोह करने या अवमानना करने से भिन्न है। यदि किशोर मुक्ति नही प्राप्त कर सकता है तो इसका कारण उसमें हीनता का होना ही नही होता। यह भी हो सकता है कि उसके समाज की परम्पराएँ कुछ ऐसी ही हों।

वाहर से आत्म-निर्भर दिखाई देने वाले किशोर भी, हो सकता है, अन्दर ही अन्दर अपने प्रत्येक कार्य के सबंध में यह चिन्ता करते हों कि इसकी उनके माता-पिता व अन्य प्रौढ़ों द्वारा किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी। इस प्रकार के किशोर स्व-निश्चयी नही होते।

गृहासक्ति—एक न एक दिन अधिकांश किशोरों को घर से दूर जाना पड़ता है। फिर भी बहुत कम किशोर इस वात का साहस कर पाते हैं और उनमें से भी इस भावना से पीड़ित नहीं होने वाले और भी कम हैं। गृहासक्त के लक्षण हैं—एकाकीपन, अजनबीपन, खोया-खोया सा रहना, खिन्न रहना आदि।

जो वालक घर में प्रेम पाता है, सुरक्षित अनुभव करता है, वह गृहासक्ति से कम पीड़ित रहता है, परन्तु घर में असुरक्षा की भावना से ग्रसित एवं पीडित व्यक्तियो को असुरक्षा की भावना अधिक घेरती है।

विमुक्ति की समस्या से माता-पिता भी पीड़ित है। वे अपने नन्हें मुन्ने को सयाना नही वनने देना चाहते। वे पार्थक्य की चिन्ताओं से घिर जाते हैं। कुछ माता-पिता अपने ही बच्चों की तरुणाई से ईर्ष्या रखते है।

ऐसे माता-पिता द्वारा किशोर को मुक्ति न दिए जाने के लिए कई विधियाँ काम में लाई जाती हैं। वे किशोर को दायित्वपूर्ण कार्य से रोकते हैं, उन्हे निरन्तर उपदेश देते रहते हैं, उसका महत्त्व कम कर देते है, उसे घरेलू कार्यों मे ही घेर लेते हैं।

विद्यालय और किशोर का परिवार

शिक्षक के लिए किशोर की पारिवारिक पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। परिवार की आर्थिक स्थिति का किशोर की बुद्धि-उपलब्धि, अध्ययन, पाठ्येत्तर प्रवृत्तियों आदि सभी पर प्रभाव पड़ता है। माता-पिता की शैक्षिणक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का भी किशोर पर प्रभाव पडता है। शिक्षक को इन सब वातो का ध्यान रखते हुए उसी के अनुसार अपने विद्यार्थियों के लिए योजना वनानी चाहिए।

शिक्षा एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। किशोर विद्यालय में, घर में प्राप्त

शिक्षा की आपूर्ति करने को आता है। अतः किसी न किसी रूप में शिक्षक एवं अभिभावक की परस्पर भेंट अनिवार्य है।

विद्यालय किशोर एवं अभिभावकों के बीच समझ या अवबोध को भी प्रोत्साहन दे सकता है और किशोर तथा उनके माता-पिता के संबंधो में सुधार ला सकता है।

आदर्श घर—किशोर के लिए आदर्श घर वह है जिसका वातावरण प्रजातांत्रिक हो, जहाँ उसे स्नेह मिले, परिवार के सदस्यों में विचारधाराओं का टकराव नही हो तथा परस्पर मैत्री की भावना हो, माता-पिता पीढ़ी के अन्तर को समस्या नही बनाएँ, अनुशासन का वातावरण हो, माता-पिता उन्हें उचित यौन शिक्षा देने मे नही झिझकें, किशोर पर क्षमता के अनुसार कार्यभार भी डाला जाए तथा किशोर को आत्मनिर्भर बनने मे स्वतन्त्रता दी जाए।

□□□

अध्याय 14

किशोर एवं उसके साथी

(The Adolescent and his Peers)

सामान्य अवलोकन

बचपन में व्यक्ति का गहनतम सम्बन्ध अपने कुटुम्ब के सदस्यों के साथ होता है। किशोरावस्था के आगमन के साथ ही बालक-बालिकाओं में परिवार से दूर तथा साथियों की संगति में जाने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। किशोर के सम्मुख सबसे प्रमुख आवश्यकता होती है, समकक्ष समूह द्वारा स्वीकृति। इस अध्याय में किशोर के समकक्ष समूह से सम्बन्धों का महत्त्व, किशोर-मित्रता की प्रवृत्ति, यौन एवं प्रिय-मिलन की समस्याएँ तथा समकक्ष समूह की गतिविधियों से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाएगा।

समकक्ष समूह का महत्त्व (Importance of the peer-group)

बालक के व्यवहार का आधार उसका घर, माता-पिता, विद्यालय आदि माने जाते हैं। साधारणत उसके साथियों के साथ उसकी गतिविधियों को गौण मान लिया जाता है परन्तु, यह सत्य से परे है। सी०एम० ट्रायन के अनुसार, "यदि हम विकास सम्बन्धी मुख्य समस्याओं को समझना चाहते हैं जिनका बालक बालिकाओं को उनकी बाल्यावस्था के उत्तरार्द्ध मे, यौवनारम्भ में, किशोरावस्था के उत्तरार्द्ध में सामना करना पड़ता है, तो उसका सन्तोषप्रद समाधान हमें उन बालक-बालिकाओं के समकक्ष समूह में ही मिल सकता है। इस समूह में ही वे संस्कृति की सामाजिक प्रक्रियाओं को समझ पाते हैं। समकक्ष समूह के बीच रहकर व कार्य करके ही वे अपनी यौन भूमिकाओं को स्पष्टतः समझ सकते हैं। उनके बीच जीवन-यापन करके ही उनमें प्रतिस्पर्धा, सहकारिता, सामाजिक क्षमता, मूल्यो, उद्देश्यो आदि विशेषताओं का विकास होता है।"[1]

किशोरावस्था में पहुँचने पर अपने समूह का समर्थन तथा स्वीकृति, एक दृढ़ शक्ति का काम करती है। समकक्ष वर्ग द्वारा समर्थन तथा विरोध का दबाव इतना प्रबल हो

---

1. If we were to examine the major developmental tasks which confront boys and girls in late childhood, during pubescence, and in later adolescence, it would become apparent that many of these can only reach a satisfactory solution by boys and girls through the medium of their peer-groups. It is in this group that by doing they learn about the social processes of our culture. They clarify their sex roles by acting and being responded to, they learn competition, cooperation, social skills, values and purposes by sharing the common life—Tryon C. M. : The Adolescent Peer Culture; forty third year book of the national society for the study of education Pt I Ch. 12, 1944.

सकता है कि जीवन के अनेक क्षेत्रों में वह किशोर के माता-पिता तथा शिक्षकों के प्रभाव को भी कम कर देता है। जिस वर्ग का वह सदस्य है वह उसकी बोली, उसकी उचित-अनुचित की भावना, उसके वस्त्र तथा उसके अवकाश काल के कार्यों के स्वरूप को प्रभावित करता है। कभी-कभी अपने वर्ग का रंग-ढंग अपनाने में वह कष्टकर वस्त्रधारण करता है, अशुद्ध व्याकरण का प्रयोग करता है (यद्यपि घर पर शुद्ध प्रयोग उसने सीखा है) तथा समूह की प्रशंसा पाने के लिए सदाचार का उल्लंघन करता है, यद्यपि वैसा करना घर पर प्राप्त नैतिक प्रशिक्षण के विरुद्ध होता है।

अपने साथियों द्वारा स्वीकृत किए जाने को किशोर, जितना महत्त्व देता है, उतना महत्त्व वह शायद ही किसी अन्य बात को देता है और जिस व्यक्ति की मित्रता की उसे कामना है, उसकी अस्वीकृति से बढ़कर उसके लिए शायद ही कोई दूसरा दुर्भाग्य है। साथियों से मित्रता एवं उनके द्वारा स्वीकृति किशोर के लिए अपने आप में आनन्ददायक बात है। उनके द्वारा स्वीकृति उसे एक अतिरिक्त आश्वासन भी देती है कि वह योग्य है। अतः समकक्ष समूह द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए किशोर अपनी किसी भी प्रिय वस्तु तक की बाजी लगाने में नहीं हिचकता है।

वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा विकासशील व्यक्ति किशोरावस्था तथा उसके पूर्व, अपने आयु-वर्ग की सामाजिक सदस्यता प्राप्त करता है, उसके स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है, पर इसमें हानि की भी संभावना रहती है। जब कोई युवा व्यक्ति अपने आयु वर्ग के लोगों की अभिरुचियों तथा मूल्यों को ग्रहण करके, समान स्तर पर उनके साथ आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित करता है और एक दूसरे का आदर करता है, तब यह स्थिति लाभप्रद होती है। पर इसमें एक खतरा भी है। बालक समाज में पूर्ण समंजित व्यक्ति के रूप में अपनी स्वीकृति के लिए कभी-कभी इतना आगे बढ़ जाता है कि अपनी निजी रुचियों, अभिरुचियों तथा मूल्यों को रखने का अपना अधिकार भी खो देता है और इसके फलस्वरूप उसका सामाजिक समंजन वस्तुतः एक प्रकार का आत्म-समर्पण हो जाता है। दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों के माध्यम से ही वह अपनी अनेक क्षमताओं को चरितार्थ कर सकता है पर अपनी क्षमताओं को चरितार्थ करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसे ऐसा अनुरूपतावादी मानव नहीं बनना चाहिए, जिसका जीवन बिल्कुल दूसरों के इशारे पर ही चलता हो।

समकक्ष समूह की संस्कृति

मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र में किए गए अध्ययन से स्पष्ट है कि हमारे समाज में बालक-बालिकाओं के बीच भी एक उपसंस्कृति (sub-culture) कार्य करती है। यह उप संस्कृति प्रौढ़ों की संस्कृति से मिलती-जुलती है परन्तु इसमें संवेग, ताल-मेल की इच्छा, सामाजिक स्वीकृति की आवश्यकता तथा अपनेपन की भावना अधिक स्पष्ट होती है। यह समूह प्रौढ़ दखलन्दाजी से अपने बचाव के तरीके भी अपने आप खोज लेता है।

किशोर माता के सम्मुख अपनी गतिविधियों को साधारणतः यह कहकर उचित ठहराते हैं कि, "सभी दूसरे बालक ऐसा ही करते हैं।" वे माता-पिता व अन्य प्रौढ़ों को अपने समूह से बाहर रहने का संकेत अप्रत्यक्ष रूप से यह कह कर दे देते हैं, "आह! यह

तो केवल हम लोगों के लिए है।" यह समूह वर्षो तक स्थिर रहते हैं। इनमें नए सदस्य जुड़ते जाते हैं और पुराने किसी न किसी कारण से छूटते जाते हैं।

सन्तोषजनक भूमिका की प्राप्ति

बालक के विकास के साथ ही उसके सम्मुख अपने साथियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राप्त करने की समस्या उपस्थित हो जाती है। आयु के साथ इस समस्या का महत्त्व बढ़ता जाता है। साधारणतः असुरक्षित एवं अस्वीकृत बालक के लिए इसे प्राप्त करना सुखद अनुभूति नहीं होती। इसमे असफलता किशोर के सम्मुख एक विकट समस्या बन जाती है। अनेक अध्ययनों द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, जो कि किशोर और उसके साथियों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं।

1. बालक समकक्ष-समूह का समर्थन व स्वीकृति चाहता है।
2. जैसे-जैसे उसकी किशोरावस्था मे वृद्धि होती है, साथियों के समर्थन की महत्ता भी बढती जाती है।
3. प्राक्किशोर एवं किशोर अपने साथियो का अनुकरण करना पसन्द करते हैं।
4. बाल्यावस्था मे साथियों से अच्छे सम्बन्ध इस बात की सुनिश्चितता देते हैं कि किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था मे भी वह व्यक्ति साथियों से मधुर सम्बन्ध रख सकेगा।
5. प्रत्येक किशोर किसी न किसी गुट का सदस्य होता है। ये गुट उसकी आवश्यकता की पूर्ति मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति की जीवन-भर यही आकांक्षा रहती है कि वह अपने साथियो मे लोकप्रिय बने परन्तु किशोरावस्था मे यह अभिलाषा अधिक उत्कट होती है। पर्ड्यू यूनिवर्सिटी पब्लिक ओपीनियन पोल ने दस हजार से भी अधिक किशोर विद्यार्थियों का सर्वे किया। इस सर्वे के परिणाम उपरोक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

सामाजिक स्वीकृति के अध्ययन की विधियाँ

अपने समूह की जाँच मे किशोर का क्या स्थान है, यह जानने का एक उपाय, ऐसे व्यक्तियों को देखना है, जिनके प्रति उसका मैत्री-भाव है तथा जो उसके प्रति मैत्रीभाव रखते हैं। किसी भी किशोर वर्ग में ऐसे व्यक्तियों को देखा जा सकता है, जो एक दूसरे के प्रति विशेष रूप से मैत्रीपूर्ण होते है तथा एक दूसरे के साथ रहते है, दिन का भोजन भी साथ करते हैं और स्कूल भी साथ ही छोडते हैं। अनेक किशोरों की पारस्परिक अभिन्न मित्रता वर्षों तक बनी रहती है। कभी-कभी इस प्रकार की मित्रता भ्रांतिमूलक भी होती है, क्योंकि उनमे से कोई वस्तुतः किसी अन्य से मित्रता स्थापित करना श्रेयस्कर समझता हो ऐसा नही है परन्तु कोई विकल्प भी नही है। कुछ साथियों के बीच तो समता का सम्बन्ध न होकर नेता और अनुयायी का सम्बन्ध होता है।

किशोर अपने समूह के सदस्यों द्वारा किस हद तक स्वीकृत, उपेक्षित अथवा अस्वीकृत होता है। इसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की एक व्यवस्थित विधि को समाजमितिक विधि कहते हैं। उदाहरण स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति कुछ ऐसे व्यक्तियों के नाम लिखता है, जिनके साथ वह बैठना चाहेगा, जिन्हे अपना अभिन्न मित्र बनाना चाहेगा

अथवा जिन्हें अपने घर पर प्रीतिभोज मे अतिथि के रूप में बुलाना पसन्द करेगा। कभी-कभी प्रत्येक व्यक्ति से ऐसे व्यक्तियों के नाम बताने को भी कहा जाता है, जिन्हे साथी बनाने की उसे कोई चिन्ता नहीं रहती है। सबकी पसन्द मालूम हो जाने के बाद इस पर अनेक रोचक प्रश्न उठाना संभव हैं, जैसे—किसे सबसे अधिक या सबसे कम बार चुना गया है? कौन किसे चुनता है? किस हद तक भिन्न-भिन्न व्यक्ति परस्पर एक दूसरे का चुनाव करते हैं और किस हद तक वे ऐसा नहीं करते? क्या समूह के कुछ लोकप्रिय सदस्यों ही का चुनाव सबसे अधिक लोगों ने किया है अथवा पसंदगी का दायरा विस्तृत है? क्या इसका प्रमाण मिलता है कि वर्ग के भीतर अनेक छोटे-छोटे गुट अथवा सामाजिक द्वीप जैसे समूह वर्तमान हैं? इस प्रकार के सामाजिक अध्ययनों से प्राप्त तथ्यों से पता चलता है कि इन प्रश्नों द्वारा उद्घाटित विशेषताओं की दृष्टि से भिन्न-भिन्न समूहों में काफी भिन्नता पाई जाती है। किशोरावस्था सम्बन्धी साहित्य मे ऐसे अध्ययनो की भरमार है, जिनमें समाजमिति विधियों का उपयोग किया गया है।

किशोर वर्ग के सदस्य किस सीमा तक एक दूसरे को स्वीकार अथवा अस्वीकार करते हैं अथवा एक-दूसरे की सराहना अथवा अवज्ञा करते है, इसका संकेत करने वाली बातों, जैसे लोकप्रियता, मित्रता, नेतृत्व आदि के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने की अनेक दूसरी विधियाँ भी अपनाई गई हैं। एक प्रक्रिया जिसके बहुधा रोचक परिणाम निकलते हैं, "अनुमान करो" जाँच है। इसमें व्यक्तिगत विशेषताओं का संक्षिप्त चिन्तन होता है; जैसे यह व्यक्ति सदा निष्पक्ष रहता है, यह व्यक्ति सदा अपनी बात पर अड़ा रहता है आदि; और समूह के सदस्यों से समूह के ऐसे व्यक्तियों के नाम लिखने को कहा जाता है, जिन पर ये उक्तियाँ चरितार्थ होती हैं।

किशोर के मैत्री सम्बन्ध

केलिफोर्निया मे किशोरों की वृद्धि विषयक अध्ययन किए गए। इस अध्ययन के अन्तर्गत किशोरों से इस प्रश्न का उत्तर माँगा गया कि, "किस प्रकार के व्यक्ति के साथ रहना तुम्हें सबसे रुचिकर लगेगा?" अध्ययन के सभी स्तरों पर अधिकांश बालक-बालिकाओं ने अपने हम-उम्र समूह के साथ रहना पसन्द किया। यद्यपि कुछ बालिकाओं ने अपनी आयु से कुछ बड़े बालकों का साथ पसन्द किया। इसका कारण अधिकांश बालिकाओं में अधिक शारीरिक परिपक्वता का पाया जाना माना जाता है।

टॉमसन एवं होरेक्स (Thompson and Horrocks) ने ग्रामीण नवयुवकों एव नवयुवतियों की मित्रता का अध्ययन किया। इसमें 421 बालकों और 484 बालिकाओं का दो सप्ताह तक अध्ययन किया गया। इनकी मित्रता में कहीं कोई विशेष परिवर्तन नही आया। मित्रता में यह स्थिरता स्टेनले हॉल के इस कथन से तनिक भी मेल नहीं खाती कि किशोरावस्था तूफान, दबाव तथा अस्थिरता का काल है।

मित्रता के उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध में एक और अध्ययन उपरोक्त अन्वेषकों ने किया, जिसमें कि इन्होंने शहरी और देहाती किशोर एवं किशोरियो का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस अध्ययन हेतु चयनित किए जाने वाले सभी किशोर एवं किशोरी औसत सामाजिक आर्थिक स्तर के थे। इस अध्ययन से अग्रांकित बिन्दु सामने आए—

1. शहरी बालक-बालिकाओं की मित्रता-भावना में अधिक दायित्व पाया गया।
2. बालिकाओं में बालकों की अपेक्षा अधिक स्थायित्व की भावना होती है।
3. बालकों की प्रकृति अधिक प्रजातांत्रिक होती है।
4. बालिकाएँ छोटे गुट बनाना तथा एक मित्र रखना पसन्द करती हैं।
5. वृद्धि की एक विशेषता है, स्थायी मित्र रखना।

लोकप्रिय किशोर

अपने समूह द्वारा सबसे अधिक और सबसे कम स्वीकृत किशोरों की अनेक विशेषताओं को सूची बद्ध किया गया। ये सूचियाँ पूर्णरूपेण वैध नहीं हो सकती क्योंकि व्यक्ति के प्रति आकर्षण या विकर्षण उसके कुल व्यक्तित्व पर निर्भर करता है, न कि उसकी कतिपय विशेषताओं पर।

जिन व्यक्तियों को अधिकाशत. पसन्द किया जाता है, उनकी कुछ विशेषताएँ निम्न है—

1. वह भी दूसरों को पसन्द करता है।
2. मुक्तता, सहजता एवं तत्परता का पाया जाना। जैसे खेलों में सक्रिय भाग लेना, हंसी-मजाक में शामिल होना, किस्मत की आजमाइश करने की तत्परता आदि।
3. सजीवता, प्रसन्नता एवं उत्फुल्लता, जैसे—हास-परिहास में रस लेना, प्रसन्न तथा आनन्दित रहना।
4 निष्पक्षता।
5 क्रीडा-कुशलता।

इस विषय पर अनेक अध्ययन किए गए है, जिनमें कुछ हैं—जेन्निंस (1937), बान डाइन (1940), कुहलन तथा ली (1943), न्यू गार्टन (1946), कन्निंघम (1951), ग्रेख (1952), केश्लर (1953) और अन्य। इन सभी ने समाजमितिक विधियों को अपनाया। इन अध्ययनो के द्वारा निम्नांकित निष्कर्ष निकलते है—

> वे व्यक्ति विशेष रूप से पसन्द किए जाते है; जिनमें रचनात्मक ढंग से लोगों को एकत्रित करने के गुण पाए जाते है, जो विचार-प्रवाह में योग दे सकते हैं तथा क्रियाशीलन के सम्बन्ध मे अच्छे सुझाव दे सकते हैं, जिनमे कार्यारम्भ करने की क्षमता है, जो योजना बना सकते हैं और जिनमें एक प्रकार की ऐसी पटुता है, जो समूह के समय का सदुपयोग करने अथवा उसे रोचक बनाने में सहायता प्रदान करती है। [जेनिंग्स (Jennings), 1937]।

अनेक अध्ययनों में इस बात का उल्लेख है कि जो व्यक्ति खेलकूद में अच्छे हैं, वे अधिकतर जनप्रिय होते हैं। —जोन्स, मैकक्रो एवं टोलबर्ट (Jones, McCraw and Tolbert) इन अध्ययनों के आधार पर यह भी पाया गया कि समूहों में सामाजिक स्वीकृति तथा मित्रता का बुद्धि से सह-सम्बन्ध अपेक्षाकृत कम होता है। (उदाहरणार्थ जोन्स 1949, बौनी 1946, लैथम 1951, लाफलिन 1954 (Jones, Bonney, Latham, Laughun)।

इस प्रकार किए गए अध्ययनों से, जो अन्य उल्लेखनीय बातें ज्ञात होती हैं, वे यह हैं कि किशोर उन्हीं लोगों को मित्र बनाता है, जो कुछ बातों में इनके समान होते हैं। इन लोगों का सामाजिक-आर्थिक स्तर भी प्रायः समान होता है।

उपेक्षित किशोर:

ये व्यक्ति लोकप्रिय से भिन्न होते हैं। इनकी पूछ प्राय. कम ही होती है, ये पृथक्कृत या अस्वीकृत होते हैं। इस प्रकार के किशोर समूह के अन्य सदस्यों से किसी भी प्रकार का प्रगाढ़ बन्धन नहीं रखते। इन पर किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि इनमें अनेक ऐसे व्यवहार परिलक्षित होते हैं, जिनके प्रभाव से लोग निकट आने की अपेक्षा अधिकतर दूर हट जाते हैं। कुहलन तथा कौलिस्टर (Kuhlen and Collister) द्वारा 1952 में किए गए अध्ययन से पता चलता है कि नवम् कक्षा मे जो छात्र असफल रहे, वे सामाजिक दृष्टि से भी भली भाँति समजित नहीं थे तथा अनाकर्षक एवं अव्यवस्थित बनते जा रहे थे। ये लोग सामाजिक रीति-नीति से अनभिज्ञ होने के कारण अंतर्मुखी, लज्जालु एवं दुःखी थे।

एम० ए० बाइजनबेकर[1] ने इस प्रकार के किशोरों के अकेलेपन से सम्बन्धित कारकों का अध्ययन किया, ताकि इन बालकों के सामाजिक समंजन में सुधार लाया जा सके। इन्होंने नवम कक्षा में अध्ययन करने वाली 66 बालिकाओं का चयन किया तथा उनसे अपनी पसन्द के प्रथम चार मित्रों की सूची बनाने को कहा। इससे प्राप्त परिणामों का अध्ययन किया गया, जिससे ज्ञात हुआ कि नए घनिष्ठ गुट कक्षा में वर्तमान थे। इससे यह भी ज्ञात हुआ कि अनेक बालिकाएँ ऐसी भी थी, जिन्हें किसी ने भी पसन्द नहीं किया। इस प्रकार की उपेक्षित छात्राएँ कक्षा की किसी भी गतिविधि मे हिस्सा नहीं लेती थी। उनमें आत्म-विश्वास तथा सामाजिक गतिविधियों मे हिस्सा लेने वाली क्षमताओं का अभाव था, जबकि इसके विपरीत उन बालिकाओं में, जो कि उपेक्षित नहीं थी, संवेगात्मक स्थिरता थी। वे विद्यालय से बहुत कम अनुपस्थित रहती थी; उनकी रुचियाँ विविध प्रकार की थी; वे कक्षा के अनेक क्रिया-कलापों में हिस्सा लेती थी तथा अधिक ऊँचे स्तर के परिवारों से संबंधित थीं।

किशोर परस्पर एक दूसरे की किन विशेषताओं को सराहते या नापसन्द करते है ? इसकी जाँच ट्रायन (Tryon), 1939 ने एक अध्ययन मे की थी। उन्होंने औसतन बारह वर्ष की उम्र वाले एक वृहद् समूह की अनुक्रियाएँ प्राप्त कीं। पुनः उन्हीं व्यक्तियों का लगभग पन्द्रह वर्ष की अवस्था में परीक्षण किया। बालक एवं बालिकाओं द्वारा किए गए मूल्यांकनों मे कुछ अन्तर दिखाई पड़े। बारह वर्ष और पन्द्रह वर्ष वालों, विशेष रूप से बालिकाओं द्वारा व्यक्त मूल्यों में भी अन्तर दिखाई पड़े। बारह वर्ष की बालिकाओं ने ऐसे व्यक्तियों को स्वीकृत किया, जो अपेक्षाकृत शान्त, शिष्ट, अनुरूपतावादी एवं अनाक्रामक प्रवृत्ति के थे। उन्हीं बालिकाओं ने पन्द्रह वर्ष की आयु में शान्त एवं संकोची व्यक्तियों के प्रति कम प्रशंसा का भाव व्यक्त किया एवं जीवंतता, मनोरंजन की क्षमता, क्रियाशील होने की प्रकृति तथा खिलाड़ीपन आदि गुणों की प्रशंसा की। बालक बारह से पन्द्रह की अवस्था

1. बाइजनबेकर एम० ए० "ए स्टडी ऑफ द फैक्टर्स रिलेटेड टू सोशियल आइसोलेशन अमन्ग हाई स्कूल गर्ल्स विद इम्प्लीकेशन्स दैट सोशियल एडजस्टमेन्ट मे बी इम्प्रूव्ड", मास्टर्स थीसिस, जियोर्जिया विश्व-विद्यालय, 1952 पृ० 32.

तक अपने मूल्यांकन में अधिक संगत (Consistent) थे। दोनों ही आयु में वे बालकों की प्रतिष्ठा का आधार शारीरिक कौशल, अग्रघर्षण एवं निर्भीकता को मानते हैं।

किशोर और गुट

गुट एवं टोलियाँ (Gangs & cliques) किशोरावस्था की विशेषताएँ हैं। किशोर संसार के ये छोटे-छोटे समूह एक प्रकार की आत्म-निर्भर इकाइयों की तरह होते हैं। कभी भी यदि चौदह वर्ष की बालिका से यह प्रश्न पूछा जाए कि वह कहाँ घूम रही थी, तो तुरन्त उसका जवाब होगा, "अरे, मैं तो यहीं अपनी टोली के साथ खेल रही थी।" एल्मटाउन के युवकों (Elmtown's youth)[1] का हॉलिंगशेड ने विस्तार से अध्ययन किया है। इस अध्ययन के अनुसार किशोरों का सामाजिक आचरण समुदाय के सामाजिक ढाँचे में उनके परिवार का जो स्थान होता है, उससे प्रभावित रहता है। ये गुट अपने समूह के सदस्यों की गतिविधियों पर भी प्रभाव डालते हैं।

बालक-बालिकाओं के इन गुटों में अधिकतर एक ही कक्षा के विद्यार्थी होते हैं। कभी-कभी एक कक्षा ऊपर या एक कक्षा नीचे के भी विद्यार्थी पाए जाते हैं परन्तु दो या तीन कक्षा ऊपर या नीचे के विद्यार्थी तो नहीं के बराबर होते हैं।

किशोरावस्था में सामाजिक परिपक्वन

बालक जैसे-जैसे शैशव से किशोरावस्था की ओर बढ़ता है, अपने आयु-वर्ग के सदस्यों के साथ उसका सम्बन्ध अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जाता है। किशोरावस्था में अपने साथियों के साथ व्यक्ति का व्यवहार और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। किशोरावस्था से, जब वह प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था में पदार्पण करता है, तब सभी प्रौढ़ व्यक्ति, कम से कम कानूनी दृष्टि से, उसके समकक्ष होते हैं। समाज में उसे अपना स्थान बनाना पड़ता है, जहाँ केवल उसी के आयु-वर्ग के लोग नहीं होते, बल्कि ऐसे प्रौढ़ व्यक्ति भी होते हैं, जो आयु में तो इससे बड़े होते हैं परन्तु मतदाता, नागरिक, माता-पिता, कर्मचारी तथा अन्य अनेक रूपों में उसके समकक्ष होते हैं। अपने से बहुत भिन्न आयु वाले व्यक्तियों के साथ इस प्रकार बराबरी की भूमिका अदा करने में किशोर अपनी बाल्यावस्था की भूमिका से बहुत दूर जा पड़ता है। अनेक युवा व्यक्ति प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करने पर भी संक्रमण की ही स्थिति में रहते हैं और कुछ तो अनेक वर्षों तक प्रौढ़ जीवन व्यतीत कर चुकने पर भी अपने से उम्र अथवा अधिकार और प्रतिष्ठा में बड़े लोगों के प्रति अपनी बालोचित अभिवृत्ति बनाए रखते हैं।

किशोर जब अपने सामाजिक क्षेत्र में अपने को प्रतिष्ठित करने में लगा होता है, उस समय उसके जीवन में अपने परिवार का बड़ा महत्त्व होता है। समय-समय पर नैतिक तथा संवेगात्मक समर्थन के लिए वह अपने माता-पिता का सहारा लेना चाहता है। दूसरे शब्दों में, सामान्य परिस्थिति में यह प्रक्रिया पुराने सम्बन्धों से बिल्कुल टूट जाने की प्रक्रिया नहीं होती। यह ठीक है कि अब घर से बाहर की दुनिया के प्रति उसकी निष्ठाएँ और लगाव प्रायः अधिक वजनदार हो जाते हैं पर पुराने बंधनों का स्थान वे पूर्णरूप से ग्रहण नहीं कर सकते।

---

1. हॉलिंगशेड ए. बी : "एल्मटाउन्स यूथ", न्यू योर्क : जॉन विले एण्ड सन्स, 1949.

इस प्रकार किशोर धीरे-धीरे सामाजिक परिपक्वता प्राप्त करता है। सामाजिक परिपक्वता का अर्थ है—अपनी जिम्मेदारियाँ स्वयं संभालना, भविष्य के लिए किसी न किसी रूप में प्रबन्ध करना या योजना बनाना, माता-पिता से अलग रहना, निकटस्थ या दूरस्थ स्थानों में अकेले जाना, बैंक में अपना खाता खोलना आदि अनेकों कार्यों को करना।

सामाजिक स्वीकृति में समरूपता एवं परिवर्तन

प्राक्किशोरावस्था एवं प्रारम्भिक किशोरावस्था में व्यक्ति जिस सीमा तक अपने साथियों द्वारा स्वीकृत किया जाता है, उसमें शीघ्र ही परिवर्तन नहीं आता। कम से कम एक दो वर्ष तो उसमें बहुत कुछ समानता बने रहने की सम्भावना रहती है। इस आयु वर्ग के किशोरों में अपनी लोकप्रियता कायम रखने की प्रवृत्ति स्पष्ट पाई जाती है। हाँ विद्यालय छोड़कर महाविद्यालय में जाने पर, जब किशोर की समूह सदस्यता बदल जाती है, तो उसके फलस्वरूप उसके मूल्यांकन में भी परिवर्तन आता है।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक समंजन में असंगतियाँ

दूसरों के द्वारा स्वीकृत व्यक्ति की अपेक्षा अपने साथियों द्वारा सम्मानित व्यक्ति शायद अपने व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक सम्बन्धों में भी सुखी और शांत रहता है, फिर भी हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि लोकप्रियता का अर्थ हमेशा यही होता है कि व्यक्ति का आन्तरिक विकास सुचारू रूप से हो रहा है। हम निश्चित रूप से यह नहीं मान सकते कि समाजमितिक प्रविधि (Sociometric technique) द्वारा जाँचने पर जो व्यक्ति ऊँचे अंक प्राप्त करता है, वह अपनी योग्यताओं का भी सर्वोत्तम उपयोग कर रहा है। फोक्स एवं सिकेल (Fox and Seckel) 1954, ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि जब व्यक्ति एक दूसरे को चुनता है, तब वह चुनाव इस बात से प्रभावित हो सकता है कि वे एक दूसरे के निकट रहते हों अथवा एक ही सामाजिक समूह के सदस्य हों या उनमें एक ही प्रकार के लक्षण और अभिरुचियाँ हों। यदि कोई व्यक्ति समाजमितिक परीक्षण में उचित स्थान प्राप्त करता है, पर यदि वह उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही चुना गया है, तो हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उस व्यक्ति का सामाजिक विकास भली-भाँति हो रहा है।

अन्य पर्यवेक्षकों (observers) ने नोट किया है कि लोकप्रियता के उच्च प्राप्तांकों के आधार पर जिसे सामाजिक सुसमंजन माना जाता है, उसका अर्थ "व्यक्तिगत सुसमंजन भी" हो, यह आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति समूह का इच्छुक (eager) सदस्य दिखाई पड़ सकता है तथा प्रभूत लोकप्रियता एवं स्वीकृति भी प्राप्त करता हुआ प्रतीत हो सकता है, फिर भी यह सम्भव है कि वह सुसंगठित अथवा शान्त व्यक्ति नहीं हो। वह एक ऐसा व्यक्ति हो सकता है, जिसे अपनी योग्यता में बहुत कम विश्वास हो और परिणाम-स्वरूप उसे कठिनाई से अर्जित लोकप्रियता द्वारा यह सिद्ध करने का निरन्तर प्रयास करना पड़े कि वह एक योग्य व्यक्ति है।

नॉर्थवे ने यह पाया कि ऐसे व्यक्तियों में से, जो सामाजिक स्वीकृति के समाजमितिक परीक्षणों में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं, कुछ गम्भीर रूप से विक्षुब्ध (disturbed) होते हैं। नार्थवे एवं विगडर (Northway and Wigdor) 1947, फॉशे (Foshay) 1951,

द्वारा किए गए एक अध्ययन में इस बात का संकेत मिलता है कि साथियों द्वारा प्रमुखं-स्वीकृति में इस बात का संकेत नहीं मिलता है कि व्यक्ति दूसरों के प्रति एक प्रकार की मधुर मित्रता तथा मैत्री पूर्ण अभिवृत्ति रखता है। उन्होंने यह पाया कि वे बच्चे, जिन्हें अपने साथियों से यथेष्ट स्वीकृति मिली होती है, उन बच्चों के प्रति जिन्हें कम स्वीकृति मिली होती है अथवा जो वर्ग में नए होते हैं, कभी-कभी काफी निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार करते हैं। दूसरी ओर, उस समूह में, जिसका फॉशे (Foshay) ने अध्ययन किया, साथियों से यथेष्ट-स्वीकृति-प्राप्त बच्चे अन्य यथेष्ट-स्वीकृति-प्राप्त बच्चों के प्रति प्रायः काफी अच्छा व्यवहार करते थे।

जहाँ एक ओर इस प्रकार के निष्कर्षों की शायद अपेक्षा की जाती है वहाँ उनमें यह कथन भी प्रमाणित होता है कि यद्यपि अपने साथियों से स्वीकृति प्राप्त करने में समर्थ होने वाले व्यक्ति का जीवन अवश्य ही कहीं अधिक जीने योग्य हो जाता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि सर्वाधिक स्वीकृति प्राप्त व्यक्ति में आम तौर से सर्वाधिक मूल्यवान समझी जाने वाली सामाजिक अभिवृत्तियाँ दीख पड़ें। कुछ समूहों में ऐसे कुछ दृष्टांत हैं, जो कि समूह के भीतर स्वीकृति की प्राप्ति, लोकप्रियता प्राप्ति की प्रतियोगिता का प्रतिफल हो सकती है, जिसमें व्यक्ति एक दूसरे से स्पर्धा करता है तथा यह हिसाब लगाता है कि किस प्रकार वह सबसे अधिक लोकप्रिय बन सकता है किन्तु ऐसा करने में वह स्वतः प्रेरित होकर पूर्ण रूप से दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करता।

किशोरों की लोकप्रियता के सम्बन्ध में प्रौढ़ों के निर्णय

किन लक्षणों के कारण, किस हद तक किशोर अपने समवयस्कों द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किए जाते हैं, यह पता लगाना कभी भी प्रौढ़ों के लिए सहज नहीं होता। प्रौढ़ व्यक्ति यदि किशोरों को अपने लक्ष्यों तथा मानकों के दृष्टिकोण से देखते हैं, तो वे कभी-कभी यह समझने में गलती कर जाते हैं कि अपने साथियों के बीच किशोर की स्थिति क्या है। जब प्रौढ़ व्यक्ति किशोरो को केवल उस आदर और श्रद्धा के आधार पर आँकते हैं, जो उनके प्रति किशोरो द्वारा व्यक्त होता है, तो वे एक ऐसे मानक का प्रयोग करते हैं, जिसका किशोरो के लिए कोई अर्थ नहीं होता, जब वे परस्पर एक दूसरे को आँकते रहते हैं। यदि किसी किशोर मे वे गुण हैं, जिनके कारण उसके साथी उसे पसन्द करते हैं, तो शायद वह प्रौढ़ो को भी प्रभावित करता और सभव है उन्हें भी वह अच्छा लगे, पर उसके अनेक अपवाद होंगे।

प्रतियोगिता

दूसरे व्यक्तियो के साथ किशोरों के सम्बन्धों का एक प्रमुख अग यह है कि वह किस ढंग से दूसरों के साथ प्रतियोगिता करता है तथा किस प्रकार वह अपने जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति दूसरो के साथ प्रतियोगिता द्वारा करता है।

प्रतियोगिता का विकासात्मक उपयोग एवं मूल्य

एक औसत किशोर को प्रतियोगी होने का प्रचुर मात्रा में अनुभव रहता है। अधिकतर किशोर विद्यालय में प्रविष्ट होने के पूर्व ही अपनी तुलना दूसरों से करने लगता है। उनमे से अनेक तो चार वर्ष अथवा उसके आस-पास की उम्र में ही इस बात पर ध्यान

अध्याय 15

किशोरावस्था एवम् समुदाय

समुदाय और किशोर

छोटे बालकों के माता-पिता अपने बालक के लिए समुदाय से कुछ भी अपेक्षा नहीं करते क्योंकि अभी वह शिशु न तो विद्यालय ही जा सकता है, न सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन ही देख-सुन सकता है, न ही वह पुस्तकालय जा सकता है। ये सब वस्तुएँ अभी उसके उपयोग की नहीं हैं। हाँ वह समुदाय से अपने बालक के लिए उसके उचित पालन-पोषण संबंधी सूचना चाह सकता है; खुली हवा व शुद्ध पानी की माँग कर सकता है; आवास के लिए पर्याप्त मकान की इच्छा कर सकता है परन्तु जैसे ही वह बालक किशोरावस्था की ओर बढ़ता है, घर में और घर से बाहर दोनों ही स्थानों की गतिविधियों में समुदाय अपना प्रभाव डालता है। किशोर विद्यालय जाता है, जहाँ वह छः या सात घन्टे व्यतीत करता है। यह उस समुदाय पर निर्भर करता है कि वह विद्यालय के लिए किस प्रकार का भवन, शिक्षक आदि उपलब्ध कराता है। इसी प्रकार समुदाय उसके मनोरंजन की सामग्री जुटाता है—रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, पत्र-पत्रिका, सभी उसकी रुचियों को प्रभावित करते हैं। अवकाश के समय के सदुपयोग के लिए भी किशोर समुदाय पर ही निर्भर करता है—समुदाय उसे किस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है, वे उस पर अच्छा या बुरा कैसा प्रभाव डालती हैं। समुदाय ही उसके लिए मिलजुल कर कार्य करने के अवसर जुटाता है। यह अवसर सभी प्रकार की रुचियों, योग्यताओं, आयु आदि के किशोर को ध्यान में रखकर प्रदान किए जाते हैं।

इस प्रकार वृद्धिशील बालक समुदाय के कुल वातावरण में रहता है और सीखता है। उसके व्यवहार एवम् व्यक्तित्व को वह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रभावित करती है, जिसमें कि वह रहता है और सीखता है; जिसका कि वह एक अंग है। आगे दिए गए चित्र में बालक की वृद्धि एवम् विकास के साथ विस्तृत होते सामाजिक क्षितिज को दर्शाया गया है।[1]

शैशवावस्था में प्रभावित करने वाला सबसे बड़ा भाग परिवार-समूह का होता है। पूर्व-किशोरावस्था में खेल-समूह तथा गुट व अन्य साथी प्रभावित करते हैं। आयु में वृद्धि

---

1. ब्राउन, एफ. जे., "द सोशियोलोजी ऑफ चाइल्ड हुड," न्यू यार्क; प्रेन्टिस हाल, 1939.

है, इसमें पराजय की कटुता की अपेक्षा आनंद और उत्साह की प्रचुर मात्रा होती है। अस्वस्थ प्रतियोगिता में विषमता होती है, दूसरे को पराजित करने की भावना रहती है। घर हो या विद्यालय या समुदाय सभी स्थान प्रतियोगिता से भरे होते हैं।

अनुरूपता जीवन के वास्तविक एवं सामान्य अनुकूलन का ही एक अंग है। कभी-कभी यह आत्म-समर्पण का रूप भी ले सकती है। अधिकांश किशोर स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव करते हैं, अपने भीतर पर्याप्तता का अनुभव करते हैं, बाह्य पर्यावरण की अपेक्षा अंतःप्रेरणा से चालित होते हैं। अतः उनमें अनुरूपता लाने की इच्छा कम हो जाती है। फिर भी कभी-कभी कुछ किशोर स्व के विकास की अपेक्षा दूसरों के कथन से, अपने संबंध में उनकी धारणाओं से बुरी तरह चिपका रहता है। इससे उसकी परनिर्भरता की भावना बढ़ जाती है और आन्तरिक मृत्यु हो जाती है। वह एक व्यक्तित्वहीन व्यक्ति बन जाता है।

किशोर के विलिंगकामी विकास में मानव अस्तित्व को प्रभावित करने वाली सभी प्रमुख शक्तियों की परस्पर-क्रिया होती रहती है। विलिंगकामी विकास किशोर के जीवन को ढालने वाले जैव, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक प्रभावों का संगमस्थल है। किशोरावस्था तक पहुँचते पहुँचते अनेक बालक बालिकाओं में तो काम सम्बन्धी अनुभव प्राप्त हो जाते हैं। कुछ बालक बालिकाओं में तो किशोरावस्था के पूर्व ही वास्तविक लैंगिक अनुक्रिया की काफी सामर्थ्य रहती है।

किशोरावस्था में बालक बालिकाओं की इच्छा भिन्न लिंगियों के साथ उठने-बैठने, घूमने-फिरने की होती है, चाहे उनके माता-पिता उन्हे अनुमति दें अथवा नही। यद्यपि इस प्रिय-मिलन में संकोच की भावना अधिक होती है।

बालिकाएँ अपने प्रणय-आदर्श या भावी पति में आर्थिक सामर्थ्य, शिक्षा, महत्त्वाकांक्षा, पारिवारिक पृष्ठभूमियों की समानता, दूसरों का लिहाज रखने की प्रवृत्ति आदि विशेषताएँ चाहती हैं। बालक अपनी प्रियतमा मे तारुण्य, आकर्षकता, लोकप्रियता आदि पसन्द करते हैं।

□□□

अध्याय 15

किशोरावस्था एवम् समुदाय

समुदाय और किशोर

छोटे बालकों के माता-पिता अपने बालक के लिए समुदाय से कुछ भी अपेक्षा नहीं करते क्योंकि अभी वह शिशु न तो विद्यालय ही जा सकता है, न सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन ही देख-सुन सकता है, न ही वह पुस्तकालय जा सकता है। ये सब वस्तुएँ अभी उसके उपयोग की नहीं हैं। हाँ वह समुदाय से अपने बालक के लिए उसके उचित पालन-पोषण संबंधी सूचना चाह सकता है; खुली हवा व शुद्ध पानी की माँग कर सकता है; आवास के लिए पर्याप्त मकान की इच्छा कर सकता है परन्तु जैसे ही वह बालक किशोरावस्था की ओर बढ़ता है, घर में और घर से बाहर दोनों ही स्थानों की गतिविधियों मे समुदाय अपना प्रभाव डालता है। किशोर विद्यालय जाता है, जहाँ वह छ या सात घन्टे व्यतीत करता है। यह उस समुदाय पर निर्भर करता है कि वह विद्यालय के लिए किस प्रकार का भवन, शिक्षक आदि उपलब्ध कराता है। इसी प्रकार समुदाय उसके मनोरंजन की सामग्री जुटाता है—रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, पत्र-पत्रिका, सभी उसकी रुचियों को प्रभावित करते हैं। अवकाश के समय के सदुपयोग के लिए भी किशोर समुदाय पर ही निर्भर करता है—समुदाय उसे किस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है, वे उस पर अच्छा या बुरा कैसा प्रभाव डालती है। समुदाय ही उसके लिए मिलजुल कर कार्य करने के अवसर जुटाता है। यह अवसर सभी प्रकार की रुचियों, योग्यताओं, आयु आदि के किशोर को ध्यान में रखकर प्रदान किए जाते हैं।

इस प्रकार वृद्धिशील बालक समुदाय के कुल वातावरण मे रहता है और सीखता है। उसके व्यवहार एवम् व्यक्तित्व को वह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रभावित करती है, जिसमें कि वह रहता है और सीखता है; जिसका कि वह एक अंग है। आगे दिए गए चित्र मे बालक की वृद्धि एवम् विकास के साथ विस्तृत होते सामाजिक क्षितिज को दर्शाया गया है।[1]

शैशवावस्था में प्रभावित करने वाला सबसे बड़ा भाग परिवार-समूह का होता है। पूर्व-किशोरावस्था मे खेल-समूह तथा गुट व अन्य साथी प्रभावित करते है। आयु मे वृद्धि

---

1. ब्राउन, एफ. जे., "द सोशियोलोजी ऑफ चाइल्ड हुड," न्यू यार्क; प्रेन्टिस हाल, 1939.

के साथ-साथ सामाजिक क्षितिज विस्तृत होता जाता है तथा उसमें अनेक गौण-समूह सम्मिलित होते जाते हैं तथा समुदाय के बड़े सांस्कृतिक प्रतिमान उसके ऊपर निरन्तर बढने वाला प्रभाव फैलाते रहते है।

समुदाय का ढाँचा एवं संगठन

विज्ञान एवं तकनीकी के प्रभाव के कारण विश्व के समस्त देशों के सामाजिक ढाँचे मे अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। कुछ समय पूर्व देहाती सभ्यता थी, भारत में 90 प्रतिशत जनसंख्या देहाती थी, अमरीका में 72 प्रतिशत जनसंख्या देहाती थी परन्तु धीरे-धीरे कृषि-प्रधान देहाती संस्कृति घटती गई तथा शहरी सभ्यता मे वृद्धि होती गई। इसके कारण महानगरों का विकास हुआ। दो विश्व युद्धो के पश्चात् तो महानगरीय सभ्यता और भी तीव्र गति से बढ़ने लगी। इस कारण जीवन, सांस्कृतिक रुचियो तथा मूल्यों आदि सभी में परिवर्तन आया। इसके कारण अनेक नैतिक व सामाजिक विवाद उठ खड़े हुए। पुराने मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लग गए। अनेक ऐसी नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई, जिनका कि पुरानी पीढ़ी को कभी सामना नही करना पड़ा था।

सामाजिक स्तरीकरण के प्रभाव

जटिल जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाज में अनेक प्रकार के व्यवसाय, धर्म, एवं संगठन पाए जाते हैं। यह सब किशोर को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं।

यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि समाज की किस कड़ी में किशोर का परिवार आता है। हॉलिंग्शेड[1] के अध्ययन से प्राप्त विवरण एवम् निष्कर्ष के आधार पर इसे समझाया जा सकता है। यह अध्ययन एल्मटाउन के किशोरों पर सामाजिक वर्गों का क्या प्रभाव पड़ता है, से सम्बन्धित था। एल्मटाउन का समाज पाँच वर्गों में बँटा हुआ था।

वर्ग प्रथम—कुलीन वर्ग जिसके पास अथाह सम्पत्ति एवं पैतृक प्रभुता है।
वर्ग द्वितीय—उच्च वर्ग—प्रथम वर्ग से कुछ कम
वर्ग तृतीय—मध्यम वर्ग
वर्ग चतुर्थ—निर्धन वर्ग—ईमानदार एवं परिश्रमी
वर्ग पंचम—निम्न वर्ग—समाज का सबसे अधिक हताश एवं पराजित वर्ग-ऊपर के सभी चारों वर्गों की घृणा का पात्र।

यह सामाजिक स्तरीकरण किशोर को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। विद्यालय में पाठ्यक्रम या पाठ्येतर प्रवृत्तियों का चयन, अनुशासन, समूह या गुट निर्माण, विद्यालय में स्थान आदि सभी इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस वर्ग से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ पाठ्येतर गतिविधियों में प्रथम व द्वितीय वर्ग के लगभग 75 प्रतिशत छात्र होते हैं, जबकि पंचम वर्ग के 27 प्रतिशत छात्र ही सांस्कृतिक व खेलकूद के कार्यक्रमों में हिस्सा ले पाते हैं।[2]

रैसमेन[3] ने भी इस सम्बन्ध में अध्ययन किया तथा वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि समुदाय के कार्यक्रम, विभिन्न संगठन, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में उच्च वर्ग के किशोर अधिक सक्रिय होते हैं। सामाजिक स्तर के किशोर पर पड़ने वाले प्रभाव उनकी अभिवृत्तियों, त्यौहार, आकांक्षाओं तथा समकक्ष समूह द्वारा उनके स्वीकरण में परिलक्षित होते हैं। ये उनकी व्यावसायिक आकांक्षाओं को भी प्रभावित करते हैं।

समुदाय के सामाजिक ढाँचे का महत्त्व

शिक्षक के लिए समुदाय के सामाजिक ढाँचे से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। हो सकता है शिक्षक स्वयं मध्यम वर्ग से सम्बन्धित हो तथा वह अपनी पृष्ठ-भूमि एवं रुचियों के अनुसार अपने विद्यार्थियों का मूल्यांकन करना प्रारम्भ कर दे। इससे वह उन्हें कठिनाई में डाल देगा। हेविगहर्स्ट की यह दृढ़ मान्यता है कि यदि सभी शिक्षक समुदाय के सामाजिक ढाँचे को भलीभाँति समझते हैं, तो (1) वे अपने विद्यार्थियों की अभिप्रेरणाओं को अधिक भली प्रकार से समझ सकेंगे, (2) वे अपने वर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों के विद्यार्थियों की योग्यताओं से भी अधिक परिचित हो सकेंगे, (3) वे समकक्ष-समूह की संस्कृति को भली प्रकार समझ सकेंगे, (4) उन्हें इस बात का भी अच्छा ज्ञान हो जाएगा कि विभिन्न वर्गों के विद्यार्थियों के लिए विद्यालय का क्या अर्थ होता है। उदाहरण के लिए ऊपर लिखा गया एल्मटाउन का वर्ग-भेद लिया जा सकता है।

---

1. हॉलिंग्शेड, ए. बी. : "एल्मटाउन के यूथ" न्यूयार्क 1949.
2. मारगरेट माम एण्ड जेमीसन श्रो. जी., "एडोलेसेन्स" मेक-ग्रो-हिल बुक कम्पनी, पृ० 429.
3. रैसमेन एल. "क्लास, लेजर एण्ड सोशियल पार्टीसिपेशन," अमरीकन सोशियोलोजिकल रिव्यू, 1954 अंक 19 पृ० 76-84,

किशोर के विकास में समुदाय का भूमिका

किशोर के विकास में समुदाय का क्या योगदान एवं महत्त्व है, इसका मूल्यांकन करना एक दुष्कर कार्य है। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि पारिवारिक इकाई के आकार एवं कार्यों के अभाव में समुदाय की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। जॉन ड्यूवी[1] ने वर्षों पूर्व परिवार व समुदाय का चरित्र-विकास में क्या महत्त्व है, इस तथ्य को समझ लिया था। उनके अनुसार "समुदाय को हमेशा ही प्रत्यक्ष सद्व्यवहार का विषय रहना चाहिए। यही कारण है कि परिवार एवं पड़ोस अपने तमाम अभावों के पश्चात् भी व्यक्ति के पालन-पोषण, अभिवृत्तियों के विकास एवं चरित्र-निर्माण के प्रमुख अभिकरण रहे है। "वांछित वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास शून्य मे नही होता है। न ही वह अत्यधिक सीमित अनुभवों में संभव है। किशोर को अपने परिवार तथा पास-पड़ोस से दूर भी सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने के एवं दायित्व वहन करने के तथा पहल करने के अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए ताकि वे वैयक्तिक एवं सामाजिक आत्म का विकास कर सकें।

किशोर के आचरण एवं विकास को समुदाय अनेक प्रकार से प्रभावित करता है—

1. प्रत्येक समुदाय कुछ प्रतिदर्श स्थापित करता है, जिनकी किशोर को शिक्षा दी जाती है।

2. किशोर के मन मे कार्य व व्यवहार, नैतिकता, जीवन के उद्देश्य आदि को लेकर अनेक प्रश्न उठते हैं। समुदाय न केवल उनका समाधान करने का प्रयत्न करता है बल्कि इस बात पर बल भी देता है कि किशोर उन समाधानों को ही स्वीकार करे। जिस समाज मे वैविध्य का जितना अभाव होगा, उतना ही किशोर के चयन का क्षेत्र भी सीमित होगा।

3. समुदाय की संस्कृति किशोर को प्रभावित करती है। किशोर की पसन्द व नापसन्द, पूर्वाग्रह, रुचियाँ, प्रशंसाएँ, मूल्य आदि सभी उस समुदाय से प्रभावित रहती है, जिसका कि वह सदस्य है साधारणतः परिवार व समुदाय के प्रभावों के मध्य कोई संघर्ष नही होता है क्योकि आमतौर पर परिवार उसी समुदाय की उपज होते हैं।

समुदाय का मूल्यांकन

हमने देखा कि किशोर के विकास एवं निर्माण मे समुदाय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है परन्तु क्या समुदाय इस कार्य को सुचारु एवं व्यवस्थित रूप से कर पाता है, यह एक अहम् प्रश्न है। किशोरों एवं उनके अभिभावकों के लिए यह एक गम्भीर समस्या है। समुदाय द्वारा किशोर के लिए किए गए कार्यों का मूल्यांकन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1. क्या समुदाय सभी किशोरो की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है ? यदि उत्तर हाँ में है, तो समुदाय का यह कर्तव्य है कि किशोरों को आवास के लिए उचित स्थान दे, आस-पडौस सुन्दर हो, किसी प्रकार की गन्दगी नही हो। वह अशिक्षित माता-पिता के लिए प्रौढ-शिक्षा का प्रबन्ध करे। किशोरों के लिए अच्छे विद्यालयों की स्थापना करें, जिनमे किशोरो को उचित शिक्षा दी जाए; भवन अच्छा हो; शिक्षक पर्याप्त मात्रा मे एवं

---

1. ड्यूवी; जे. "द पब्लिक एण्ड इट्स प्रोबलम्स," न्यूयार्क, हैनरीहोल्ट 1927 पृ० 211-212.

कुशल तथा विद्वान हो। समस्यात्मक किशोरों के लिए निर्देशन सेवाएँ उपलब्ध हो तथा मनोरंजन की उचित सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

2. क्या समुदाय विशेष रूप से अपराध की ओर प्रवृत्त किशोरो के रक्षण में समर्थ है ?

यदि उत्तर हाँ मे है, तो समुदाय का कर्तव्य है कि वह माता-पिता को उचित निर्देशन एवं सूचना सेवाएँ उपलब्ध कराए, काम पर जाने वाली महिलाओ की अनुपस्थिति में बालकों के लिए उचित देखभाल के केन्द्रों की स्थापना करे, ग्रीष्मावकाश के लिए कार्यक्रम बनाए; किशोर एवं किशोरियों के लिए नियोजन के उपयुक्त अवसर प्रदान करे; जन-सेवा के अवसरों का उचित विज्ञापन करे तथा यह भी निरीक्षण करे कि कार्य-स्थान साफ-सुथरे व भले क्षेत्र मे स्थित हैं। मानसिक रूप से विक्षुब्ध एव शारीरिक रूप से असहाय परिवारों को सहायता देने का प्रबन्ध करे।

3. क्या समुदाय अपने अन्दर के हानिकारक प्रभावों का कड़ा व उचित नियंत्रण करने में सक्षम है ?

यदि उत्तर हाँ में है तो समुदाय का कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक आमोद-प्रमोद व भोजन-गृहों के नियंत्रण के लिए वैधानिक अधिकार रखता हो; किशोर अपराधियों के शोषण को समाप्त करने का प्रयत्न करे; अश्लील साहित्य, मादक द्रव्य आदि की बिक्री तथा वेश्यालयों की समाप्ति की ओर सक्रिय हो, किशोरों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ बनाने की दिशा मे सशक्त कदम उठाए।

यदि कोई समुदाय या उसके विभिन्न अग जैसे पुस्तकालय, युवक सगठन आदि उपरोक्त कार्यों को उचित प्रकार से कर पाते है, तो कहा जाएगा कि वह समुदाय युवकों के लिए उपयुक्त है।

किशोर की अवकाशकालीन गतिविधियाँ

यांत्रिक विकास के कारण किशोर की औद्योगिक क्षेत्र में श्रम करने की आवश्यकता समाप्त हो गई है। यही नही घर हो या कृषि का क्षेत्र सभी स्थानो पर कार्य-पद्धति सरल हो गई है, किशोर की अब वहाँ आवश्यकता नहीं रहती। किशोर के जीवन को तकनीकी अनुसंधानों ने अत्यन्त प्रभावित किया है। कुछ मुख्य प्रभाव निम्न हैं—

1. इससे शिक्षा की सामग्री तथा अवधि मे वृद्धि हुई है,
2. अवकाश के समय मे वृद्धि हुई है;
3. व्यय मे वृद्धि हुई है;
4. नियोजन की आयु भी बढ़ गई है; परिणामतः आर्थिक निर्भरता से स्वतंत्र होने की आयु में भी वृद्धि हुई है। आज समय मे अगाध परिवर्तन आया है तथा किशोर के सामने यह नई समस्या उत्पन्न हुई हैं कि वह अवकाश समय का उपयोग किस प्रकार करे। आधुनिक विद्यालयों के सम्मुख भी अवकास समय के लिए शिक्षा की चुनौती उपस्थित हो गई है।

1. किशोरों के सर्वाधिक लोकप्रिय क्रिया-कलाप—किशोर एवं किशोरियों द्वारा अपने अवकाश का सदुपयोग उनकी रुचियो पर निर्भर करता है। अमरीका मे किए गए

सर्वेक्षण के अनुसार कक्षा नवम व दशम के विद्यार्थी औसत 2.75 घंटे प्रतिदिन दूरदर्शन देखने में व्यतीत करते हैं।[1] लगभग यही स्थिति अब भारत में भी बनती जा रही है। वैसे नवीनता का आकर्षण समाप्त होने के साथ-साथ दूरदर्शन देखने का समय भी घटता जाता है। अनेक अध्ययनों द्वारा यह निष्कर्ष निकला है कि किशोरियों की अपेक्षा किशोर दूरदर्शन के प्रति अधिक उत्साही होते हैं। इसका कारण शायद उनका खेलों के प्रति लगाव है। किशोर अपने अवकाश के समय का अधिकांश भाग खेल-कूद में व्यतीत करते हैं; इसके बाद सिनेमा या अन्य सामाजिक कार्यों की बारी आती है। किशोरियाँ अपना सबसे अधिक समय क्रमश: गपशप, सिनेमा देखने तथा खेलकूद में व्यतीत करती हैं। यौवनारम्भ के साथ किशोर एवं किशोरियाँ दोनों मे ही विलिंगकामी क्रियाओं की ओर आश्चर्यजनक वृद्धि होती है।

2. अवकाश कार्य तथा सामाजिक-आर्थिक स्तर—सामाजिक आर्थिक स्तर के अनुसार समुदाय की संस्कृतियों मे भी परिवर्तन आ जाता है और परिणामत: किशोरो के अवकाश समय के क्रिया-कलापों मे भी।

कुलीन एवं उच्च परिवार के सम्पन्न किशोर ग्रीष्मावकाश मे उन शिविरों में जाते हैं, जहाँ व्यय की अधिकता के कारण अधिकाश बालक नही जा सकते। इसी प्रकार वे ऐसे क्षेत्रों की यात्रा करते हैं या होटलों मे ठहरते है जहाँ कुछ चुने हुए समूह ही जा सकते हैं। यही नही उनकी शिक्षण संस्थाएँ भी पृथक् ही होती हैं। मध्य या निम्न वर्ग के किशोर तो उनमे शिक्षा प्राप्त करने की कल्पना भी नही कर सकते। कहने का तात्पर्य यह है कि उच्च सामाजिक स्तर एवं सुसम्पन्न आर्थिक स्थिति के कारण ये लोग जीवन की कठिनाइयों से अनभिज्ञ रहते हैं तथा अपेक्षाकृत अकेले रहते हैं। इनकी अवकाश समय की गतिविधियाँ भी व्यावर्तक रहती है।

जबकि मध्यम वर्ग की अवकाश समय की क्रियाएँ चयनित होती हैं। आर्थिक कारणों से ये किशोर सार्वजनिक विद्यालय, पार्क एव अन्य सार्वजनिक स्थानो मे ही पाए जाते हैं परन्तु किशोर व उनके माता-पिता इस बात का अवश्य ध्यान रखते हैं कि ये स्थान मध्यमवर्गीय सस्कृति व मूल्यो से परे तो नही है। इस सबंध में मध्यम वर्गीय परिवार अधिक हठी होते है। उनका यही प्रयत्न रहता है कि वे सामाजिक रूप से नीचे जाने वाले कार्य नही करें।

बचे-खुचे कार्य निम्न वर्ग के बालको और युवाओ के लिए होते हैं। ये जो भी सरलता से उपलब्ध हो जाए वही क्रियाएँ अपना लेते हैं। ये जीवन की कठिनाइयों में ही पलते हैं। माता-पिता के पास इतना समय नही होता कि वे इनकी देखभाल कर सकें। अवकाश समय मे ये लोग आस-पास के खेल के मैदानों में, गली-मोहल्लों में देखे जा सकते है। उचित परामर्श एवं प्रेरणा इन्हे नही मिल पाती।

खेल के साथी

किशोरावस्था से कुछ ही समय पहले बालक व बालिकाएँ साथी का चयन करते हैं

---

1. विट्टी. पी., "टेलीविजन एण्ड द हाई स्कूल स्टूडेन्ट", एड्यूकेशन 1951, अंक 72 पृ॰ 242-251.

तथा उनके साथ घनिष्ठ मित्रता व लगाव बढाते हैं। इन साथियों के चयन में सामाजिक स्तर की क्या भूमिका है, इस सम्बन्ध मे न्यूगार्टन ने विस्तृत अध्ययन किया है।[1] इन अध्ययनों के आधार पर उन्होंने पाया कि सबसे निम्न स्तर को अपवाद के रूप में छोडकर अन्य सभी स्तर के किशोर मित्र बनाते समय प्राथमिकता अपने से उच्च स्तर के लोगों को देते हैं और दूसरे नम्बर पर आते हैं उनके स्वयं के स्तर के लोग। सबसे उच्च वर्ग के किशोर अत्यधिक पसन्द किए जाते है, जब कि निम्नतम वर्ग के किशोरों को नही के बराबर पसन्द किया जाता है। कुलीन वर्ग के किशोर के साथ मित्रता रखने के लिए सभी लालायित रहते हैं, जब कि निम्न वर्ग के बालक को विपरीत स्थिति का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार किशोर मित्रो का चयन करते समय जाने-अनजाने मे उन्ही रूढियो का अनुसरण करता है, जो कि उसने अपने माता-पिता से पाई हैं। माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक विद्यालयों में उच्चतम वर्ग का किशोर निश्चय ही अपने समूह के आकर्षण का केन्द्र रहता है, चाहे उसकी प्रतिष्ठा अच्छी हो या बुरी।

खेलकूद के कार्यक्रम भी किशोरों को एक दूसरे की ओर आकर्षित करने मे अपना महत्त्व रखते है। हालांकि यह बात किशोरियों के लिए पूर्णतः सही नही है। किशोरियाँ अपनी मित्र चुनते समय परिवार के सदस्यो की भावनाओं का भी ध्यान रखती हैं।

शिक्षा एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह कहावत खरी उतरती है कि "एक समूह के पक्षी साथ-साथ उड़ते हैं।" किशोरावस्था में तथा उसके बाद भी मित्रों के चयन मे प्रमुख घटक उनकी अपनी पसन्द होता है। अतः बचपन तथा प्राक्किशोरावस्था मे ही ऐसे प्रयत्न किए जाने चाहिए कि वे मित्र बनाते समय अच्छी रुचियों का परिचय दे सकें। वांछित लक्ष्य की ओर निर्देशित आचरण के आदर्शों का शनैः शनैः विकास होता है। शिक्षा एवं मनोविज्ञान का विकासात्मक संप्रत्यय इसी बात पर बल देता है। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा व वातावरण से किशोर में जैसी भावनाओं का विकास होता है, उसी के अनुसार वह अपने मित्रो का चयन करता है। यदि वह अनचाहे या अवांछित व्यक्तियो से मित्रता करता है, तो उसे रोकना या फटकारना या उसकी निन्दा करना व्यर्थ है। बड़े होने पर उसके लिए नए वातावरण का तैयार किया जाना, जीवन मूल्यों के नए अर्थ सिखाना, हो सकता है, उस पर प्रतिकूल प्रभाव ही डालें। किशोरावस्था में इस दिशा में डालें गए दबाव या लगाए गए बन्धन, हो सकता है, मामले को और भी अधिक उलझा दें तथा उसके मस्तिष्क में विरोधी भावनाओ को उभार दें।

समूह एवं गुटों का निर्माण

किशोरावस्था मे लड़के लड़कियो का झुकाव गुट, समूह समितियाँ क्लबों आदि के सगठन की ओर रहता है; यह कार्य जीवन की गुट-स्थिति का सही प्रतिनिधित्व करता है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों से पता चलता है कि एक ही समूह के सदस्यों का बौद्धिक स्तर भी समान होता है। सदस्य अधिकतर सीमित भौगोलिक क्षेत्रों से ही आते हैं। बहुत कुछ सीमा तक ये गुट आस-पड़ोस में ही सक्रिय रहते है। इन समूहों में रहकर युवक-युवती दूसरों के

1. न्यूगार्टन बी., "सोशियल क्लास एण्ड फ्रैंडशिप अमन्ग स्कूल चिल्ड्रन", अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलोजी, 1946 अंक 51, पृष्ठ 305-313.

साधारण सम्बन्धी प्रतिमानों से प्रभावित होते हैं तथा अपनी गतिविधियों से दूसरों को प्रभावित भी करते हैं। अपनी रुचियों, पसन्द, नापसन्द, इच्छाओं आदि की दृष्टि से ये समूह समजातीय होते हैं। इनके आदर्शों एवं अभिवृत्तियों में भी सामाजिक एकरूपता पाई जाती है। समूह के सदस्यों की एक दूसरे के प्रति प्रतिबद्धता रहती है। यह कभी-कभी तो इस पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है कि प्रारम्भ में स्थापित आदर्शों यथा सत्यनिष्ठा, ईमानदारी आदि के प्रति प्रतिबद्धता को भी झुठला देती है।

इन समूहों तथा गुटों का गठन कुछ सीमा तक उसके आस-पास की परिस्थितियों तथा स्थान के अनुसार होता है। छोटी बस्ती या बाजार की किसी गली या जिला या शहर या पुरवाड़ समुदाय में पाए जाने वाले समूहों की रुचियों एवं गतिविधियों में वैविध्य पाया जाता है। समूह जिस स्थान पर कार्य करते हैं वहाँ का वातावरण व भौगोलिक स्थिति भी उसके गठन को प्रभावित करती है। ये अनेक घटक, जिनके अन्दर कि गुट जन्म लेते हैं, पनपते हैं और विकसित होते हैं, स्थिति जन्य संसृष्टि (situation complex) कहलाते हैं, जिनके अन्दर कि मानव-स्वभाव के विभिन्न तत्त्वों की परस्पर क्रिया, समूह-घटना (gang phenomena) को जन्म देती हैं। नदी, पहाड़, रेगिस्तान, खाई खन्दक आदि का इन समूहों पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

किशोरों के लिए सामुदायिक कार्यक्रम

किशोर के सामाजिक एवं चरित्र सम्बन्धी विकास के लिए देहात या शहर किस का वातावरण अधिक उपयुक्त रहेगा, यह लम्बे समय से विवाद का विषय रहा है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि खुले मैदान मे, शहर के प्रतिबन्धों एवं कृत्रिमताओं से दूर रहकर किशोर का विकास अधिक स्वस्थ हो सकता है, जबकि शहरी वातावरण के पक्षधरो का यह मानना है कि ये लाभ अनेक हानियों के जन्मदाता है, क्योकि देहातों में शिक्षा सम्बन्धी तथा सामाजिक गतिविधियो सम्बन्धी अवसरो का अभाव रहता है, वहाँ रहकर युवक आधुनिक सुविधाओ से भी वंचित रह जाता है, यद्यपि आज के युग मे जहाँ जन-संचार व आवागमन के संसाधन काफी विकसित हो चुके है, यह प्रश्न गौण हो गया है। आज के देहाती युवक भी शहरी बनते जा रहे हैं।

युवकों की सेवा करने वाले संगठन

प्रायः सभी देशों में अनेक ऐसे सगठन है, जो कि युवको की सेवार्थ उद्यत रहते है। इन संगठनों के कार्य समुदाय विशेष के आकार, प्रतिमान एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार परिवर्तित होते रहते है। भिन्न समुदायों मे युवको के इन संगठनों द्वारा चलाए गए कार्य-क्रमों मे हिस्सा लेने की मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है। अनेक समुदायों की सबसे बड़ी खामी यह होती है कि वे समुदाय के सभी व्यक्तियों को सामाजिक एवं मनोरंजनात्मक अवसर प्रदान करने मे असफल रह जाते है। कुछ ऐसे समूह है, जो आर्थिक कारणों से समुदाय की गतिविधियों मे हिस्सा नही ले सकते क्योकि उनका सदस्य बनने के लिए अनिवार्य सदस्यता शुल्क देना उनके लिए सम्भव नही होता है। कुछ स्थितियों मे कुछ समूहो की जानबूझ कर अवहेलना कर दी जाती है क्योकि उनकी रुचियाँ भिन्न होती हैं। अत किशोरो का एक बहुत बड़ा हिस्सा इन कार्यों मे भाग नही लेता है। लड़के-लड़कियों की रुचियो मे भी अन्तर रहता है। लड़के अधिकतर क्लब, स्काउट, पर्वतारोहण, खेलकूद

आदि में हिस्सा लेते है। अधिकांश लड़कियाँ साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक कार्यों में हिस्सा लेती हैं।

युवकों द्वारा सामुदायिक कार्यक्रमों में भाग लेने में आने वाली बाधाए

किशोरों के लिए तैयार किए जाने वाले कार्यक्रमों में किशोरों को अवश्य ही सम्मिलित किया जाना चाहिए। यह नही कि इस कार्य को प्रौढ़ों को सौंप दिया जाए। किशोरों के भाग लेने के मार्ग में आने वाली अड़चनें निम्न हैं—

1. प्रौढ़ द्वारा किशोर के प्रति अत्यधिक संरक्षण का भाव किशोर को किसी भी स्वतन्त्र कार्यक्रम में भाग लेने से रोक देता है।
2. प्रौढ़ द्वारा किशोर को सामुदायिक कार्यक्रमो में भाग लेने की स्वीकृति नही मिलने से या इस प्रकार के कार्यक्रमों में उनके द्वारा अविश्वास प्रकट किए जाने से भी किशोर इन कार्यक्रमों मे हिस्सा लेने से हिचकिचा जाता है।
3. प्रौढ़ यदि हमेशा ही उच्चता की भावना प्रदर्शित करते हैं तो युवकों में हीन भावना आ जाएगी।
4. किशोर उत्साह से परिपूर्ण होता है। उसकी आन्तरिक भावना होती है कि वह विभिन्न कार्यक्रमों मे हिस्सा ले; परन्तु यदि उसे प्रयत्न एवं त्रुटि विधि (trial and error method) द्वारा सीखने के अवसर नही मिलते तो वह नया कुछ करने से वंचित रह जाता है।
5. विद्यालय के कार्यक्रमों में अधिक व्यस्तता के कारण समय का अभाव–इस सम्बन्ध में युवको को लोकहित में कुछ त्याग करना चाहिए और समय निकालना चाहिए, जैसा कि बहुत से प्रौढ करते हैं।
6. प्रौढो द्वारा इस तथ्य पर ध्यान नही दिया जाता कि युवको द्वारा भाग लेना एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसे वे धीरे-धीरे धैर्य रखकर ही सीख पाते हैं। एक अच्छा प्रतिनिधि बनना कोई सरल कार्य नही है–इसका तो माता-पिता, अध्यापक व समुदाय के नेताओं के सहयोग द्वारा क्रमिक विकास होता है।[1]

सामाजिक मनोरंजन के कार्यक्रम

मनोरंजन सभी के लिए अनिवार्य है। बिना मनोरंजन के जीवन मे संतुलन नही आ सकता। विलियम सी मैनिन्गर ने इस सम्बन्ध मे एक अध्ययन किया था। इनके निदान गृह में आने वाले रोगियों के सम्बन्ध मे छान-बीन करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि इन रोगियों की कभी कोई हॉबी (रुचिकर कार्य) नही रही; इन लोगों ने कभी भी किसी मनोरंजन के कार्यक्रम में हिस्सा नही लिया। इसके विपरीत संतुलित व्यक्तित्वों वाले समूह के सभी व्यक्ति किसी न किसी मनोरंजन के कार्यक्रम में विशेष रुचि रखने वाले पाए गए। व्यक्तियों के उचित संतुलन के लिए मनोरजन के प्रति झुकाव व उसमे हिस्सा लेना आवश्यक है। मनोरंजन एवं मानसिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मेनिन्गर ने

---

1. "मिडसेन्चुरी व्हाइट हाउस कॉनफ्रेन्स ऑन चिल्ड्रेन एण्ड यूथ की प्रोसीडिंग्ज"; रेले: हैल्थ पब्लीकेशन इन्स्टीट्यूट, 1950 पृष्ठ 284.

मानसिक स्वास्थ्य में मनोरंजन के योग दान के लिए तीन मार्ग बताए हैं। प्रथम यह है कि व्यक्ति साधारणतः अपनी आक्रामक आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं, इसकी पूर्ति अप्रत्यक्ष रूप से खेल कूद में–विशेषकर शारीरिक क्रियाओं वाले खेलकूद में–हिस्सा लेकर हो जाती है। दूसरा यह है, कि हम सभी में रचनात्मक या सृजनात्मक बनने की इच्छा रहती है, सृजनात्मक हॉबियों में भाग लेने से इसकी तुष्टि हो जाती है। तीसरे हमारी इच्छा आराम व तनावों से मुक्ति पाने की रहती है। संगीत की धीमी मधुर लय सुनकर, फिल्म या क्रिकेट का मैच देखकर, या मनपसन्द कहानी, उपन्यास या दूसरा साहित्य पढ़कर उससे मुक्ति मिल सकती है।

मनोरंजन न केवल सामाजिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, बल्कि इससे मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं को भी पूर्णतः प्राप्त होती है। यह किसी भी आयु के लिए महत्त्वपूर्ण है परन्तु किशोरावस्था के लिए तो विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, जबकि किशोर को विलिंगकामी समायोजन करने होते हैं तथा उसे प्रौढ के समान दृष्टिकोण, आदतें तथा जीवन का स्तर बनाना होता है। यह सब खेलकूद, नृत्य या इसी प्रकार के कार्यक्रम द्वारा जिनमें कि शारीरिक सक्रियता बनी रहती है, अधिक संभव है।

मनोरंजन या समूह गतिविधियों के अभाव में गुट-संस्कृति पनपती है।[1] संक्रमण काल में मनोरंजन का क्या महत्व है, यह हेनरी स्मिथ के निम्न वृत्त से स्पष्ट हो जाता है।[2]

हेनरी ने नवम कक्षा में विद्यालय छोड़ दिया। उस समय उसकी आयु सोलह वर्ष की थी। विद्यालय छोड़ने का कारण परीक्षा में असफल होना नहीं था, बल्कि उसकी पढ़ाई में रुचि नहीं होना था। इसके अतिरिक्त वह निम्न स्तर के परिवार का था। उसने नौकरी की तलाश की। पहले उसने पास ही की एक दुकान पर नौकरी चाही; फिर फर्नीचर के कारखाने में, परन्तु निराशा ही मिली। उसके सामने अनेक रास्ते थे। वह नौकरी की खोज में ही फिरता रहे, वह किसी गैंग में शामिल हो जाए और बिगड़ जाए, या फिर धैर्य से कार्य करे तथा अपना समय मनोरंजनात्मक कार्यों में व्यतीत करे। सबसे अन्तिम विकल्प उसके स्वस्थ समायोजन तथा भविष्य में आने वाले झंझावतो का सामना करने के लिए उत्तम था। अतः हैनरी ने अन्तिम विकल्प का चयन किया। वह अपने अवकाश के समय को पुस्तकालय में पत्रिकाएँ पढने तथा मशीनों से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ने में व्यतीत करने लगा। रविवार को वह फुटबाल खेलने में समय देने लगा। इससे वह कुछ लोगों के सम्पर्क में आया; उसका ज्ञान बढा; विश्वास में वृद्धि हुई और अन्त में उसे व्यवसाय भी मिल गया। यदि उसने अपने को खेलकूद व सार्वजनिक पुस्तकालय में बैठकर पढने आदि में रुचि नहीं रखी होती, तो वह निखट्टू लोगों के गैन्ग में पड़ कर अपना जीवन नष्ट कर लेता।

एक और उदाहरण है उस कस्बे का जिसकी जनसंख्या लगभग 21 हजार थी परन्तु मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाएँ नगण्य थी। इस कस्बे के सामने मनोरंजन की समस्या थी। इससे हमे आज के किशोरो की प्रकृति और आवश्यकताओं का पता चलता है।

---

1. थ्रैशर एफ. एम., "द गैन्ग" शिकागो, 1927.
2. गैरीसन कार्ल, सी. "साइकोलोजी ऑफ अडोलेसेन्स," पन्चम संस्करण, प्रेन्टिस हॉल, 1960,

इस कस्बे के किशोरों के पास कोई भी दायित्वपूर्ण कार्य नहीं था तथा अपनी अभिरुचियों के अनुसार कार्य करने की भी कोई गुंजाइश नहीं थी। मनोरंजन के भी कोई साधन नहीं थे। अतः उन्होंने अपना एक क्लब बनाया। इस क्लब का सदस्य बनने के लिए यह आवश्यक था कि किशोर 100 मील प्रति घंटे की गति से मोटर कार एक खतरनाक गली में चलाए। ये लोग पार्किंग के स्थानों पर पहुँच जाते; वहाँ दूसरों की कारों को क्षतिग्रस्त करते; दूसरों को भयभीत करते; राहगीरों से छेड़छाड़ करते, कुछ न कुछ दुष्टतापूर्ण कार्य या अपराध करते।

यह स्थिति माता-पिता तथा समुदाय के सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए चिन्ता का विषय बन गई। उन्होंने समस्या की गहराई को समझा तथा मिलजुल कर एक योजना बनाई, जिसके अनुसार उन्होंने एक पुराने खंडहर भवन को साफ-सुथरा करवाकर मनोरंजन भवन के रूप में बदल दिया। यह सारा कार्य उन्होंने किशोरों से ही करवाया। इसके बहुत से कार्यकर्ता उस क्लब के सदस्य थे। इन सबने यहाँ मिलजुल कर सामाजिक संगठनों की सहायता से दूकानें, नाचघर, खेलकूद के मैदान आदि की व्यवस्था की। इससे उन किशोरों की दुष्टतापूर्ण गतिविधियों पर पूर्ण नियन्त्रण तो नहीं हो सका परन्तु हाँ, उनका अधिकांश समय अब लाभदायक, रुचिकर तथा समाज द्वारा स्वीकृत कार्यों में व्यतीत होने लगा।

आदर्श रूप में युवकों के लिए सभी सामुदायिक मनोरंजन स्थल अच्छे आचरण का विश्वास दिलाते हैं। परन्तु मनोरंजन सुविधाओं को प्रदान करने तथा सभी किशोरों द्वारा उनमें भाग लेने की समस्या एक रात में हल नहीं हो सकती। उत्तम मनोरंजनात्मक रुचियों को विकसित करने का सबसे उत्तम एवं सुलभ साधन विद्यालय है। यदि विद्यालय यह प्रयास करते हैं कि किशोर खेलकूद में दक्षता प्राप्त करें; अपने अवकाश के समय का उपयोग अनेक रुचिकर कार्यों में करें; रचनात्मक कार्यों में लगे रहने की उनकी आदत बने; तो ऐसे विद्यार्थी बड़े होकर भी अपने अवकाश के क्षणों का सृजनात्मक कार्यों में उपयोग करेंगे।

मनोरंजन[1] के सम्बन्ध में लिखे गए एक प्रबन्ध के अनुसार मनोरंजनात्मक सेवाओं में निम्न कमियाँ पाई जाती हैं—

1. हमारे पास पर्याप्त सुविधाएँ एवं साधन उपलब्ध नहीं हैं।
2. भली प्रकार प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी है।
3. मनोरंजन सेवाओं में उचित समन्वय नहीं है।
4. सामुदायिक कार्य-क्रमों में सन्तुलन एवं गुणात्मकता का अभाव है।
5. लड़कियों, अल्पसंख्यकों, निम्न आय वर्ग व देहाती लोगों को उचित सुविधा नहीं दी जाती।
6. आर्थिक प्रबन्ध उचित नहीं है।
7. अस्पताल एवं संस्थाओं में मनोरंजन सुविधाओं का अधिक अभाव है।

कैम्प

किशोर के व्यक्तित्व के विकास में शिविर (कैम्प) में रहने के योगदान को अब अधिक समझा जा रहा है। कैम्प किस तरह का होना चाहिए तथा उसमें किस प्रकार के व्यक्तियों

1. रिक्रियेशन—"ए बेसिक ह्यूमन नीड", रिक्रियेशन, 41 ; 578-579, (1948).

को सम्मिलित होना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाए जा सकते हैं, यह तो व्यक्ति की प्रवृत्ति एवं उसकी आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। आजकल कैम्प में जाने का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है; इसके निम्न कारण हैं—

1. कैम्पों की शैक्षिक महत्ता को समझना
2. कैम्प जीवन की मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य सम्बन्धी महत्ता
3. विद्यालय के अवकाश के दिनों में अच्छे निर्देशन में मनोरंजन की आवश्यकता।

ये कैम्प भी विद्यालयों की भाँति प्रजातन्त्रात्मक होते हैं तथा किशोर के इसी प्रकार से विकास हेतु अवसर प्रदान करते हैं। विभिन्न प्रकार के परिवारों से किशोर आते हैं और इन कैम्पों में सम्मिलित होते हैं परन्तु सबको समान सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तथा समान नियमों का पालन करना होता है। इस प्रकार वे प्रजातान्त्रिक पद्धति से रहते हैं, काम करते हैं और सीखते हैं।

कैम्प जीवन से व्यक्ति में अनेक परिवर्तन आते हैं। खुली वायु में शारीरिक क्रियाओं में सक्रिय रहने से, खेलकूद, तैरना, पहाड़ पर चढ़ना आदि के अनेकानेक अवसर प्राप्त होने तथा इनमें सम्मिलित होने से शरीर की आकृति आकर्षक होती है; सुडौलता आती है; मिलजुल कर सहकारिता से रहने की भावना को बल प्राप्त होता है तथा अपने पर विश्वास अर्जित होता है। आधुनिक समाज के शहरीकरण से तो इनका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

युवक केन्द्र

वह स्थान, जहाँ कि युवक एकत्रित होकर, जिस विधि से भी चाहे अपना मनोरंजन कर सके। युवक केन्द्र युवकों द्वारा संचालित होते हैं, यद्यपि यह कार्य प्रौढ़ों के निर्देशन में होता है। युवा-केन्द्रों से सम्बन्धित तीन मुख्य समस्याएँ हैं—आर्थिक, सदस्यता, नेतृत्व तथा व्यवहार के मापदण्ड। इन युवक केन्द्रों के लिए चार अनिवार्य शर्तें हैं—

1. एक समुदाय के लिए एक केन्द्र होना चाहिए तथा उसके सदस्यों की आयु-सीमा भी निश्चित होनी चाहिए।
2. केन्द्र का संचालन एक चयनित समिति द्वारा होना चाहिए।
3. केन्द्र का वित्तीय ढाँचा सुदृढ़ होना चाहिए।
4. केन्द्र की गतिविधियों पर उत्तरदायी प्रौढ़ों का अंकुश होना चाहिए।

रेडियो, टेलीविजन एवं चलचित्र

शैशव काल से व्यक्ति जिस प्रकार का जीवन-यापन करता है, उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व ढलता है। वह जो कुछ भी देखता है, सुनता है, अनुभव करता है, उसी के अनुसार सीखता है। अतः हमारी संस्कृति में रेडियो, टेलीविजन एवं चलचित्रों के बढ़ते प्रभाव से यह बात स्पष्ट है कि ये भी अपना प्रभाव व्यक्ति पर डालते हैं, ये भी उसके शिक्षक हैं। वह जो कुछ है, उसके बनने में ये उपकरण उसकी सहायता करते हैं।

एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ये किशोर के लिए क्या करते हैं? इनका प्रभाव अच्छा होता है अथवा बुरा?

मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में अनेक अध्ययन किए है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि ये किशोर के व्यक्तित्व का विघटन नही करते हैं। ये तो केवल उन भावनाओं को जाग्रत करते हैं या तीव्र करते हैं, जो कि उनमें पहले से विद्यमान होती है। रेडियो, सिनेमा, या टेलीविजन का कोई भी कार्यक्रम किशोर को बुरी आदतें या अपराधी व्यवहार नहीं सिखाता है परन्तु यदि इन अपराधी प्रवृत्तियों के बीज पहले से वर्तमान हैं, तो ये उनको बढ़ावा देते हैं और इनको कार्य रूप में परिवर्तित कर देते हैं। वह किशोर, जो पहले से ही अपराध करता है, निश्चय ही किसी फिल्म को देखकर अपराध करने के तरीके सीख जाएगा।

प्रजातान्त्रिक बनाम निरंकुश नेतृत्व

जीवन की प्रारम्भिक अवस्था के सामाजिक वातावरण के अध्ययन इस बात के साक्षी हैं कि आक्रामक व्यवहार एवं अस्थिरता का स्वेच्छाचारी नियन्त्रण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। माता या पिता कोई भी अधिकारिक व्यवहार करता हो, किशोर उसकी आज्ञा तो माने लेगा परन्तु उसके जीवन में तनाव एवं निराशा भर जाती है। इस समस्या पर लुइन, लिपिट एवं व्हाइट ने अनेक अध्ययन किए हैं। इन अध्ययनों से भी निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सामाजिक वातावरण का बालक के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवर्तित सामाजिक एवं आर्थिक दशाएँ समुदाय के संगठन एवं क्रियाओं में परिवर्तन लाती हैं। लड़के-लड़कियों के अवकाश के समय में वृद्धि के कारण समुदाय के सामने यह महान चुनौती है कि वे इस समय के सदुपयोग के लिए अधिकतम मनोरंजन एवं सुविधाएँ प्रदान करें तथा उचित निर्देशन दें। लकड़ी के कुछ टुकड़े, गोंद व कील से मेज नहीं बनती है। इसी प्रकार लड़के लड़कियों एवं बड़ों का समूह समुदाय नहीं बनाता है। उनमें कुछ सामान्य रुचियाँ, आवश्यकताएँ, परस्पर विश्वास एवं समझ विकसित करें। इस सम्बन्ध में मॉर्गन का कथन है, "एक वास्तविक समुदाय में उन व्यक्तियों द्वारा अनेक कार्य किए जाते है, यह मिलजुल कर रहना, गहरी सामाजिक जड़ें जमाता है तथा अधिक उत्तम व्यक्तित्व का निर्माण करता है।"

पूर्वाग्रह

व्युत्पत्ति (Origin) पूर्वाग्रह लेटिन शब्द "प्रिजुडिमियम" से बना है जिसका अर्थ है बिना परीक्षा किए हुए ही किसी बारे मे निर्णय दे दिया जाना।

परिभाषा

युंग के अनुसार पूर्वाग्रह "एक व्यक्ति का अन्य व्यक्ति के प्रति पूर्वाग्रह निर्धारित अभिवृत्तियाँ या विचार हैं, जो कि सांस्कृतिक मूल्यों और अभिवृत्तियों पर आधारित होती है।"[1]

पूर्वाग्रहों तथा रूढ़ियुक्तियों (stereotypes) का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वाग्रह रूढ़ियुक्तियों, किंवदन्तियों, एवं पौराणिक कथाओं इत्यादि का योग होता है, जिसमें कि एक समूह लेवल या चिह्न का प्रयोग किया जाता है, ताकि कोई व्यक्ति या समूह जो कि एक

1. के, युंग, "हैण्डबुक आफ सोशियल साइकोलोजी," पृ० 563,

पूर्ण रूप समझा जाता है, उसका वर्गीकरण विशेषीकरण किया जा सके, एवं उसे परिभाषित किया जा सके ।"

पूर्वाग्रह अपरिपक्व निम्न प्रमाण पर आधारित होते हैं । तर्क, प्रामाणिकता एवं यथार्थता की कसौटी पर इन्हें परखा नहीं जा सकता । ये पक्षपातपूर्ण निर्णय या एकमत से बनते हैं जो कि परीक्षण किया हुआ नहीं होता है ।

विशेषताएँ

पूर्वाग्रह की कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—

1. पूर्वाग्रह बिना जाँच किए निर्णयों पर आधारित होते हैं ।
2. ऐतिहासिक पुस्तकों आदि में हम, जैसा भी दूसरे समूहों के सम्बन्ध में पढ़ते हैं, वैसे ही हमारे पूर्वाग्रह उन समूहों के सम्बन्ध में बन जाते हैं ।
3. पूर्वाग्रह दूसरों के सम्बन्ध में प्रतिकूल भावनाएँ प्रदर्शित करते हैं ।
4. पूर्वाग्रह से ग्रसित व्यक्ति भी पूछे जाने पर कुछ न कुछ तर्क अवश्य देगा; वह पूर्वाग्रह बनाए रखने के कारण अवश्य बतलाएगा ।

संरचना

क्या यह कहना उचित है कि एक व्यक्ति सामान्यतया पूर्वाग्रही है अथवा नहीं अथवा क्या यह सम्भव है कि जहाँ एक व्यक्ति में एक दल के प्रति घोर पूर्वाग्रह है वहाँ एक अन्य दल के प्रति उसमें कुछ भी पूर्वाग्रह नहीं है । इस विषय पर अनेक तर्क-वितर्क होते रहे हैं । फ्रैंकल ब्रुंजविक एवं उनके सहयोगियों ने केलिफोर्निया के विस्तृत अध्ययन में यह स्पष्ट किया है कि पूर्वाग्रह प्रायः एक प्रकार का सामान्य धारक है; यह व्यक्तित्व का एक संघटित गुण है और आरम्भिक बचपन में पारिवारिक अनुभवों पर आधारित होता है । इस सम्बन्ध में किए गए अनेक विश्लेषणों ने यह भी ज्ञात होता है कि पूर्वाग्रह के कुछ पक्ष राष्ट्रीयता से सम्बन्धित हैं, तो कुछ परिशुद्धतावाद से, अन्य समाजवाद के भय से सम्बन्धित हैं ।

अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया है कि पूर्वाग्रह एक प्रकार का गुण है या व्यक्तित्व का प्रारूपक है । यह ऐकिक है अथवा इसकी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं । केलिफोर्निया के अनुसन्धानकर्ताओं के अनुसार यह रोगी व्यक्तित्व का एक लक्षण है । उनके मतानुसार एक पूर्वाग्रही व्यक्ति उचित लोकाचार से भिन्न व्यवहार से घृणा करता है; कुछ-कुछ परिशुद्धतावादी होता है; बलवान का अधिक सम्मान करता है; बुद्धिवादी का अधिक तिरस्कार करता है और उसको एक दुर्बल प्राणी समझता है । इस प्रकार व्यक्तित्व का प्रतिमान छुटपन से पारिवारिक जीवन के साथ सम्बन्धित होता है । यह मान्यता है कि पूर्वाग्रही बालक के माता-पिता को सामाजिक स्तर की विशेष चिन्ता रहती है, अतः वे अनुचित प्रतिबन्ध रखते हैं तथा उनका उल्लंघन करने पर बालक को दण्डित करते हैं । अतः बालक का व्यक्तित्व रुग्ण हो जाता है । इसके विरुद्ध विरोध तथा उससे सम्बन्धित विशेषकों के कारण उनमें पूर्वाग्रह तथा अन्य अवांछित विशेषक उत्पन्न होते हैं । कुछ मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि बालक अपने माता-पिता की अभिवृत्तियों को ही ग्रहण करते हैं और यही पूर्वाग्रह के जन्म का कारण है ।

पूर्वाग्रह एक वृत्ति है या अनेक वृत्तियाँ। यह जो कुछ भी है सामान्य रूप से उन लोगों में पाया जाता है जो सशंक, व्याकुल, संयम से दुर्बल तथा अपने जीवन की अप्रत्याशित दुर्घटनाओं से न्यूनाधिक घबड़ाए होते है। अधिक पूर्वाग्रह वाले व्यक्ति अधिक अनम्य होते हैं।

पूर्वाग्रहों के प्रकार

1. रंग पर आधारित पूर्वाग्रह,
2. गंध पर आधारित पूर्वाग्रह,
3. विचित्र मुखाकृति पर आधारित पूर्वाग्रह,
4. विभिन्न वेश-भूषा पर आधारित पूर्वाग्रह,
5. भाषा पर आधारित पूर्वाग्रह,
6. संस्कृति पर आधारित पूर्वाग्रह,
7. धर्म पर आधारित पूर्वाग्रह,
8. आर्थिक संस्थाओं पर आधारित पूर्वाग्रह,
9. जाति पर आधारित पूर्वाग्रह,
10. राजनीति पर आधारित पूर्वाग्रह,
11. राष्ट्रीयता पर आधारित पूर्वाग्रह,
12. व्यक्तिगत रुचियों पर आधारित पूर्वाग्रह।

पूर्वाग्रह का विकास

जातिगत अथवा दलगत भेदों की अभिज्ञता पूर्वाग्रह प्रवृत्ति से बहुत भिन्न होती है किन्तु पूर्वाग्रह का आधार भी कुछ इसी प्रकार की अभिज्ञता होती है और इन दोनों का अध्ययन प्रायः एक साथ ही किया जाता है। कुछ समुदायों में यह जातिगत अभिज्ञता बचपन से ही विकसित हो जाती है। कई बालकों में यह 3–4 वर्ष की आयु में ही आ जाती है। आयु के साथ-साथ इसमें वृद्धि होती जाती है। आठ या नौ वर्ष की आयु के बालकों में अपने आस-पास के प्रारूपक वयस्कों के समान पूर्वाग्रह अर्जित करने की प्रवृत्ति होती है।

पूर्वाग्रह के सह सम्बन्ध

1. पूर्वाग्रह का आयु से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।
2. पूर्वाग्रह एवं अभिवृत्तियाँ—उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि अभिवृत्तियाँ मानव-शरीर है, तो उसके भिन्न-भिन्न अंग पूर्वाग्रह हैं। अभिवृत्तियों का निर्माण पूर्व धारणाओं से ही होता है।
3. पूर्वाग्रह एवं रूढ़ियुक्तियाँ—पूर्वाग्रह रूढ़ियुक्तियों का ही एक विशिष्ट स्वरूप होती हैं।

पूर्वाग्रह पर नियन्त्रण रखने के उपाय

पूर्वाग्रह मानव जाति के लिए चिन्ता का विषय है। इनसे समाज को हानि ही होती है। मानव जाति के विभिन्न वर्गों, जातियों, राष्ट्रों, सम्प्रदायों आदि में एक दूसरे के प्रति द्वेष तथा हिंसात्मक भावना के विकास के लिए पूर्वाग्रह भी उत्तरदायी हैं। ये तनाव कभी-

क्रम सचमुच उपयोगी हो सके, इसके लिए आवश्यक है कि उसमें केवल इस बात पर जोर न दिया जाए कि पूर्वाग्रह ग्रस्त व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को समझे, बल्कि इस बात पर भी काफी बल दिया जाए कि वह स्वयं अपने को समझे।

पूर्वाग्रह का प्रतिकार करने के लिए दी जाने वाली शिक्षा जब पूर्णतः अन्य केन्द्रित हो जाती है, तब तक कुछ हद तक वह उस प्रक्रिया को दुहराती है, जिससे पूर्वाग्रह दूसरों पर ध्यान केन्द्रित करके अपनी ओर से ध्यान हटाने के लिए एक साधन के रूप में पहले-पहले पैदा हुआ होगा। यदि कोई पूर्वाग्रह युक्त व्यक्ति अपनी निजी बुराइयों की अज्ञात भावना से बचने की चेष्टा यह सोचकर कर रहा है, कि दूसरे कितने बुरे हैं, तो उसके पूर्वाग्रह का सम्भवतः केवल यह इलाज नहीं है कि कोई उससे कहे कि दूसरे कितने अच्छे हैं, किसी का उससे यह कहना कि वह खुद कितना बुरा है और कम कारगर होगा। इस प्रकार की अपील का परिणाम तो केवल यह हो सकता है कि अपने बचाव की, लड़ाकूपन की, या अपने को दोषी मानने की उसकी भावना उग्रतर हो जाए।

जब हम देखते हैं कि पूर्वाग्रह से और भी पूर्वाग्रह उत्पन्न होता है, तब पूर्वाग्रह के समाधान के लिए आत्म-परीक्षण की आवश्यकता दुगुनी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। जिनके विरुद्ध पूर्वाग्रह बरता जाता है, उनके स्वयं पूर्वाग्रह ग्रस्त हो जाने की सम्भावना रहती है। किसी अल्पसंख्यक समूह के सदस्य बहुसंख्यक समूह के उन लोगो के विरुद्ध रोष से भरे बिना नहीं रह सकते, जो उनके (अल्पसंख्यको के) प्रति पूर्वाग्रह रखते है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि यदि किसी अल्पसंख्यक समूह के विरुद्ध पूर्वाग्रह है, तो उसके सदस्य अन्य अल्पसंख्यक समूहो के विरुद्ध दृढ पूर्वाग्रहो से भर जाएँ और, यह एक दुर्भाग्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक लीला है कि यदि किसी समूह के लोगों के विरुद्ध पूर्वाग्रह बरता जाता है, तो वह अपने ही समूह के कुछ अन्य लोगों के विरुद्ध पूर्वाग्रहग्रस्त हो सकते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका में दूसरी पीढ़ी के कुछ डेन लोग डेनिश-विरोधी तथा कुछ नीग्रो विरोधी है।

जहाँ भेद-भाव और दोषारोपण का दुश्चक्र चल रहा हो, वहाँ इसकी सम्भावना नही है कि अच्छे नागरिक के कर्तव्यों के सम्बन्ध मे सामान्य उपदेशों से अधिक सुधार हो जाए। यदि सभी सम्बद्ध व्यक्ति अपनी निजी अभिवृत्तियों से जूझ सकें और अपने अभिप्रेरणों को समझने मे सहायता प्राप्त कर सकें, तो उन सबका जीवन अधिक सुगम हो जाएगा।

सारांश

वृद्धिशील बालक समुदाय मे रहता है और सीखता है। इसके व्यवहार एवं व्यक्तित्व को समुदाय की सास्कृतिक पृष्ठभूमि प्रभावित करती है। समुदाय उसके लिए मिलजुल कर कार्य करने के अवसर जुटाता है। समुदाय का ढाँचा एवं सगठन समय के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। अब शनैः-शनैः देहाती सभ्यता का स्थान महानगरीय सभ्यता ले रही है, मूल्य बदल रहे हैं, नई समस्याएँ पैदा हो रही है।

सामाजिक स्तरीकरण का भी किशोर पर प्रभाव पड़ता है। समाज के जिस वर्ग से वह सम्बन्धित है, उसी के अनुसार वह पाठ्यक्रम व पाठ्येतर प्रवृत्तियों का चयन करता है, समूह या गुट का निर्माण करता है आदि। समुदाय के सामाजिक ढाँचे के सम्बन्ध मे शिक्षक को पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वे किशोर को समझने मे,

उसका मूल्यांकन करने में भूल कर सकते है। एल्मटाउन का वर्गीकरण इस तथ्य को स्पष्ट करता है।

किशोर के विकास में समुदाय की भूमिका के सर्वप्रथम व सर्वोत्तम ढंग से जॉन डीवी ने स्पष्ट किया है। किशोर के आचरण एवं विकास को समुदाय प्रभावित करता है।

समुदाय के महत्त्व को देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि समुदाय को किशोर के विकास एवं निर्माण की दिशा मे किस प्रकार प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसके लिए समुदाय को (1) स्वस्थ वातावरण, उचित निर्देशन-सेवाएँ, मनोरंजन के पर्याप्त साधन जुटाने चाहिए। (2) समुदाय अपराध की ओर प्रवृत्त किशोरों के रक्षण हेतु कदम उठाए। किशोरो के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रखे। (3) समुदाय सार्वजनिक स्थानों की शुद्धि का ध्यान रखे तथा हानिकारक प्रभावो से उनको मुक्त रखे। यदि कोई समाज उपरोक्त कार्य करता है तो वह किशोर के लिए उपयुक्त समुदाय है।

यांत्रिक विकास के साथ ही शिक्षा-सामग्री, अवकाश-समय एव व्यय में वृद्धि हुई है। इससे नियोजन की आयु भी बढ़ गई है। परिणामस्वरूप समुदाय के लिए यह एक अतिरिक्त कार्य हो गया कि उसके किशोर अपने अवकाश-समय को किस प्रकार बिताएँ। किशोर अपने अवकाश-समय को किस प्रकार व्यतीत करता है, यह कई बातो पर निर्भर करता है, यथा किशोर की रुचियाँ एवं उसका सामाजिक आर्थिक स्तर। इसी प्रकार अपने साथियों का चयन करते समय भी वर्ग-भेद की भूमिका रहती है। उच्च वर्ग के किशोरो को सभी पसन्द करते हैं जबकि निम्न वर्ग के किशोर अधिकतर दुत्कारे जाते है। किशोरावस्था मे गुट-निर्माण में भी वर्ग-भेद ही प्रमुख रहता है।

किशोर के लिए सामुदायिक कार्यक्रम निश्चित करते समय एक प्रश्न आता है कि उनके सर्वांगीण विकास के लिए शहर या देहात मे से कौनसा वातावरण चुना जाए। आज की परिस्थितियो मे जबकि देहात शहर बनते जा रहे है, यह प्रश्न गौण हो गया है। समुदाय का प्रभाव युवकों की सेवा करने हेतु बने सगठनो पर भी पडता है। समुदाय के प्रतिमान एवं संस्कृति के अनुसार इनका गठन होता है। इन संगठनों में हिस्सा लेना या नहीं लेना समूह के किशोरो की रुचियो, आर्थिक स्थिति आदि पर निर्भर रहता है।

युवको द्वारा सामुदायिक कार्यक्रमों में भाग लेने के मार्ग मे अनेक बाधाएँ आती है। ये इस प्रकार हैं—प्रौढ द्वारा सरक्षणात्मक व्यवहार प्रदर्शित करना, प्रौढ स्वीकृति व विश्वास का अभाव, प्रौढ द्वारा अधिक उच्चता की भावना का प्रदर्शन करना, प्रयत्न एवं त्रुटि द्वारा सीखने के अवसरों का अभाव, विद्यालय के कार्यक्रमों में अधिक व्यस्तता, प्रौढ़ों द्वारा इस ओर ध्यान नहीं दिया जाना आदि।

मनोरंजन सामाजिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। एफ. एन. थ्रेशर के अनुसार मनोरंजन के अभाव मे गुट-संस्कृति पनपती है। हेनरी स्मिथ ने संक्रमण काल में मनोरंजन के महत्त्व को समझाया है। मनोरंजन के कार्यों में भाग लेने से ज्ञान बढता है। विश्वास में वृद्धि होती है। मनोरंजन इस प्रकार एक आधारभूत आवश्यकता है, जिसके प्रबन्ध का दायित्व समुदाय पर है। इसके प्रबन्ध मे पर्याप्त सुविधाओं, प्रशिक्षित कर्मचारियों, आर्थिक व्यवस्था आदि कमियाँ आ सकती हैं।

मनोरंजन के साधनों में आजकल कैम्प लगाने का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। इससे व्यक्ति को खुली वायु, शारीरिक सक्रियता, खेलकूद, तैरना, पहाड़ पर चढ़ना आदि के अवसर प्राप्त होते हैं।

युवक केन्द्र भी आज के युग की मांग है। ये युवकों द्वारा प्रौढ़ों के निर्देशन मे चलाए जाते हैं। मनोरंजन के अन्य प्रचलित साधन हैं रेडियो, टेलीविजन एव चलचित्र। ये अपने आप में कुछ प्रभाव नही डालते वल्कि व्यक्ति के अन्दर की भावनाओं को चाहे वे अच्छी हों या बुरी जाग्रत एवं तीव्र करते हैं। इन समुदायों में नेतृत्व प्रजातान्त्रिक होना हितकर है।

पूर्वाग्रह

युंग के अनुसार "पूर्वाग्रह" एक व्यक्ति की अन्य व्यक्ति के प्रति पूर्वनिर्धारित अभिवृत्तियाँ या विचार हैं जो कि सांस्कृतिक मूल्यों एवं अभिवृत्तियों पर आधारित हैं। पूर्वाग्रहों तथा रूढ़ियुक्तियों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पूर्वाग्रह बिना किसी जाँच के आधार के होते हैं, ये मिथ्या-प्रत्यय पर बने होते हैं। पूर्वाग्रह का पाया जाना व्यक्तित्व की रुग्णता का द्योतक है। अधिक कड़े अनुशासन में पले किशोर पूर्वाग्रही बन जाते हैं।

पूर्वाग्रह कई प्रकार के होते हैं। ये रंग, रूप, गंध, वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति, धर्म, जाति, राजनीति, राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत रुचियों, आर्थिक संस्थाओं आदि के अनुसार होते हैं। पूर्वाग्रह 3–4 वर्ष के बालकों मे भी पाए जाते हैं। 8–9 वर्ष की आयु के बालकों में ये वयस्क के समान होते है।

पूर्वाग्रहों का आयु, अभिवृत्तियों एवं रूढ़ियुक्तियों से गहरा सम्बन्ध होता है। पूर्वाग्रह स्वस्थ व्यक्ति की निशानी नहीं है। यह सम्पूर्ण मानवजाति के लिए चिन्ता का विषय है। यह परस्पर द्वेष एव हिंसात्मक भावना को बढाते हैं। पूर्वाग्रह का सम्बन्ध आत्म-स्वीकरण की भावना से होता है। जो अपने को स्वीकार करते हैं, उनमें पूर्वाग्रह कम होता है तथा जो अपने को अस्वीकार करते हैं उनमें अधिक। अतः पूर्वाग्रह मिटाने की दिशा में पहला कदम होना चाहिए इस प्रकार की शिक्षा जो व्यक्ति को आत्म-स्वीकरण सिखाए। दूसरा कदम है कि वह दूसरों को समझ सके।

□□□

अध्याय 16

विद्यालय में किशोर : शिक्षक-छात्र अन्तः सम्बन्धों की श्रृंखला

"किशोर को प्रशिक्षण मे जो कुछ दिया जाता है, राष्ट्र के जीवन मे वह सब प्रस्फुटित होता है।"

परिचय : समस्याएँ और उद्देश्य

विद्यालय वह सस्था है, जिसका उत्थान करने का सभी सभ्य समाजो ने प्रयत्न किया है। विशेष रूप से हमारे जैसे प्रजातात्रिक राष्ट्र में तो इसका महत्त्व व स्थान और भी अधिक बढ़ जाता है। प्रजातन्त्र की निरन्तरता एव सफलता मुख्य रूप से उसके प्रबुद्ध नागरिकों पर निर्भर करती है। सभी प्रजातांत्रिक देश अपने नागरिकों को शिक्षा के अधिकतम अवसर प्रदान करने का प्रयत्न करते है अत विद्यालय जाने वाले छात्रो की संख्या मे वृद्धि हुई है, यद्यपि बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए यह वृद्धि-सूचना-आँकडे सन्तोषजनक नही हैं। उच्च कक्षाओं मे नामांकन सामाजिक एव आर्थिक घटकों पर भी निर्भर करता है।

विद्यालय की समस्याएँ

1. वैयक्तिक विभिन्नताएँ—"मुझे विद्यालय से कोई प्रेम नही है।"

"मुझे विद्यालय से बडा प्रेम है।"

"मुझे इधर-उधर घूमना पसन्द है, पर पढना नहीं।"

"मैं चाहता हूँ कि मुझे कोई नौकरी मिल जाए और इस पढाई से जान छूटे।"

"मैं नही पढ़ूँगी तो क्या फर्क पडता है, क्या अनपढ़ औरतो की जिंदगी नही, बीतती। वे तो प्रायः ज्यादा आराम से है।"

"जीवन मौज-मस्ती के लिए है, विद्यालय मे बर्बाद करने के लिए नही।"

"मुझे पढ़ने मे बडा आनन्द आता है। पढाई के सामने तो मुझे भोजन भी अच्छा नही लगता।"

सभी जानते है कि किशोर जब मिल बैठकर वार्ता करते है, तो अपने हृदयगत विचारो को इसी प्रकार व्यक्त करते है। इनसे हमें उनकी विभिन्न रुचियों का सकेत मिलता है। आज विद्यालय जाने वाले किशोरों मे एक बड़ी संख्या में वे लोग है, जिनका अध्ययन

के प्रति कोई उत्साह नही है । विद्यालय जाना उनकी एक विवशता है । अत इस प्रकार के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विद्यालय का पाठ्यक्रम तैयार करना आवश्यक है ।

2. अपव्यय व अवरोधन—उच्च विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का पाठ्यक्रम सभी प्रकार की योग्यता व क्षमता वाले छात्रों को ध्यान में रखकर नही बनाया जाता । अत. एक बड़ी संख्या में शिक्षार्थियों के मन मे इन शिक्षण संस्थाओं के प्रति अरुचि हो जाती है । अत वे विद्यालय जाना छोड़ देते हैं या फिर उन्हें असफलताओं का सामना करना पड़ता है । ऐसे छात्र-छात्राओं की कमी नही है जो एक ही कक्षा में दो-या तीन वर्ष पढ़ते रहते है ।

किशोर विद्यालय क्यों छोड़ते हैं

हाल के दशकों में अधिकाधिक छात्र विद्यालयों में प्रविष्ट होते है, यद्यपि उनमे से अनेक शिक्षा की समाप्ति से पूर्व ही विद्यालय छोड़ देते है । किशोर विद्यालय क्यो छोड देते हैं यह एक जटिल समस्या है; इसकी व्याख्या करने मे भी अनेक कठिनाइयाँ है क्योंकि इसके पीछे अनेक ऐसे कारक हैं जो, सामूहिक रूप से प्रभावित करते हैं ।

जैसी कि संभावना की जा सकती है, विद्यालय जीवन पूरा करने वाले किशोरो की औसत बुद्धि-लब्धि की तुलना में उन किशोरों की बुद्धि-लब्धि निम्नतर होती है. जो बीच मे ही विद्यालय छोड देते हैं (डिल्लन 1949) पर बुद्धि एक मात्र कारण नही है और अनेक अवस्थाओं में यही निर्णायक कारण नही है । विद्यालय छोडने का एक कारण बहुधा हीन आर्थिक स्थिति भी होती है । अनेक छात्र विद्यालय का व्यय-भार उठाने मे असमर्थ है या उन्हें नौकरी करने की आवश्यकता है ।

किशोर विद्यालय क्यों छोड़ देते है—इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने हेतु विद्यालय छोड़ देने वाले छात्र-छात्राओं का अध्ययन किया गया । प्रतिदर्श (sample) के लिए 524 छात्र व 440 छात्राओं का साक्षात्कार लिया । इस सर्वेक्षण[1] के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि विद्यालय छोड़ने का मुख्य कारण विद्यालय के प्रति असतोष की भावना है । अन्य कारणों में आर्थिक परिस्थिति या नौकरी के प्रति आकर्षण आदि आते है । पढ़ाई छोड़ने वाले बहुत से युवाओं का विद्यालय जीवन असफलता की एक लम्बी शृंखला होता है । पढ़ाई छोड़ने का यह एक मुख्य कारण है । इनमे से अधिकाश को पारिवारिक प्रोत्साहन भी नही मिलता है ।

पठन-योग्यता की कमी और आरम्भिक काल मे विद्यालय छोड़ देने के बीच पारस्परिक सम्बन्ध क्या है; इसका अध्ययन पेंटी (1956) द्वारा किया गया है । पेंटी ने दसवी के ऐसे छः सौ छात्रों को अपने अध्ययन मे समाविष्ट किया जो पढने में कमजोर थे । इनमें से 50 प्रतिशत छात्रो ने बीच में ही पढना छोड़ दिया था और लगभग आधे स्नातक होने तक विद्यालय में बने रहे । पेंटी ने दोनों ही प्रकार के छात्रों की बुद्धि-लब्धि की परीक्षा भी की । उन्होंने पाया कि पढ़ने मे कमजोर दोनों ही कोटि के छात्रों की, जिन्होंने या तो बीच में ही पढना छोड़ दिया या जिन्होंने स्नातक कक्षा तक अध्ययनक्रम जारी रखा, बुद्धि-लब्धि भी सांख्यिक दृष्टि से लगभग समान थी । पढ़ाई में कमजोर छात्र के साथ एक कठिनाई यह

1. संयुक्त राज्य अमेरिका के श्रम विभाग द्वारा किए गए अध्ययन की रिपोर्ट के आधार पर, 1947.

है कि वह अपने आपको कक्षा में फालतू समझता है, शिक्षक भी उसको वैसा ही समझकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते है । यदि शिक्षक इस निरुत्साहित करने वाली प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन लाएँ, तो हो सकता है कि वह छात्र भी कुछ प्रगति कर सके तथा विद्यालय छोड़ने को बाधित न हो।

पेंटी द्वारा किए गए विभिन्न परीक्षणों से पता चलता है कि अध्ययन पूरा करने वालों की अपेक्षा पढ़ाई छोड़ देने वाले कमजोर छात्रों में पठन-जनित कठिनाई के सम्बन्ध में एक प्रबल लक्षण था—आत्म-स्वीकरण की अत्यधिक स्वल्पता। ऐसे छात्र पढ़ाई में कमजोर होने के कारण लज्जा अनुभव करते थे; उनमें हीनभावना प्रबल होती गई; वे अपनी इस स्थिति से ऊब गए और अपनी इन्हीं असमर्थताओं के कारण उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। पढने में कमजोर सभी छात्र विद्यालय नहीं छोड़ देते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो अनेक कठिनाइयाँ होने के बावजूद भी स्नातक हो जाने तक विद्यालय में रुके रहते हैं। इसके पीछे जो कारण पाए जाते हैं वे हैं—स्नातक होने की प्रबल व्यक्तिगत आकांक्षा, पारिवारिक प्रोत्साहन, विशिष्ट विषयों में अभिरुचि, खेल-कूद तथा अन्य क्रिया-कलापों में रुचि, अध्ययन समाप्ति पर अच्छी नौकरी मिलने की आशा एवं आकांक्षा, शिक्षकों तथा परामर्शदाताओं द्वारा उदारतापूर्ण सहयोग तथा अन्य युवाओं के साहचर्य की इच्छा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विद्यालय छोड़ने का कोई एक निश्चित व स्पष्ट कारण नहीं होता है बल्कि कुल स्थिति की ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि किशोर विद्यालय जाना छोड़ देता है। इस संबंध में किए गए अनेक व्यक्ति-वृत्त इस बात की पुष्टि करते है। मोहन का उदाहरण द्रष्टव्य है—

मोहन अपने पिता की चार संतानों में सबसे छोटा था। इसके पिता खेती करते थे। जब खेती का मौसम नहीं होता था, वे अन्य छोटे-छोटे मेहनत मजदूरी के कार्य कर लेते थे। उसकी माँ भी परिश्रमी महिला थी। उसकी माता को बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की भी चिन्ता रहती थी। पिता इस संबंध में उदासीन थे। मोहन से बड़े उसके दो भाई और एक बहिन में से किसी ने भी विद्यालय की शिक्षा समाप्त नहीं की थी। मोहन किसी तरह नवीं कक्षा तक पहुँच गया था तथा पढाई में ठीक-ठीक था। अंग्रेजी में वह अवश्य कमजोर था। विद्यालय उसके घर से काफी दूरी पर था अतः वह बस द्वारा विद्यालय आता-जाता था। इस कारण वह विद्यालय की अन्य गतिविधियों में, जो कि विद्यालय समय के पश्चात् होती थी, भाग नहीं ले सकता था। उसका बहुत सा समय बस द्वारा आने-जाने में लग जाता था। विद्यालय के अन्य किशोरों की भाँति उसके पास जेब खर्च भी नहीं होता था। इन सब कारणों से उसे विद्यालय में कोई रुचि नहीं थी। एक दिन उसके अंग्रेजी के अध्यापक ने उसकी व्याकरण संबंधी त्रुटियों पर कोई करारा व्यंग्य कर दिया। मोहन का विद्यालय से वैसे भी लगाव नहीं था; इस घटना के बाद उसने स्कूल जाना ही छोड़ दिया। बहुत दिनों तक उसके माता-पिता को इस बात की जानकारी भी नहीं हुई। बाद में जब पता चला तो पिता तो हमेशा की भाँति चुप ही थे, माता ने अवश्य आग्रह किया, पढाई जारी रखने का। परन्तु तब तक बहुत विलम्ब हो चुका था, वह पढाई में भी बहुत पिछड़ गया था। अतः वह अपने निश्चय पर अड़ा रहा।

देश-विदेश में किए गए अनेक अध्ययनों के आधार पर युवाओं द्वारा पढाई छोड़ देने के अग्रांकित कारण सामने आए—

1. विद्यालय से असन्तोष,
2. गृहकार्य की भरमार,
3. अधिगम में कठिनाई,
4. शिक्षकों से कटु सम्बन्ध,
5. मनपसन्द विषयों का चयन नहीं कर सकना,
6. गलत गुटों में फँस जाना ।

वैयक्तिक एवं आर्थिक कारण—
1. पारिवारिक स्थिति—माता की मृत्यु आदि,
2. पारिवारिक निर्धनता,
3. नौकरी या व्यवसाय का आकर्षण,
4. रुग्णता,
5. समकक्ष-समूह का अधिक सम्पन्न होना ।

इन अध्ययनों से यह भी ज्ञात होता है कि 75 प्रतिशत जिम्मेदारी विद्यालय की स्थितियों की होती है तथा 25 प्रतिशत निजी कारण होते हैं । अतः शिक्षकों का यह दायित्व है कि विद्यालय के पठन-पाठन व अन्य गतिविधियों का स्तर औसत छात्र की आवश्यकताओं के अनुसार रखें ।

विद्यालय की आवश्यकताएँ और लक्ष्य

जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, किशोर क्या है और वह क्या बन सकता है, इस सम्बन्ध मे वह विद्यालय से बहुत प्रभावित होता है । स्कूल-जीवन की वर्षों लम्बी अवधि में उसे अपनी शक्तियों को जाँचने तथा अपनी क्षमताओं और सीमाओं का पता लगाने के अवसर प्राप्त होते हैं । उसे इसकी भी जानकारी हो जाती है कि उत्तीर्ण होने या असफल होने पर कैसा लगता है तथा स्वीकृत किए जाने या उपेक्षित और स्नेह-वंचित होने का क्या अर्थ है । ज्यों-ज्यों किशोर की समझ और कौशल तथा अपने को दूसरों से सबद्ध करने की क्षमता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्कूल उसे स्वस्थ आत्माभिमान की अनुभूति के अधिकाधिक अवसर प्रदान करता है । विद्यालय वह स्थान भी है, जहाँ अनेक किशोरों को आत्मग्लानि के कड़वे घूँट पीने पड़ते हैं, क्योंकि छात्रों को सफलता प्राप्त कराते रहने पर भी स्कूल बहुतेरों को भारी असफलता प्रदान कर देता है ।

विद्यालय और किशोर के सम्बन्धों पर ए० टी० जरसील्ड ने गहराई से अध्ययन किया है । इस अध्ययन से उन्होंने पाया कि अधिकांश छात्रों ने विद्यालय मे की गई अपनी प्रगति एवं कार्यों की चर्चा बुराइयों के रूप मे अधिक की है । अनेक तरुणों को स्कूल एक ऐसे स्थान के रूप में दिखाई पड़ता है, जो प्रियकर रूप में उनकी क्षमताओं की याद दिलाकर उनका विश्वास नहीं बढ़ाता, वरन् बड़े अप्रिय ढंग से उन्हे उनकी कमजोरियो की याद दिलाता है । निःसंदेह स्कूल के कार्यों को इस क्रम में व्यवस्थित करना असंभव है और अविवेकपूर्ण भी, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को असफलताओं से बचाया जा सके या जिससे कि उसे अपनी हीनता का स्मरण न हो जावे । स्कूल की कुछ माँगे हैं जो जीवन की ऐसी वास्तविकताएँ हैं, जिनका सामना हमारी संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को करना ही है । फिर भी इस संबंध मे कोई दो राय नहीं हैं कि दिन-प्रति-दिन और वर्ष-प्रतिवर्ष अपार जन-समूह

को बार बार असफल होने की कष्टोत्पादक परिस्थितियों में डालना खतरनाक है जबकि उनके संबंध में शिक्षकों और व्यवस्थापकों को पूर्व ज्ञान रहता है कि वे असफल होंगे और उन्हें कोई लाभ नही होने को है।

इन्ही सब बातों को ध्यान में रखते हुए विद्यालय की शिक्षा में पिछले कुछ वर्षों मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया है ताकि वह किशोरों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

1. शिक्षा और तकनीकी—अधिकांश विद्यालय पुस्तकीय ज्ञान पर ही बल देते हैं। फलस्वरूप विद्यार्थी वास्तविक जीवन एवं उसके कार्य-क्षेत्र से अनभिज्ञ रह जाते हैं। यह प्रतिदिन का अनुभव है कि, जो विद्यार्थी विद्यालय की शिक्षा में उच्च श्रेणी प्राप्त करते हैं, जीवन की साधारण गतिविधियों में असफल सिद्ध हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त तथ्यों को सीखने एवं उनको व्यवहार मे लाने में बडा अन्तर है। इसीलिए विद्यालयों के विरुद्ध उनके द्वारा अव्यावहारिक ज्ञान प्रदान किए जाने की आवाज उठने लगी। समस्या के समाधान के लिए अनेक सुधार प्रस्तावित किए गए। तकनीकी आविष्कारों के कारण भी शिक्षा-जगत् में हलचल उठी है। विद्यालय का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि विद्यार्थी तकनीकी युग से सामंजस्य स्थापित कर सके। आज के विद्यालय छात्र की उच्च शिक्षा के लिए (महाविद्यालय की शिक्षा) ही तैयार करते हैं। यह शिक्षा भावी आवश्यकताओं को ध्यान में नही रखती।

सी० गैरीसन ने परिवर्तित शिक्षा के सम्बन्ध मे अध्ययन किया तथा शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रस्तुत किए, जो साराश रूप में निम्न प्रकार हैं—

1. पारिवारिक जीवन-यापन के लिए प्रशिक्षण,
2. अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे ज्ञान, ताकि धन कमाने के साथ ही उसका उचित व्यय का तरीका भी आए,
3. समय का सदुपयोग,
4. अवकाश के समय का सृजनात्मक प्रयोग,
5. नागरिकता का प्रशिक्षण,
6. व्यावसायिक कौशल प्राप्त करना,
7. स्वास्थ्य शिक्षा—अधिकतम आनन्द एवं सफलता के लिए मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए,
8. आध्यात्मिक आत्म का विकास—नैतिक विकास एवं चरित्र-निर्माण की शिक्षा।

विद्यालय को चाहिए कि पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय शिक्षा के उपरोक्त लक्ष्यों को दृष्टि में रखें।

2. किशोरों की शैक्षिक रुचियाँ—किशोर विद्यालय में किस प्रकार के पाठ्यक्रम को पसन्द करते है, इस सम्बन्ध में अनेक अध्ययन किए गए हैं। कुछ मुख्य अध्ययन निम्न हैं—[1]

(अ) डी. सी. डोने, "युवकों की आवश्यकताएँ : पाठ्यक्रम निर्धारण हेतु किया गया मूल्यांकन"।

---

1. गैरीसन, के. सी., : "साइकोलोजी ऑफ अडोलेसेन्स" पांचवां संस्करण, पृ० 387,

(ब) एल. जे. इलियास, "उच्च विद्यालयी युवकों द्वारा उनकी समस्याओं का अवलोकन"।

(स) के. वाइल्स, "कनेक्टीकट में युवा शिक्षा"।

(द) रेम्मर्स एवं शिम्बर्ग, "उच्च विद्यालय के युवकों की समस्याएँ—द परड्यू ओपिनियन पॉल फार यंग पीपुल"।

इन विभिन्न प्रकार से किए गए इन अध्ययनों द्वारा प्राप्त मुख्य निष्कर्ष निम्न हैं—

1. मंद-बुद्धि एवं तीव्र-बुद्धि दोनों ही प्रकार के किशोरों द्वारा किए गए चयन मे विशेष अन्तर नहीं था। दोनो ही चाहते थे कि उनके पाठ्यक्रम में व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं नियोजन को सम्मिलित किया जाए।
2. किशोरों को विश्व की समस्याओं से परिचित कराया जाए।
3. विदेशी भाषाएँ, इतिहास, सामाजिक अध्ययन, गणित आदि उनके लिए महत्त्वपूर्ण विषय नही थे।
4. किशोरों ने इस बात की ओर भी इंगित किया कि विद्यालय, विवाह, अभिभावक-बालक सम्बन्ध, व्यक्तिगत समस्याओं, जीविकोपार्जन आदि विषयों पर उनकी सहायता बहुत कम करते हैं।

3. मनोरंजनात्मक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ—विद्यालय को किशोरों की मनोरंजनात्मक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु कार्यक्रमो का आयोजन करना चाहिए। कार्यक्रम इस प्रकार से आयोजित किए जाएँ कि उनमें सभी विद्यार्थी सम्मिलित हो सकें। इन कार्यक्रमों मे परस्पर परिचय, सह भोज एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम सम्मिलित किए जाने चाहिए। साथ ही साथ विद्यालय का वातावरण भी प्रजातांत्रिक होना चाहिए तथा शिक्षकों को किशोरो की समस्याओ एवं आकांक्षाओं के प्रति जागरूक रहना चाहिए।

व्यक्तित्व का विकास शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है। सुसमंजित व्यक्तित्व के निर्माण मे उन सभी कारकों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए जो कि व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायक होते हैं। व्यक्ति विशेषको (traits) के एक विशिष्ट प्रतिमान का प्रतिनिधित्व करता है। यह विशेषक उस व्यक्ति विशेष की विशिष्टता होते हैं। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य उन विशेषकों को एक ऐसे प्रतिमान में ढालना है जिससे कि सु-संगठित व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। आज हम इस बात को अनुभव करने लगे है कि बौद्धिक विकास से अधिक निर्भरता, स्वास्थ्य, सुख और सफलता की है। सम्भव है कोई छात्र, जो कि गणित के कठिन से कठिन सवालों को हल कर सकता है, जीवन की सरल से सरल समस्या को हल करने मे सफलता प्राप्त नही कर सके। अतः विद्यालय परिवार एवं अन्य शैक्षणिक एवं सामाजिक अभिकरणो (agencies) का यह दायित्व है कि वे सामाजिक, शैक्षिक, व्यावसायिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी समायोजन की समस्याओं को पहचानें एवं उनका निराकरण करें।

4. विवाह के लिए तैयारी—ऐसे किशोरो की संख्या अधिक है, जो कि विद्यालयी शिक्षा के बाद ही अध्ययन छोड़ देते हैं। अतः विद्यालय का यह दायित्व हो जाता है कि वह किशोरो को विवाहित जीवन मे प्रवेश करने की तैयारी करने के लिए सभी सम्भव सहायता प्रदान करे। यद्यपि ऐसी कोई तैयारी सम्भव नही है, जो विवाहों के सुखी होने

की गारंटी कर दे या विवाहों को टूटने न दे, या विवाहों में असंगति न होने दे, तथापि यह मानना युक्तिसंगत है कि कुछ असफल विवाहो के मूल में ऐसे सामाजिक दवाव, व्यावहारिक कठिनाइयाँ और भावात्मक समस्याएँ रहती है जिन्हें आज की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से समझने और जिनका अधिक यथार्थ रीति से सामना करने में तरुण व्यक्तियों की सहायता की जा सकती है।

5. उच्च शिक्षा के लिए तैयारी—यह छात्रो की सामान्य धारणा है कि विद्यालय उन्हें महाविद्यालय के जीवन के सम्बन्ध में न तो कोई जानकारी देता है और न उन्हें उसके लिए तैयार करता है। केलीफोनिया के विद्यालयो के किशोरों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्यालय ने उनके लिए जो कुछ भी किया उससे वे पूर्णरूपेण संतुष्ट नहीं हैं। उनमें से दो तिहाई का मानना था कि विद्यालय उनके लिए सहायक रहा। कुछ ऐसे विषय थे जो कि उच्च शिक्षा के लिए सहायक रहे। एक तिहाई ने अनुभव किया कि महाविद्यालय मे उन्हे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन लोगो द्वारा दिए गए कुछ सुझावो पर विद्यालय को ध्यान देना चाहिए। ये सुझाव निम्न प्रकार हैं—

1. अध्ययन सम्बन्धी अच्छी आदतों का निर्माण,
2. विद्यार्थियो को दायित्व अधिक मात्रा मे सौंपना,
3. महाविद्यालय एवं उसके कार्यक्रमों के सम्बन्ध में अधिक सूचना प्रदान करना,
4. शिक्षण एवं परीक्षण कार्यों को महाविद्यालय के अनुसार बनाना,
5. नोट्स लेने की आदत डालना,
6. परामर्श कार्यक्रम के क्षेत्र में वृद्धि करना,
7. सक्रिय जीवन की तैयारी।

विद्यालय का यह दायित्व है कि वह तरुण को जीवन की सामान्य गतिविधियों यथा—पढना, लिखना, जीवन की समस्याओं को हल करना, अवकाश समय का सदुपयोग करना, स्वस्थ जीवन यापन करना, सामुदायिक जीवन तथा अच्छे सह-सम्बन्धो की स्थापना आदि के सम्बन्ध में शिक्षा दें।

6. आत्मबोध में सहायता देना—किशोर स्वयं अपने आपको समझे—इस सबसे महत्त्वपूर्ण विषय को छोड़कर अन्य सारे विषय किशोर को पढाए जाते रहे हैं। सबसे पहले यदि किसी को किशोर मनोविज्ञान का अध्ययन करना है तो वह स्वयं किशोर ही है। ए० टी० जरशिल्ड, जरशिल्ड और हेलफण्ट, (Jersild and Helfant), इवान्स तथा पेट्टी (Evans and Patti) ने इस सम्बन्ध में अनुसन्धान किए हैं तथा इस विषय का प्रतिपादन एवं विस्तृत विवेचन किया है। आज के मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षा शास्त्री सभी की यह मान्यता है कि किशोर में अपने आपको समझने की बहुत अधिक क्षमता होती है यदि किशोर को इस सम्बन्ध में कुछ ज्ञान दिया जाए, तो वह अपने कार्यों मे कुछ अन्तर्दृष्टि पा सकेगा तथा आत्म-स्वीकृति के स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास कर सकेगा। तरुण को आत्मबोध में सहायता पहुँचाने का विचार अपेक्षाकृत एक नया प्रयास क्षेत्र है और यह ठीक है कि इसकी उपलब्धियो की सम्भावनो पर अनेक अध्ययनो मे प्रकाश भी डाला गया है तथापि अब तक प्राप्त परिणाम निश्चयात्मक नहीं हैं।

विद्यालय मे ऐसे अगणित अवसर उपस्थित होते रहते हैं, जिनका लाभ उठाकर

किशोरों को आत्मबोध के प्रयास मे सहायता पहुँचाई जा सकती है। स्कूल में किशोर अपनी प्रवृत्तियों और योग्यताओं का संधान कर सकता है। उसे कतिपय कठिनाइयों को झेलने और अपनी सीमाएँ जान लेने में सहायता पहुँचाई जा सकती है। व्यक्ति के रूप मे अपने मूल्य के बारे में उसकी अभिवृत्तियाँ स्कूल में गहरे ढंग से प्रभावित हो सकती हैं, क्योंकि हम देख चुके हैं कि स्कूल का जीवन प्रशंसा और निन्दा, स्वीकृति और अस्वीकृति, सफलता और असफलता से परिव्याप्त होता है।

शिक्षक और छात्र के बीच आने वाली प्रत्येक बात का महत्त्वपूर्ण प्रभाव किशोरों के स्वसम्बन्धी विचारों और भावनाओं पर पड़ता है या पड़ सकता है। लेकिन, जो शिक्षक स्वयं विकास की स्थिति में है, वह भी इससे लाभान्वित हो सकता है।

किशोर स्वयं अपने आपको जान ले, इसके लिए सहायक कार्य के शैक्षिक-स्वरूप को अतिशय बौद्धिक बना देना इस प्रकार की शिक्षा का बड़ा दोष है, जिसका परिणाम होगा कि यह पुनः एक शैक्षणिक व्यायाम बन कर रह जाएगा और किशोरों के व्यक्ति-चरित्र पर इसका प्रभाव स्वल्प या कुछ भी नही पड़ सकेगा। सुसमंजन के प्रचलित सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेना एक अन्य दोष है, जिसमें यह मान लिया जाता है कि भावनाओं से निबटने के सरल मार्ग हैं उन्हें दबा देना और यह कि समंजन का मुख्य तत्त्व है, किसी नियमावली के अनुरूप चलना सीख लेना।

देखा गया कि हाई स्कूल के उपयोग के लिए लिखी गई कुछ पुस्तकें संवेगात्मक समंजन के भ्रामक सिद्धान्तों का समर्थन करती हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ऐसी कई पुस्तकें गलत ढंग से काट-छाँट, दुराव-छिपाव, अनुरूपता और कृत्रिम नियन्त्रण की प्रवृत्ति का समर्थन करती हैं, जबकि युवकों को आत्म-बोध के लिए प्रोत्साहित करने, अधिकतम ईमानदारी और निर्भीकता के साथ संवेगात्मक प्रवृत्तियों की सीमा तय करने तथा अपनी निजी धारणाएँ बनाने की नीति का समर्थन करना चाहिए।

किशोर-समूहों को लेकर किए गए अनुसंधानों से स्पष्ट होता है कि अधिकांश किशोर आत्मबोध की प्राप्ति के लिए सहायता चाहते हैं।

7 अच्छे शिक्षक का चयन—बार्कर (Barker), 1946 के एक अध्ययन से यह परिणाम निःसृत हुआ कि शिक्षकों के लिए केवल यही आवश्यक नही है कि वे अपने छात्रों को समझें, वरन् अपने आपको भी ज्यादा अच्छी तरह जाने। बार्कर का खोज-परिणाम अनेक प्रणालियों के सम्मिश्रण पर आधारित था, यथा, साक्षात्कार, योग्यता-क्रम-निर्धारण तथा व्यक्ति-अध्ययन और इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि शिक्षक यदि अपने छात्रों को अपनी समस्याओं का सामना करने मे सहायता पहुँचाना चाहते हैं, तो उन्हें निजी जीवन की समस्याओं को योग्यतापूर्वक सुलझाने में समर्थ बनाने वाले एक जीवन-दर्शन और वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता होगी।

किशोरों का शिक्षक निरंतर जिन व्यक्तियों के साथ कार्य करता है, उनके द्वारा व्यक्त अभिवृत्तियाँ शिक्षक की निजी अभिवृत्तियों को आलोकित करती हैं, वे अभिवृत्तियाँ चाहे अपने प्रति हों अथवा दूसरों के प्रति। यदि शिक्षक मे ऐसी क्षमता और आत्म-बल है कि वह छात्रों के सम्पर्क में प्राप्त हुए अनुभवों के आलोक में आत्म-निरीक्षण कर सके तो उसे बार-बार अपने जीवन मे रुचि-अरुचि, अपने पूर्वाग्रहों, अपनी चिन्ता, अधिकारी वर्ग के

प्रति अपनी अभिवृत्तियों, शेवम के प्रति अपनी अभिवृत्तियों, स्वयं अपने आप से और दूसरों से बहुत अधिक या बहुत कम पाने की प्रवृत्ति, दूसरों पर आधिपत्य रखने या उन्हें तुष्ट करने की आवश्यकता तथा अपनी अभिलाषाओं, आशाओं, निराशाओं तथा भीतियों (fears) की चेतनाओं का सामना करने या उनसे कतराने की इच्छा के घात-प्रतिघात का सामना करने के अवसर प्राप्त होंगे।

किशोरों के प्रयासों और उनके सामने आने वाली समस्याओं और प्रश्नों के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना है तो शिक्षकों के लिए नितान्त आवश्यक है कि वे अपने निजी जीवन में आने वाले प्रश्नों को झेलने का उद्योग करें। ये प्रश्न अधिकांशतः संवेगात्मक होते है तथा अपने और दूसरे को समझ पाने के प्रयत्नों मे गहरा भावात्मक अर्थ छिपा होता है। इसके लिए बौद्धिक चतुराई भर से काम नही चलता। उदाहरणार्थ शिक्षक अपने जीवन में आने वाली चिन्ता की भूमिका को देख सकने के लिए जब तक प्रस्तुत नहीं होंगे तब तक किशोरों द्वारा निरुपाय होकर अभिव्यक्त की गई चिन्ता को ग्रहण नही कर सकेंगे। बहुत संभव है कि छात्र जब अपनी चिन्ताओं को निम्नलिखित संकेतों द्वारा व्यक्त करे, जैसे सीख पाने मे असमर्थता, भूलों के भय से प्रयास की अनुत्सुकता, धृष्टता, अनवधानता, बेचैनी, चिड़चिड़ापन, नासमझी तथा अन्य अनेक दूसरे लक्षण, जो यह प्रदर्शित करदें कि यह व्यक्ति उद्विग्न और विषम स्थिति मे है, तब शिक्षक कठोर वर्ताव भी कर सकते हैं।

शिक्षक और छात्र के बीच जो कार्य-व्यापार चलते रहते हैं, उनसे शिक्षक अपने सम्बन्ध मे थोड़ा-बहुत सीख सकता है। शिक्षक के रूप मे उसकी जो भी गतिविधि है, उससे अपने विषय में कुछ जानने मे उसे सहायता मिल सकती है, क्योंकि शिक्षक का कार्य बहुत हद तक उसके व्यक्तित्व का ही तो प्रक्षेपण है। अगर यह जानना चाहे तो प्रायः निरंतर अपने भीतर अब तक प्रच्छन्न दृश्यों की झलक पा सकता है। कितने ही झरोखे है, जिनसे ये दृश्य उभर सकते है—जैसे क्लास खत्म होने के बाद दीर्घकालिक रोष, अच्छी भावना की दीप्ति (glow), स्वैर कल्पना (fantasy) की उड़ान, किसी परीक्षा के लब्धांक पाने पर कुछ छात्रो द्वारा प्रदर्शित किए गए हतोत्साह की एक याद, अपने आप पर या किसी दूसरे पर क्रोध के दौर का आना, जिसकी अनुभूति होने पर भी उसे किसी स्टाफ बैठक मे व्यक्त नही कर पाना और कुछ बोलने की इच्छा होने पर भी नही बोल पाना; किसी समस्यात्मक छात्र के विषय मे किसी संध्या को सोचना और इस अपराध की भावना से भर जाना कि वह उस छात्र की सहायता नहीं कर सका और इसी प्रकार की अनेक दूसरी घटनाएँ आतरिक अभिवृत्तियों पर प्रकाश की किरण फेंक सकती है, अर्थात् स्वयं या दूसरों से वह क्या चाहता है, या उसकी मनोदशा के भीतर क्या कुछ अतर्निहित है।

शिक्षक की समझ-बूझ का विकास ज्योति की भारी और नाटकीय कौंधो द्वारा नही होकर प्राय: प्रकाश की छोटी-मोटी अनेकानेक झलकों के माध्यम से अधिक होता है। जीवन मे ऐसे क्षण भी आते हैं कि जब कोई व्यक्ति ऐसी तीव्र अंतर्दृष्टि प्राप्त करले जो कि उस क्षण विशेष मे उसे प्राय: अधा करदे और उसके बाद उसके जीवन में नई प्रकाश-किरण बिखेरता रहे। पर ज्यादातर इस प्रकाश मे जाज्वल्यता न होकर टिमटिमाहट होती है और बहुधा जो लोग अंतर्दृष्टि पा लेते है उन्हे प्राय. ऐसा प्रतीत होता है मानो

यह पश्चाद्विचार (afterthought) हो, उस सत्य को रेखांकित करने का एक ढंग जिसे उन्होंने पहले ही ग्रहण तो कर लिया था, पर अपने विचारों में सन्निविष्ट नहीं कर पाए थे।

आत्म का ऐसा बोध शिक्षक को किस प्रकार उपलब्ध होता रहता है, शिक्षकों के निर्माण क्रम में यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। शिक्षक-प्रशिक्षण योजनाओं के सामान्य पाठ्य विषयों, विधियों और पाठ्य योजनाओं में इसका उत्तर नहीं मिल पाता। इन सबका महत्व अन्य उद्देश्यों के लिए हैं, पर आत्म-ज्ञान के लिए जो व्यक्तिगत अन्तर-ग्रस्तता (personal involvement) चाहिए, वह शैक्षिक पाठ्यक्रम द्वारा प्रोत्साहित या अपेक्षित अन्तर्ग्रस्तता से भिन्न होती है।

एक व्यापक सिद्धान्त यह है आत्म-ज्ञान की वृद्धि के लिए शिक्षक में इसकी खोज का साहस और जो कुछ वह पावे उसे स्वीकारने की विनयशीलता चाहिए। यदि उसमें यह साहस और विनयशीलता हो तो प्रतिदिन के जीवन में आत्मज्ञान के विकासार्थ उसे अनेक स्रोत उपलब्ध हो सकते हैं।

आत्म की पार्श्ववर्ती झलकों (side glimpses) से शिक्षक कुछ सीख सकता है। आत्म-परीक्षण में महत्त्वपूर्ण सहायता उन पुस्तकों के अध्ययन से मिल सकती है, जिनके संवेदनशील लेखकों ने आत्म-बोध की प्राप्ति के संघर्ष में कुछ प्रगति की हो। ऐसी सहायता मुख्यतः बौद्धिक हो सकती है, पर वह भावभूमि के गहरे तल को भी छू सकती है।

सौभाग्य से यदि शिक्षक को आत्म-बोध में उसके समान रुचि रखने वाले लोग मिल जाएँ तो अपने आपको देख सकने में "सह-भागी अवलोकन" (participant observation) की विधि उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। उसी विचार-विमर्श में या क्लास में जाकर वह, जो कुछ देखता-सुनता है या उस बीच की उसकी जो भावनाएँ होती हैं, उन सबका अभिलेख तैयार करता जाता है और तब हो सका तो दूसरे प्रेक्षकों के अभिलेखों की सहायता से या उनसे तुलना करके, वह अपने अभिलेख की परीक्षा करता है। इस परीक्षा से ज्ञात हो सकता है कि वह जो कुछ देख पाता है या देख पाने में असमर्थ है, उसका कारण उसकी सोचने की आदतें हैं, जिन्हें उसने सामान्यतः तथ्य रूप में स्वीकार कर लिया है। दूसरे प्रेक्षकों द्वारा नोट किए मनोभावों को देखने पर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपनी ही भावनाओं का उन रीतियों से प्रक्षेपण करता रहा है, जिनकी उस समय उसे आशंका नहीं हुई थी। जिसे देखने को वह वस्तुनिष्ठ देखना मान बैठा है, वह बहुत कुछ उसकी निजी व्यक्ति-निष्ठ भावना का ही उद्घाटन हो सकता है और इस प्रकार जिनका उसने निरीक्षण किया है, उनका उतना उद्घाटन न करके, उसने अपने आपको ही अधिकतर व्यक्त किया है। किशोरों के साथ कार्य करते समय कुछ शिक्षक इस विधि का बड़ी कुशलता से उपयोग करते हैं और स्वयं अपने आपको तथा अपने छात्रों को आत्म-परीक्षण का अवसर प्रदान करते हैं।

यह व्यापक सिद्धान्त भी मान्य है : जिस प्रकार किन्हीं अंतर्वैयक्तिक परिस्थितियों में शिक्षक और छात्रों ने वैसी अधिकांश अभिवृत्तियाँ अर्जित की है, जो अपने बारे में उनको अभिवृत्तियों से अन्तर्ग्रस्त हैं; उसी प्रकार इसकी भी संभावना है कि कुछ अंतर्वैयक्तिक वातावरण में ही इन अभिवृत्तियों के कुछ अभिप्रायों से जूझने में उनकी सहायता की जा

सकती है। किसी सामूहिक वातावरण में व्यक्ति को अपने क्रोध की प्रतिध्वनि सुनाई जा सकती है और दूसरो पर अपनी भीतियों की प्रतिच्छाया की झलक पाने में उसकी सहायता की जा सकती है। जिस ढग से दूसरे लोग अपने को अभिव्यक्त करते या उसके प्रति अनुक्रियाशील होते हैं, उससे एक नवीन तथा आत्मोद्घाटक प्रकाश उसके सामने आ जाता है। इस प्रकाश से उसे कुछ साक्ष्यो का मुकाबला करने मे सहायता प्राप्त हो सकती है। ये साक्ष्य है स्वस्थ अभिमान, विश्वास एवं आशा, लज्जा, आत्मलोपन (self effacement), चिन्ता, प्रतिहिंसा, परायणता तथा उसके अन्तर की गहराई में बैठी अभिवृत्तियों के अन्य बाह्य रूप, जिनसे सामान्य स्थिति में वह अवगत न था। उसी प्रकार जब वह किसी बच्चे को अथवा अभिनय करते हुए किसी समकक्ष व्यक्ति को अपने आचरण की अनुकृति करते हुए देखता है, तो संभवतः उसकी ऐसी भावना और विचारधाराएँ प्रकाशित होती हैं, जिन्हें वह अब तक पहचान नही पाया था।

आत्म-परीक्षण की महत्तम संभावनाएँ, भावनाओं और विचारो को दूसरो के साथ बाँटने और समान कार्य के व्यवस्थापन से ही प्राप्त हो सकती है। एक दूसरे के बीच के सम्बन्धो से, जो मूल्य प्राप्त हो सकेंगे, उसके शिक्षण व्यवसाय मे सार्थक उपयोग का प्रयास अभी अति प्रारम्भिक अवस्था में है। समिति की बैठको, स्टाफ बैठको, सेमीनारों, पैनलो तथा वर्ग के विवेचनों से, जिनमे शिक्षक और छात्र भाग लेते हैं, अनेक अच्छे प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है, लेकिन सामान्यतः उनसे इस प्रयोजन की सिद्धि नही होती है। वास्तव में वे ऐसा मार्ग पकड़ लेते हैं मानो आत्मान्वेषण (self-discovery) के उद्देश्य को विनष्ट (defeat) का इरादा लिए हों, क्योकि इसमे भाग लेने वाले सवेगो से परिचालित होते हुए भी ऐसा दिखावा करते है, मानो उस प्रश्न पर विवेकयुक्त विचार कर रहे हो। जब उग्रता और चिन्ता का दौर आता है, जैसा कि बहुधा हो जाया करता है, तब भी युक्ति-सगत वाद-विवाद मे सलग्न होने के प्रदर्शन का निर्वाह किया जाता है।

जरसिल्ड का विश्वास है कि इस उर्वर क्षेत्र का उपयोग करने से शिक्षा मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विकास हो सकते है। इस दिशा मे अभिनय आदि माध्यमो से कुछ कार्य प्रारम्भ हो चुका है। ऐसी क्रियाओ से वस्तु-स्थिति का उद्घाटन हो सकता है और यह भावी संभावनाओं का मार्ग निर्दिष्ट कर सकती है, जैसा कि अवसर होता है।

शिक्षको के समक्ष जब किशोर की सहायता करने के उत्तरदायित्व का प्रश्न आता है, तब उनमे से कुछ तो तत्काल ऐसी विधियो और नीम-हकीमी उपचारों की बात सोचते हैं, जिनका प्रयोग दूसरो पर किया जा सकता है, पर कुछ ऐसे भी हैं, जो स्वयं अपने को देख पाने की जरुरत बहुत गहराई से महसूस करते है। दूसरो की सहायता करने हेतु हमे स्वयं अपने लिए भी साहाय्य की अपेक्षा रखने की मनःस्थिति चाहिए—यह विचार संयुक्त राज्य के कई क्षेत्रो के हाई स्कूल शिक्षकों की एक कार्यशाला मे व्यक्त किया गया। आत्म-बोध की भावना जगाने के लिए स्कूलो के उत्तरदायित्व क्या हो, इसके सम्बन्ध मे इस कार्यशाला मे विचार किया गया। इसके सदस्यों ने अनुशंसा की कि सभी शिक्षक-प्रशिक्षण योजनाओं में ऐसे अनुभवो का सन्निवेश किया जावे, जो आत्मज्ञान में साधक हो सकें। उदाहरणार्थ, किसी भी प्रशिक्षित व्यवसायी मनश्चिकित्सक के निर्देशन मे समूह चिकित्सा लेते समय जितना कुछ सीखा जा सकता है, उसके समकक्ष अनुभव को प्रत्येक भावी शिक्षक

के लिए उपयोगी समझ कर उसे प्रशिक्षण मे सम्मिलित करने की अनुशंसा की गई। हालांकि ऐसी अनुशंसा की कार्य-रूप मे परिणति सरल नही है, फिर भी शिक्षकों के प्रशिक्षण मे आज जो समय और धन लगाया जा रहा है, उसे ध्यान में रखकर देखा जाए और इस प्रकार की प्रभावकारी योजना को संचालित करने के प्रभूत लाभो पर गौर किया जाए, तो यह कार्यक्रम कोई बहुत दुरुह नही प्रतीत होगा।

जो बड़ा प्रश्न उपस्थित है, वह अनुशंसित प्रस्ताव से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न को सुलझाने की तत्परता बहुत आवश्यक है। यदि हमारे शिक्षकों को अपने व्यवसाय में अपना स्थान निर्धारित करने के लिए अपनी क्षमताओं की प्रतीति करनी है और दूसरों को आत्मान्वेषण में सहायता पहुँचानी है, तो उन्हे इस प्रश्न का सामना करना ही होगा।

अपने आत्म का बोध कई मार्गों से हो सकता है। पहाड़ा याद कर लेने की तरह यह कोई ऐसी चीज नही है, जिसे एक बार सीख लिया जाए तो वह सदा के लिये अपना हो जाए। वैसे लोग भी, जिनकी आँखें अपनी ओर प्राय: बिल्कुल बन्द हैं, अपने आपको कुछ न कुछ जानते है और कुछ अधिक जानने की क्षमता रखते हैं। जिन लोगों ने इसका भरपूर ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनकी एक बड़ी पहचान यह है कि वे और जानने के लिए प्रयत्नशील हैं। मात्र एक तरीका इस प्रश्न का समाधान नही कर सकता, क्योंकि सच्चे आत्मान्वेषण की प्रक्रिया जीवन पर्यंत चलती रहती है और अनुभव के समस्त स्रोतों से उसमें योगदान मिलता रहता है। जो शिक्षक अपने आपको तथा अपने छात्रों को सही-सही जानने के लिए सक्रिय है, वह अपने लिए तथा अपने छात्रो के लिए क्या उपलब्ध कर सकते हैं, इसका व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है।

देखा गया है कि किशोरों को जब ऐसे शिक्षकों के साथ कार्य करने का सुअवसर प्राप्त होता है, जो आत्म-निरीक्षण का द्वार उनके लिए उन्मुक्त कर देते हैं, तब उनमें से बहुतेरे तो उस ओर बड़ी व्यग्रता से आकृष्ट होते हैं, जैसे वे सहायता के भूखे हों, जबकि दूसरे किशोर, कम से कम कुछ समय तक, उदासीन रह सकते है, मानो वे विरोध कर रहे हों, या उन्हें हाथ बँटाने योग्य कोई समस्या ही न हो। विभिन्न अध्ययनों द्वारा ज्ञात होता है कि ज्योंही शिक्षक व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने की दिशा में थोड़ा भी कदम बढ़ाते है, त्योंही यह संभावना हो जाती है कि बहुत सारी समस्याएँ स्वयं ही उद्घाटित हो जाएँ। दुर्व्यवहार, उपेक्षा, अस्वीकरण या अन्य ढंगों से पीडित किए जाने के अनुभवों का लम्बा इतिहास रखने वाले अनेकानेक बालको को देख पाने का मौका विशेषत: हाई स्कूल शिक्षकों को मिलता है। ऐसे उपेक्षित छात्रों के साथ सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए शिक्षक मे अनेक गुणों का होना आवश्यक है और इसके लिए कई साधनो का उपयोग अनिवार्य हो जाता है। इन साधनो मे सहयोगी अध्यापकों की सहायता और नैतिक समर्थन सम्मिलित हैं। अपने आप को और अपने छात्रों को समझने के प्रयत्न में संलग्न शिक्षकों के अनेक गुणों में सर्वाधिक आवश्यक गुण यह है कि वे आने वाली समस्याओं का सामना साहसपूर्वक करें और ऐसा करने में दूसरों से या स्वयं अपने आपसे बहुत अधिक अपेक्षाएँ न रखें तथा इस प्रयत्न के साथ उठ खड़े होने वाले संघर्षों और परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले लाभों को दूसरों के साथ बाँट लेने को तत्पर रहें।

अच्छे शिक्षक के गुण

वे कौन-से गुण है, जो किसी व्यक्ति को अच्छा शिक्षक बना सकते है, इस सम्बन्ध मे कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती है। यह बात शिक्षण ही नही दूसरे क्षेत्रों के लिए भी सत्य है। हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि किन गुणों के कारण व्यक्ति एक अच्छा वकील, वक्ता या डॉक्टर बन सकता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध मे अनेक परीक्षण किए हैं तथा यह पता लगाने का प्रयत्न किया है कि वे कौन से गुण या दोष हैं, जिन्हें छात्र पसन्द या नापसन्द करते हैं।

1. अच्छा मानव—यह सबसे महत्त्वपूर्ण है कि एक अच्छा शिक्षक एक अच्छा मानव होता है। साइमण्ड्स (Symonds, 1955) अपने एक अध्ययन मे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उत्कृष्ट शिक्षक वही हो सकता है, जो अपने छात्रो में प्रीति रखे। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आत्म-स्वीकृति और पर-स्वीकृति मे उच्च सह-सम्बन्ध है। अतः एक अच्छा शिक्षक अपने आपको भी पसन्द करता है। साइमण्ड्स ने यह भी देखा कि निकृष्ट शिक्षक अपने छात्रो को नही चाहते। इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट शिक्षक व्यक्तिगत रूप से सुदृढ़, आत्म-आश्वस्त एवं सुव्यवस्थित व्यक्तित्व के थे। डोज (Dodge, 1943) ने *अन्य बातों के साथ यह भी देखा कि व्यक्तित्व-विश्लेषण के क्रम मे शिक्षकों ने स्वयमेव* जो उत्तर दिए थे, उनके अनुसार सफल शिक्षक मे निम्नांकित गुण अपेक्षित हैं—वे सामाजिक सम्पर्कों मे अधिक सहज दीख पड़ते है, उत्तरदायित्व लेने को अधिक प्रस्तुत रहते है, चिंता और भय से बहुधा पीड़ित नही होते, दूसरो की राय के प्रति अधिक *संवेदनशील रहते हैं तथा निर्णय करने में जल्दबाजी नहीं करते।*

2. विषय का समुचित ज्ञान—किसी भी शिक्षक की अच्छाई मात्र उसी पर अवलंबित नही होती, यह उसके छात्रों की प्रकृति और प्रेरणाओं पर भी निर्भर करती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि एक शिक्षक सभी दृष्टि से अच्छा ही हो; वह शिक्षक के रूप में अच्छा हो सकता है क्योंकि उसे अपने विषय का अच्छा ज्ञान है तथा उसे प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करता है, परन्तु व्यक्ति के रूप मे वह छात्रों द्वारा नापसन्द किया जा सकता है।

3. प्रभावशाली व्यक्तित्व—एक अच्छे शिक्षक के गुण और विशेषताएँ लगभग उतनी ही विपुल और विविधतापूर्ण हैं, जितनी मानव-प्रकृति की विशेषताएँ। शिक्षक के "अच्छे" होने का तात्पर्य यहाँ एक ऐसे प्रौढ़ से है, जिसका किशोरों पर रचनात्मक प्रभाव हो, जो तरुणों मे आत्म-बोध की भावना जगाकर उनको प्रगति की ओर प्रोत्साहित करे, उनकी बौद्धिक, सामाजिक तथा भावात्मक क्षमताओं का पता लगाकर उन्हें स्वीकृत करे। एक अच्छा शिक्षक सदा यह प्रयास करता है कि अगर आवश्यकता पड़े, तो वह किशोरों को कठिनाइयों पर विजय पाने या अस्वस्थ अभिवृत्तियों, आत्म-घाती आदतों या अन्य ऐसी किसी भी बाधा को दूर करने मे सहायता पहुँचावे, जो उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण मे बाधक हो रही हैं।

4. स्वतः प्रवृत्त व्यवहार—किशोरों के प्रति व्यवहार करते समय किसी मात्रा मे स्वत-प्रवृत्ति (spontaneity) भी एक बहुमूल्य साधन होती है। इसका अर्थ, अन्य बातों के साथ ही, यह है कि शिक्षक अपनी भावनाओं को प्रकाशित नही होने देने के लिए निरन्तर सचेत नही रहता है। एक विचारवान प्राणी होने के साथ वह अपने को भाव

जगत के प्राणी के रूप में भी प्रस्तुत करता है। उसे इस बात का भय नही है कि दूसरे उसके मानवीय पक्षों को भी देख लेंगे, यह जान लेंगे कि वह भी भला-बुरा अनुभव करता है, भयभीत होता है, क्रुद्ध हो सकता है, या उसे ज्ञात है कि उदास होना, उद्विग्न होना या विषण्ण होना क्या होता है। यद्यपि इसका यह अर्थ नही कि अपने मनोद्गारो की अभिव्यक्ति वह छात्रों पर किया करे या अपनी विपदाएँ उन्हें सुनाया करें। स्वतः प्रवृत्त (spontaneous) होने का अर्थ यह नही है कि वह दूसरो की सहानुभूति का अनुचित लाभ उठाए या अपने संवेगों का सार्वजनिक प्रकाशन करे। लेकिन स्वत. प्रवृत्ति का अर्थ इतना अवश्य है कि शिक्षण की किन्ही परिस्थितियों मे या शिक्षक-शिष्य सम्बन्धो के बीच अपने मनोभावों को प्रभावित होने देने की स्वतन्त्रता का अनुभव शिक्षक को हो।

5. पूरी तरह ईमानदार व विनम्र—अच्छे शिक्षक का एक प्रधान गुण यह होता है कि वह अपनी योग्यताओ की शक्तियों और परिसीमाओं के सम्बन्ध में अपने और दूसरो के प्रति पूर्णतः ईमानदार होने का नैतिक बल रखता है। वह कितना जानता है या कितना सही है, इसके प्रदर्शन की लिप्सा व दभ से वह कभी परिचालित नही होता। एक अच्छे शिक्षक में विनम्रता होती है, पर इस विनम्रता की जड़ें उसकी शक्ति की गहराई से खडी होती हैं। वह निर्बलता या अपराध-भावना या दब्बूपन की नीति से कदापि नि सृत नही होती। यह विनम्रता अपने अभावो का रोना-रोने का नही, वरन् अपनी क्षमता और अक्षमता को यथार्थ रीति से पहचानने का जरिया है।

शिक्षक की विनम्रता में एक प्रकार की कौतूहल की भावना होती है। जिस शिक्षक में यह गुण होता है, वह मानव-बुद्धि के कार्यों और मानव-विकास की संभावनाओ को देखकर विस्मित हो जाता है। बालकों के मन को प्रस्फुटित होते देखकर वह विस्मयाभिभूत हो जाता है तथा आत्म-सुधार की मानवीय क्षमता की महान् सभावनाओं का अनुभव कर प्रेरणा पाता है। मानव के इस सामर्थ्य को कार्यरत होते हुए देखने के अनगिनत अवसर उसे दिन-प्रति-दिन मिलते रहते हैं—कभी उस छात्र में, जो दीर्घ उपेक्षा की अनवरत शृंखला के बावजूद सतत उद्यमशील रहता है तथा स्कूल मे अच्छी प्रगति दिखलाता है, तो कभी उस दूसरे छात्र मे, जो वर्षो तक एक अति साधारण छात्र रहा है, फिर भी सहसा अपने शैक्षिक कार्यो मे प्रगति दिखलाता है, और यद्यपि यह प्रगति साधारण ही होती है, फिर भी इस दृष्टि से तो असाधारण कही जाएगी कि प्रायः सब लोगों ने उसे असफल मान लिया था।

6. स्वयं का जीवन-दर्शन—एक शिक्षक का प्रधान लक्षण यह भी होता है कि वह अपनी निजी धारणाओं, मतों और मूल्यों का निर्माण कर लेता है। वह मात्र एक सहृदय, निष्पक्ष और मैत्रीपूर्ण, विनीत व्यक्ति नही होता, जो अपने को इतना महत्त्वहीन समझे, मानो उसके कुछ निजी अधिकार हैं ही नही।

शिक्षण के व्यक्तिगत और शैक्षिक पक्षों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध

किशोरो के सफल शिक्षण के लिए यह अत्यावश्यक है कि शिक्षक अपने छात्रो को व्यक्ति के रूप में जाने। आजकल यह व्यावहारिक दृष्टि से एक स्वीकृत तथ्य है कि एक अच्छा शिक्षक अपने छात्रों को ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा करना अपने कार्य का अग मानता है और कई ऐसे ग्रन्थ तथा पुस्तिकाएँ है, जिनमें छात्रो के जीवन के व्यक्तिगत पक्षो

की जानकारी प्राप्त करने के लिए शिक्षकों द्वारा प्रयोग की जाने योग्य रीतियों का विवेचन सुलभ है। इन पुस्तकों के कई अध्यायों में उन रीतियों की चर्चा की गई है, जो छात्रों के व्यक्तिगत जीवन की जानकारी के लिए प्रयुक्त हुई हैं जैसे—"लोकप्रियता का क्रम निर्धारण", "बताओ कौन है ?" वाली प्रविधियाँ (techniques) समाजमितीय पद्धतियाँ (sociometric methods), अभिरुचियों की जाँच-पड़ताल, प्रक्षेपण-प्रविधियाँ इत्यादि। ये सारी कार्यप्रणालियाँ उस वातावरण में उपयोगी हैं, जिसमें शिक्षक और छात्र एक दूसरे पर विश्वास करते है। यद्यपि सबसे उपयोगी पद्धति वही है, जिसका उपयोग सभी अपने दैनिक जीवन मे करते हैं, अर्थात् दूसरो के किए हुए कार्यों का निरीक्षण तथा दूसरो की कही गई बातों को मनोयोग से सुनना।

जबकि प्रत्येक अच्छा शिक्षक अपने छात्रों को अच्छी तरह समझने की आशा रखता है, कोई भी शिक्षक इस आशा को पूर्णतः सफल नही कर पाता। मानव जीवन बड़ा जटिल होता है और शिक्षक की मानवीय सीमाएँ अत्यधिक हैं। किसी शिक्षक को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अपनी विद्वत्ता को बनाए रखने की चेष्टा के कारण छात्रों की व्यक्तिगत जानकारी मे बाधा पड़ रही है। ऐसी भावना विद्यालय मे और विशेषतः महाविद्यालय मे उत्पन्न हो सकती है, जहाँ कि शिक्षक की उन्नति अंशतः उसके शोध-कार्यों मे और विद्वत्तापूर्ण प्रकाशनों पर निर्भर करती है। अपने कार्य के शैक्षिक और व्यक्तिगत दोनो पक्षों को जारी रखने की भी एक सीमा है। उदाहरणार्थ मत्स्य विज्ञान से सम्बद्ध एक प्रख्यात विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने सारे छात्रो को नाम से जानने का प्रयास शुरु किया, फिर बाद मे ऐसा करना छोड़ दिया। उन्होंने पाया कि हर बार जब वे प्रवेश पाने वाले नये छात्र का नाम याद करते थे, वे एक मछली का नाम भूल जाते थे। ऐसी जनश्रुति है।

फिर भी शिक्षा के कई क्षेत्रों मे शैक्षिक और व्यक्तिगत पक्षों को मिला दिया जा सकता है। एक मनोवैज्ञानिक, जो शोध-कार्य के द्वारा ज्ञान की अभिवृद्धि करना चाहता है, शिक्षक के रूप मे अपनी योग्यता बढाना चाहता है और अपने छात्रो के सम्बन्ध में व्यक्तिगत जानकारी की वृद्धि करना चाहता है, वह इन तीन उद्देश्यों को बहुत हद तक मिला कर एक समन्वित कार्यक्रम अपना सकता है। अपने छात्रों को समझने के लिए वह महत्त्वपूर्ण आँकड़ें जुटा सकता है तथा प्रकाशनार्थ इन सबको प्रस्तुत करना भी संभव हो सकता है और इसके साथ ही वह ऐसी सूचनाएँ भी एकत्र करता जाएगा, जो शिक्षण में उपयोगी होंगी।

एक और ऐसा क्षेत्र है, जिसमें शैक्षिक और व्यक्तिगत पक्षों को मिला देने की असाधारण संभावना और आवश्यकता है। यह क्षेत्र नागरिकता की शिक्षा का है। किशोरों के शिक्षण मे सामान्यतः ऐसे ज्ञान तथा बोध पर जोर दिया जाता है, जो नागरिक कर्तव्यो के अनुभव में उनकी सहायता कर सके। इसके अतिरिक्त बहुतेरे तरुण उस समय की आकुलता से प्रतीक्षा करते रहते है, जब वे कतिपय कानूनी अधिकार प्राप्त करलें, जैसे ड्राइवर लाईसेंस या वोट देने का अधिकार। फिर भी बहुतेरे किशोर न तो नागरिक कार्य में विशेष रुचि दिखलाते हैं, न नागरिक उत्तरदायित्वों के सवहन की जानकारी मे और न उन विचारों के अवबोधन में ही, जो इतिहास, राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थ-

शास्त्र के पन्नों मे भरे पड़े हैं । यहाँ तक कि वयस्क जनता में नागरिक कार्यों के प्रति प्रचुर मात्रा मे अज्ञान और वितृष्णा देखी जाती है ।

किशोरों के नागरिकता के प्रशिक्षण मे जो विषय सन्निविष्ट किए जाते है, उनमें गहरी व्यक्तिगत सार्थकता लाई जा सकती है । उदाहरणार्थ, इतिहास या सामयिक घटनाओं का शिक्षण मानव-अस्तित्व के रूपक के साथ संयुक्त किया जा सकता है, यदि शिक्षक में ऐसी क्षमता हो कि वे उनके अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक अभिप्राय छात्रों को हृदयंगम करा सके । इतिहास जिन घटनाओं को लेखबद्ध करता है वे प्रयोजनों तथा मनोभावों से उद्भूत होती है, जिनका ज्ञान किशोर को अपने जीवन के स्वयंदृष्ट अनुभव तथा दूसरो के निरीक्षण मे होता है । इतिहास में क्रोध और भय, लोभ और कीर्ति, उच्चाभिलाषा और गहरी निराशा, प्यार और घृणा, निष्ठा और विश्वासघात की कहानियाँ भरी होती हैं । इतिहास का ऐसा कोई पन्ना नहीं और न सामयिक घटनाओं का ऐसा विषय है, जो अधिकाश हाईस्कूल और कालेज के छात्रों के लिए महत्त्वपूर्ण न हो । यदि शिक्षक और छात्र केवल शैक्षिक तथ्यों के छिलके तक न जाकर उनमें निहित आन्तरिक भावों के सार को प्राप्त करे ।

अनेक शैक्षिक विषयों और बहुतेरी कलाओं, शिल्पों और कौशलो के शिक्षण में शिक्षक के कार्य का शैक्षणिक स्वरूप अधिक अर्थपूर्ण हो सकता है, यदि वह अपने कार्य के वैयक्तिक अभिप्रेतों को सदा अनुभव करता रहे । यदि कोई शिक्षक प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना के लिए अपने विषय की पूरी जानकारी करना चाहता है, तो शिक्षण के अनेक क्षेत्रों में यह आवश्यक हो जाता है कि अध्येताओं को जानने का प्रयास किया जाए । शिक्षक अपने विषय को, जिस सीमा तक छात्रों के लिए वैयक्तिक दृष्टि से सार्थक बनाना चाहता है, उस सीमा तक वह एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक है । ऐसी दशा मे वह अपने शिक्षण में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है—इसलिए नहीं कि अपने आप में मनोविज्ञान विषय को बहुत महत्त्व देता है वरन् इसलिये कि जिस विषय का वह शिक्षण करता है, उसमें उसका अनुराग है और वह अच्छी तरह समझता है कि छात्रों के लिए वह विषय मूल्यवान है ।

सारांश

"किशोर को प्रशिक्षण मे जो कुछ दिया जाता है. राष्ट्र के जीवन में वह सब प्रस्फुटित होता है ।"

प्रजातंत्र की सफलता प्रबुद्ध नागरिकों पर निर्भर है । शिक्षा का प्रमुख स्रोत विद्यालय है । अत. सभी सभ्य समाज विद्यालयों का उत्थान चाहते हैं ।

विद्यालय की अपनी समस्याएँ हैं । विद्यालय को पाठ्यक्रम वैयक्तिक विभिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए तैयार करना चाहिए । इसके अभाव में अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या उत्पन्न हो जाती है । किशोर द्वारा बीच मे ही अध्ययन कार्य छोड़ देने के कारणों मे प्रमुख हैं—निम्न बुद्धिलब्धि, निम्न सामाजिक व आर्थिक स्तर, विद्यालय से असंतोष, निरन्तर असफलताएँ, नौकरी के प्रति आकर्षण, आत्म-स्वीकरण की अत्यधिक स्वल्पता आदि। विद्यालय मे अध्ययन बनाए रखने के पीछे जो कारण पाए जाते हैं वे है—स्नातक

होने की प्रबल व्यक्तिगत आकांक्षा, पारिवारिक प्रोत्साहन, विशिष्ट विषयों में अभिरुचि, खेलकूद तथा अन्य क्रियाकलापों में रुचि, अध्ययन समाप्ति पर अच्छी नौकरी मिलने की आशा एवं आकांक्षा, शिक्षकों तथा परामर्शदाताओं द्वारा उदारतापूर्ण सहयोग एवं अन्य युवाओं के साहचर्य की इच्छा।

विद्यालय की कुछ आवश्यकताएँ हैं, कुछ मांगे हैं, जो जीवन की वास्तविकताएँ हैं, कुछ लक्ष्य हैं, जिनके कारण अनेक किशोरों को असफलताओं का सामना करना पड़ता है। यह एक दुःखकर स्थिति है। इसी कारण समय-समय पर प्राप्त अनुभवों के आधार पर शिक्षा की नीति में परिवर्तन किए जाते हैं। तकनीकी आविष्कारों के कारण तथा वास्तविक एवं व्यावहारिक शिक्षा की मांग के कारण विद्यालयों में तकनीकी शिक्षा का समावेश किया गया है। *अब विद्यालयों में किशोरों की रुचि, सम्मान एवं आवश्यकता को* देखते हुए व्यावसायिक प्रशिक्षण, सुखी जीवन जीने के तरीके आदि के सम्बन्ध में भी शिक्षा दी जाने लगी है। बौद्धिक विकास के साथ ही आत्म-निर्भरता, स्वास्थ्य, सुख और जीवन में सफलता की भी शिक्षा होनी चाहिए। विद्यालयों में एक नया प्रयास हुआ है कि तरुण को आत्म-बोध की शिक्षा दी जाए। स्कूल कार्य केवल शैक्षिक व्यायाम ही नहीं रहे, क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति को अतिशय बौद्धिक बना देती है। उपरोक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यह भी आवश्यक है कि समर्थ अध्यापकों का चयन किया जाए। *शिक्षक स्वयं की समस्याओं को योग्यतापूर्वक सुलझा सकने में यदि समर्थ होंगे तभी* वे अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे और विद्यार्थियों के अच्छे सहायक बन सकेंगे। जो शिक्षक स्वयं को समझ सकेगा, सुलझे विचारों का होगा, वही अपने छात्रों को समझ सकेगा। यह ज्ञान किसी भी प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त नहीं होता है बल्कि इसके लिए व्यक्तिगत अन्तर्ग्रस्तता चाहिए।

अच्छे शिक्षक के गुणों में सर्वोपरी गुण यह है कि वह एक अच्छा मनुष्य बना रहे। वह सुदृढ़, आत्मआश्वस्त, सुव्यवस्थित व्यक्तित्व वाला हो। वह न केवल अपने से प्रेम करे बल्कि अपने छात्रों से भी प्रेम करे। *वह सामाजिक संपर्कों में सहज हो*, उत्तरदायित्व लेने में पहल करे, चिंता और भय से ग्रस्त न रहे। वह अपने छात्रों पर रचनात्मक प्रभाव डाल सके। वह ईमानदारी से अपनी बात कहने व दूसरों की सुनने की क्षमता रखे। परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि उसके अपने कुछ मत नहीं हैं, धारणाएँ नहीं है या मूल्य नहीं हैं। *उसका स्वयं का एक जीवन-दर्शन होना नितान्त आवश्यक है।*

शिक्षक के व्यक्तिगत एवं शैक्षिक पक्षों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों पर ही शिक्षण की सफलता निर्भर करती है। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक अपने छात्रों को भली प्रकार से समझे। इसके लिए अपनाई गई अनेक विधियों में से प्रमुख हैं *निरीक्षण एवं धैर्य पूर्वक श्रवण*। प्रत्येक अच्छा शिक्षक अपने छात्रों को समझने के लिए प्रयत्नशील रहता है, यद्यपि सभी को सफलता नहीं मिलती है। दूसरा बिन्दु है विद्यार्थियों को नागरिकता का प्रशिक्षण देना।

□□□

अध्याय 17

शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन

"निर्देशन उन सब तथ्यों के प्रसंग में जो स्वयं लड़के और लड़कियों के बारे में और इस दुनिया के बारे में एकत्रित किए जा सकते है, जिसमें वे रहेंगे और काम करेंगे उन्हें अपने कार्य बुद्धिमतापूर्वक आयोजित करने में सहायता देने की महान् कला है।"

—एड्यूकेशनल पॉलिसीज कमेटी

निर्देशन सृजनात्मक अध्यापन का एक नया आयाम है। आज की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है "व्यक्तिगत भिन्नता के अनुसार शिक्षा" परन्तु आज भी माता-पिता इस बात को मानने को तैयार नहीं। बड़ी-बड़ी कक्षाओं में अध्यापक भी सभी विद्यार्थियों को एक ही लाठी से हांकते रहते है। किशोर भी भूल भुलैया में पड़ा रहता है। उसे भी यह नहीं समझ में आता है कि उसे किस प्रकार की शिक्षा लेनी चाहिए तथा किस व्यवसाय का चयन करना चाहिए। वे तो माता-पिता की इच्छानुसार ही चलते रहते हैं। ऐसा करने में वे असफल भी हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ?, क्योंकि बालक को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य नहीं मिला है।

निर्देशन और उसका उद्देश्य

परिपक्वता की ओर बढ़ता हुआ किशोर स्वयं से, दूसरों से और परिवर्तनशील परिस्थितियों से समंजन करना सीखने में सहायता चाहता है। कुछ को अधिक सहायता की आवश्यकता पड़ती है, तो कुछ को अपेक्षाकृत कम की। कुछ को निरन्तर सहायता की आवश्यकता पड़ती है, तो कुछ को केवल कभी-कभी। व्यक्ति को किस प्रकार की और कितनी सहायता आवश्यक है, यह उसकी आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों पर निर्भर है। यह सहायता देने की प्रक्रिया ही निर्देशन है। निर्देशन द्वारा व्यक्ति की समस्याएँ सुलझा नहीं दी जाती परन्तु उन्हें स्वयं सुलझाने में व्यक्ति की सहायता की जाती है; मार्गदर्शन किया जाता है। निर्देशन की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—

"यह एक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति की शिक्षा, आजीविका, मनोरंजन तथा मानव क्रियाओं के समाज-सेवा संबंधी कार्यों को चुनने, तैयारी करने, प्रवेश करने तथा वृद्धि करने में सहायता प्रदान करती है।"[1]

वुड और हैफनर ने इंगित किया है कि व्यक्ति सिद्धान्त में प्रकट होते है और व्यव-

1. "एमैनुअल ऑफ एड्यूकेशन एण्ड एड्यूकेशनल एण्ड वोकेशनल", गाइडेन्स मिनिस्ट्री ऑफ एड्यूकेशन, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया।

हार में लुप्त हो जाते हैं। "छात्र का वैयक्तिक कल्याण इतना महत्वपूर्ण है कि उसे मात्र संयोग पर नहीं छोड़ा जा सकता। निर्देशन का उद्देश्य है सामाजिक आत्म-निर्देशन की क्षमताओं के परिपाक को उचित महत्व देते हुए बालक की अपनी योग्यताओं और परिवेश की माँगों में सामान्य सम्बन्ध बनाए रखने में सहायता देना। निर्देशन एक आयोजित और व्यवस्थित क्रिया है, जिसका उद्देश्य है, वे अनेक व्यक्तिगत सामूहिक अनुभव प्रदान करना, जिनकी छात्रों को बढ़ने के लिए आवश्यकता होती है। संक्षेप में निर्देशन का कार्य है सहायता देना—जब, जहाँ और जिसको सहायता की आवश्यकता है।

निर्देशन का महत्व

वर्तमान युग मे मनुष्य के सामान्य क्रिया-कलापों पर भी वैज्ञानिक पद्धति का प्रभाव बढ रहा है। इसका प्रभाव मनुष्य के रहन-सहन, जीवन-यापन की दशाओं, अवकाश समय में वृद्धि, आमोद-प्रमोद के साधनों में वृद्धि तथा सामाजिक आर्थिक ढाँचों के परिवर्तन, सभी में परिलक्षित है। इन सबका किशोर के पारिवारिक संबंधों, समकक्ष-समूह की गतिविधियों, सामुदायिक कार्यों, शैक्षिक एवं धार्मिक कार्यक्रमों, व्यावसायिक अवसरों, आर्थिक आवश्यकताओं एवं दशाओं, सभी पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जैसाकि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, किशोर की शैक्षिक आवश्यकताएँ और समस्याएँ सार रूप मे निम्न हैं—

1. किशोरो को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, इनके समाधान हेतु उन्हें सहायता एवं निर्देशन की आवश्यकता होती है।
2. अनेक युवकों को अपने व्यवसाय के संबंध में निर्णय करने के लिए आवश्यक सूचनाओं का ज्ञान नही होता है।
3. युवकों को परामर्श देने वाली सेवाओं का अत्यन्त अभाव है।
4. व्यवसाय के चयन में अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है और उनका समाधान किसी एक सिद्धान्त से नहीं किया जा सकता।
5. किशोर को शिक्षा के साथ ही साथ कार्यानुभव के अवसर उपलब्ध कराए जाने की अत्यन्त आवश्यकता है, यह उनके व्यावसायिक प्रतिस्थापन में भी सहायक रहता है।

व्यक्ति को किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती है? हम वैयक्तिक विभिन्नताओं के सिद्धान्त से परिचित हैं। अतः स्पष्ट है कि व्यक्तिगत विलक्षणता के कारण प्रत्येक व्यक्ति को समान सहायता की आवश्यकता नहीं होती। सहायता करने से पूर्व व्यक्ति की आवश्यकताओं, रुचियों, रुझानों आदि को जान लेना आवश्यक है। उनकी अतृप्त इच्छाओं का पता लगाना भी आवश्यक है ताकि उनको विकासात्मक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़े। निर्देशन निवारक और उपचारक दोनों ही प्रकार का हो सकता है।

निर्देशन कितना और किस प्रकार करना चाहिए, इसके लिए कोई स्थाई सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते परन्तु निर्देशक को बहुत कम या बहुत अधिक निर्देशन के खतरों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। निर्देशन देने से पूर्व व्यक्ति-इतिहास अध्ययन के आधार पर निर्देशन की मात्रा एवं प्रकार का निश्चय कर लेना चाहिए।

शैक्षिक निर्देशन

महत्त्व—विद्यालयों में जहाँ एक ओर नामांकन की संख्या में वृद्धि हो रही है, वहीं दूसरी ओर शिक्षक के सामने एक बड़ी समस्या अपव्यय की है। एक बड़ी संख्या में विद्यार्थी अध्ययन-समाप्ति से पूर्व ही विद्यालय छोड़ देते हैं। अतः विद्यालय के लिए यह आवश्यक है कि वह इसको रोके। इसके लिए निम्न बातें आवश्यक हैं—

1. विद्यालय अपने कार्यक्रम इस प्रकार से बनाए कि विद्यार्थी उसमें रुचि लें तथा अध्यापक यह संकल्प लें कि उन्हें युवा-वर्ग की सेवा करनी है।

2. अध्यापक उचित परामर्श सेवाओं का प्रबन्ध करें इससे विद्यार्थियों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं का ज्ञान होगा तथा उनकी पूर्ति संभव हो सकेगी।

3. पाठ्यक्रम लचीला हो। परामर्शदाता विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार वांछित अध्ययन सामग्री दें तथा उसी के अनुसार उनकी परीक्षा तथा अगली कक्षा में उन्नत किए जाने के कदम उठाए जाएँ।

4. विद्यालय अनेक प्रकार के प्रोजेक्ट आरम्भ करें। विद्यार्थी प्रशिक्षित समन्वयक के उचित निर्देशन में प्रोजेक्ट का चयन करें तथा कार्य करें।

5. विद्यालय निदानात्मक सेवाएँ आरम्भ करें। निदानात्मक परीक्षणों के आधार पर बालकों की रुचि का पता लगता है। उसी के अनुसार उनका शैक्षिक कार्यक्रम तैयार करें। शैक्षिक एवं मानसिक रूप से पिछड़े बालक सामान्य बालकों के अनुसार कार्य नहीं कर सकते। अतः उन्हें असफल घोषित कर दिया जाता है परन्तु उचित निदानात्मक परीक्षण, परामर्श एवं शैक्षिक सेवाएँ उनमें इस प्रकार की कुंठा उत्पन्न नहीं होने देतीं। इस प्रकार विद्यालय सेवाएँ एक अच्छे समायोजित बालक को बनाती है।

वर्तमान परिस्थिति में निर्देशन की संकल्पना सृजनात्मक अध्यापकों को व्यावसायिक सेवाओं में एक नया आयाम जोड़ देती है। जो निर्देशनशील अध्यापक परामर्श देने की कला सीख लेते हैं, उनके निजी साधन अधिक समृद्ध और परिष्कृत होते जाते हैं, उनके कार्य में सप्राणता और गहनता बढ़ती है, जो कि एक सच्चे व्यावसायिक शिक्षक की लाक्षणिकता है। निर्देशन न तो व्यापार है और न जादू का थैला। अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में यह एक व्यावसायिक सेवा है।

वैयक्तिक निर्देशन

परामर्श सेवाएँ उतनी ही प्राचीन है, जितनी की औपचारिक शिक्षा। यह उन दो व्यक्तियों के बीच वैयक्तिक एवं गत्यात्मक संबंध है, जो एक समस्या के समाधान हेतु परस्पर सोचने विचारने के लिए बैठते हैं तथा उनमें युवा प्रौढ़ साथी से सलाह की अपेक्षा करता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रौढ़ अर्थात् शिक्षक या परामर्शदाता में सूझबूझ व धैर्य अधिक होना चाहिए। शिक्षा के क्षेत्र में निर्देशन एक प्रकार की सहायता है, जो विद्यार्थियों को पाठ्यक्रम तथा अनेक शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं का चुनाव करने में तथा उनके साथ अनुकूलन करने में दी जाती है। यहाँ पर भी दो विभिन्नताएँ-वैयक्तिक एवं शैक्षिक पाई जाती हैं। निर्देशन द्वारा उसे अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुसार सही विषय चुनने में सहायता दी जाती है।

व्यक्तिगत निर्देशन की प्रमुख विधियाँ इस प्रकार है—

1. *साक्षात्कार—परामर्श सेवा बहुत कुछ साक्षात्कार पर निर्भर रहती है।* साक्षात्कार में निर्देशक को सावधानीपूर्वक चलना चाहिए। उसके द्वारा किए हुए साक्षात्कार निर्देशन की जान हैं। इसके लिए उसके पास एक अलग से परामर्श कक्ष होना चाहिए, जहाँ का वातावरण शांत तथा शीतल हो।

साक्षात्कार एक गूढ़ प्रक्रिया है। उसमें निर्देशन तथा निर्देशन प्राप्त करने वाले में आमना-सामना होना है। जो अंग उसको गूढ़ प्रक्रिया बना देते हैं वे है—निर्देशक का व्यक्तित्व, निर्देशन प्राप्त करने वाले का व्यक्तित्व, इन दोनों का आपसी सम्बन्ध तथा साक्षात्कार के समय का वातावरण।

साक्षात्कार आरम्भ होने से पहले ही बालक को विद्यालय की परामर्श-सेवाओं के बारे में ज्ञान होना आवश्यक है। उससे यह मालूम होना भी आवश्यक है कि निर्देशक का कार्य उसे सहायता प्रदान करना है और इस प्रकार उसे निर्देशक के प्रति उचित मनोवृत्ति बना लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त बालक को अपनी कठिनाइयों और समस्याओं को निर्देशक के सम्मुख बिना झिझके हुए रखने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

निर्देशक के पास दूसरे ढंगों द्वारा भी जो प्रदत्त (data) इकट्ठे हो सकें, उन्हे साक्षात्कार के पहले इकट्ठा कर लेना चाहिए और इस तरह स्वयं को भी तैयार करना चाहिए।

साक्षात्कार के समय निर्देशक को बालक के साथ आत्मीयता स्थापित करनी चाहिए। उसे बालक में विश्वास बढाना चाहिए तथा स्पष्ट और स्वतन्त्रतापूर्वक बातचीत करनी चाहिए। बालक की आवश्यकताओ की ओर उसे सदैव ध्यान देना चाहिए।

पूछे जाने वाले प्रश्नो का निश्चय निर्देशक को पहले से ही कर लेना चाहिए परन्तु जब आत्मीयता स्थापित हो जाए तो बातचीत के सिलसिले में स्वाभाविक ढग से प्रश्न पूछे जाने चाहिए।

साक्षात्कार के समय जहाँ तक हो, लेखन-क्रिया कम करनी चाहिए। निर्देशक को अपनी स्मरण-शक्ति पर निर्भर रहना पड़ेगा। लिखने में बातचीत का क्रम टूट जाता है और इस प्रकार आत्मीयता की भावना नष्ट हो जाती है। यदि निर्देशन कार्यालय की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ है तो विशेष स्थितियों मे टेप-रिकार्डर का प्रयोग किया जा सकता है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि निर्देशक अब अधिक समय किशोर के हाव-भाव का अध्ययन करने की ओर दे सकेगा।

साक्षात्कार समाप्त होते ही निर्देशक को चाहिए कि प्राप्त तथ्यों का पूर्ण विवरण बना ले। उसे इसके लिए फार्म आदि का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार से साक्षात्कार करने से निर्देशक बालकों को उचित निर्देशन देने मे सफल होगा। यदि एक से अधिक साक्षात्कार की आवश्यकता हो, जैसा साधारणतया होगा तो निर्देशक को हर साक्षात्कार का पूर्ण विवरण रखना चाहिए।

2. **बालकों के अभिलेख**—व्यक्तिगत निर्देशन में बालकों के अभिलेख की बहुत आवश्यकता पड़ती है। जैसाकि हमने ऊपर वर्णन किया है, यह अभिलेख अध्यापकों तथा निर्देशक के समक्ष बालकों के स्वास्थ्य-सम्बन्धी, परिवार-सम्बन्धी, प्रगति-सम्बन्धी प्रदत्तो

(datas) को स्पष्ट रूप में रख देते हैं। इनको उचित ढंग से रखने का प्रत्येक विद्यालय में प्रबन्ध होना चाहिए।

निर्देशन एक सतत प्रक्रिया है, जो बालक की शिक्षा के हर स्तर पर आवश्यक है। प्राइमरी विद्यालयों से कालेजों तक या उससे भी आगे शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् भी। इस समय हमारे देश के अधिकांश विद्यालय इस प्रकार की सहायता से वंचित हैं। देश के व्यावसायिक क्षेत्र भी इस ओर उदासीन हैं तथा सरकारी और समाज-सेवा से सम्बन्धित संस्थाएँ भी कुछ ही अंशों में देश वासियों के निर्देशन में सफल हैं। इसलिए इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि विभिन्न संस्थाएँ इस क्षेत्र में अपने उत्तरदायित्व को समझें और मिल-जुलकर देश के नागरिकों के लिए उचित निर्देशन-सेवाओं को उपलब्ध कराएँ।

विद्यार्थियों का शैक्षिक समस्याओं के समाधान हेतु उपरोक्त सूचनाओं के प्राप्त करने में महत्व के सम्बन्ध में स्ट्रेंग[1] का कथन है—

> "विद्यार्थियों को सहायता सतही नहीं बल्कि पूर्ण दी जानी चाहिए। एक व्यक्ति विद्यार्थी के सम्बन्ध में बहुत अधिक सूचना नहीं भी प्राप्त कर सकता है, पर वह उसे बहुत सारी सलाह तो दे ही सकता है। उसकी परिपक्वता के वर्तमान स्तर को जानना आवश्यक है, उसके मूल्य, लक्ष्य, उद्देश्य आदि को जानना व सम्मान करना भी आवश्यक है। एक रूप में परामर्श स्वयं के अनुसार शिक्षा देना है। यह एक प्रक्रिया है, निष्कर्ष नहीं।"

रेन तथा डयूगान ने निम्न पाँच सिद्धान्तों की सूची बनाई है। इनका शिक्षक व अन्य लोग किशोरों की समस्याओं को समझने में प्रयोग कर सकते हैं—

1. व्यवहार कारण से उत्पन्न होता है—किशोर का अच्छा या बुरा सभी प्रकार का व्यवहार उसके अनुभवों के आधार पर होता है। व्यवहार तो उसके उन अनुभवों की प्रतिक्रिया का संकेत मात्र है। अतः किशोर को उसके अभद्र आक्रामक या अवांछित व्यवहार के लिए दण्डित करना उचित नहीं है बल्कि उस व्यवहार के कारणों, परिस्थितियों आदि का पता लगाकर मिटाना उचित है।
2. कारण जटिल भी हो सकते हैं—व्यवहार के पीछे एक या अनेक कारण हो सकते हैं।
3. एक निश्चित सामग्री की आवश्यकता होती है—किशोर को समझने के लिए उसके विकास का अभिलेख, उसकी वर्तमान आवश्यकताएँ, योग्यताएँ, रुचियाँ आदि का ज्ञान तथा उनका उचित विश्लेषण होना चाहिए।
4. उपचार परस्पर सहयोग पर आधारित प्रक्रिया है—उपचार के लिए व्यक्ति-अध्ययन किया जाता है। यह शिक्षकों, अभिभावकों, समकक्ष-समूह, पड़ोसियों आदि के सहयोग के बिना संभव नहीं है।

---

1. स्ट्रेंग आर., "कोन्सेलिंग टेकनीक्स इन कॉलेज एण्ड सैकण्डरी स्कूल, न्यूयार्क, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, 1937 पृ० 130.

5. उपचार क्रिया निरन्तर रहनी चाहिए—उपचार के लिए की गई अनुसंधानें तो मात्र प्रारम्भ हैं। उनके प्रभाव को देखने के लिए अनुवर्ती अध्ययन भी आवश्यक है क्योंकि इसमें हुए परिवर्तनों के कारण कुछ नए तथ्य भी प्रकाश में आ सकते हैं या उपचार के लिए कोई अन्य विधि भी मस्तिष्क में कौंध सकती है

विद्यालय में निर्देशन

जैसाकि हम देख चुके हैं अपव्यय एवं अवरोधन को रोकने के लिए निर्देशन की बड़ी ही आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त किशोरों को स्वावलम्बी बनाने की दिशा में भी निर्देशन की आवश्यकता है। किशोरों के संवेग कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों में बालकों एवं वयस्कों से भिन्न होते हैं। विशेषकर किशोरावस्था में संवेग तीव्र हो जाते हैं और व्यक्ति के लिए उन पर नियंत्रण रखना कठिन हो जाता है। परामर्श दाता को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और उसी के अनुसार विद्यालय कार्य का संचालन होना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक विद्यालय में निर्देशन सेवाएँ आवश्यक हैं।

निर्देशक के निम्न कार्य होते हैं —

1. किशोर को मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ देना
2. उससे संबंधित व्यक्तिगत प्रदत्त सामग्री को एकत्रित करना
3. विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक एवं शिक्षा संबंधी सूचना किशोर तक पहुँचाना
4. किशोर को आवश्यकता पड़ने पर व्यक्तिगत परामर्श देना।

व्यावसायिक निर्देशन

ज्यों-ज्यों किशोर की आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उस पर व्यावसायिक लक्ष्य को चुनने का दबाव बढ़ता जाता है। तरुण व्यक्तियों और विशेषतः युवकों से समाज यह माँग करने लगता है कि वे अपने लिए किसी व्यवसाय का निर्धारण कर लें और अगर आवश्यकता हो तो उसकी तैयारी में लग जाएँ। बाल्यावस्था से भिन्न मनःस्थिति में आ जाने से किशोर बड़ी ही सक्रियता से व्यावसायिक चुनाव में रुचि लेने लगता है, क्योंकि जहाँ अपने निजी चिंतन में वह अनेकानेक सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण कर लेता है, वहीं वह समाज की अपेक्षाओं के प्रति जागरूक हो जाता है।

व्यावसायिक चुनाव और समायोजन के कुछ सामान्य पक्ष

हमारे समाज में व्यावसायिक आशयों वाले चुनावों की आवश्यकता निश्चित समय में होती है। इस प्रकार के चुनाव का आरम्भ सामान्यतया किशोरावस्था में होता है। इस काल में चुनाव कर पाने में असमर्थता अपने आप में एक व्यतिक्रांत (defaultive) निर्णय है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, प्रत्येक निर्णय भिन्न कार्य दिशा ग्रहण करने की संभावनाएँ घटा देता है। यह ठीक है कि कोई भी निर्णय बदला जा सकता है —यथा-कोई छात्र एक पाठ्य विषय को छोड़कर दूसरा अपनाता है या एक प्रौढ व्यक्ति एक नौकरी छोड़कर दूसरी पा लेता है लेकिन इसमें कुछ असुविधा सन्निहित है ही और बहुधा कुछ हानि भी होती है। जितनी ही दूर तक किसी एक योजना पर चला जाए सामान्यतः उतना ही

परिवर्तन दुष्कर होता जाता है। कोई अपनी तरुणाई में इसका अनुभव करे या नही पर यह सत्य है कि समय एक कीमती दौलत है और किसी भी शैक्षिक या व्यावसायिक योजना में परिवर्तन करने में समय की जो बर्बादी हुई, वह दुखप्रद हो सकती है। फिर भी किसी अनुपयुक्त योजना से चिपटे रहने की अपेक्षा, शायद ये कम कष्ट कर है।

किशोरावस्था अन्य क्षेत्रों की भाँति व्यावसायिक क्षेत्र में भी परिपूर्ण गवेषणा का काल (time of exploration) है। अलग-अलग प्रभविष्णु विशेषताएँ (predominant characteristics) रखने वाले व्यावसायिक चुनाव की प्रक्रिया के तीन स्तरों की चर्चा की गई है (जिंज बर्ग तथा अन्य, 1951, जिजबर्ग, (Gingberg), 1952 के) ये है—(1) स्वैर काल्पनिक (fantasy) चयन का काल (ग्यारह वर्ष की आयु तक), (2) प्रयोगात्मक चुनाव (tentative choices) का काल (ग्यारह से सत्रह वर्ष की आयु तक), और (3) यथार्थवादी (realistic choices) का काल (सत्रह वर्ष से प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था तक)। इस हिसाब से अधिकांश किशोर प्रयोगात्मक व्यवसायी चुनाव की अवस्था में होते है जबकि उनमें कुछ उत्तर-किशोरावस्था मे यथार्थवादी चुनाव की अवस्था में पहुँच जाते है।

बालक बालिकाओं में अंतर (sex-differences)—व्यावसायिक चुनावों की प्रक्रिया में लड़को और लड़कियो मे अतर हुआ करता है। लड़कियों के लिए समाज द्वारा अत्यन्त प्रबलता से समर्थित व्यावसायिक चुनाव पत्नी और माँ की भूमिका है। परम्परा प्राप्त ऐसा कोई व्यवसाय लडकों के लिए नही है, पर परिवार के प्रमुख आर्थिक आधार के रूप मे उसकी भूमिका अधिक सामान्य होती है, जिसकी अनेक व्यवसायों से पूर्ति की जा सकती है।

विगत की तुलना मे अब स्त्रियों के लिए अधिक व्यावसायिक अवसर उपलब्ध हैं। जो हो, आज इसकी प्रत्याशा बढ़ती जा रही है कि पढाई समाप्त हो जाने के बाद विवाह होने तक स्त्रियाँ कार्य करें। वैसे तो इस प्रकार का कोई भी काम अस्थायी प्रबंध ही समझा जाता है, पर युवती यह निश्चयपूर्वक नही जानती की वह वस्तुतः कितना अस्थाई रहेगा। वह शादी ही नही कर सकती है या शादी के बाद भी कार्य करती रह सकती है। अगर शादी के बाद वह सवैतनिक कार्य छोड देती है, तो उसे पुनः वैसा कार्य करने की इच्छा या बाध्यता हो सकती है। फिर भी आजीविका के रूप में घर के बाहर काम करने की आशा सामान्यतः उससे नही की जा सकती है। इसलिए युवकों की भाँति उनके लिए व्यावसायिक तैयारी या चुनाव का बहुत महत्त्व नही होता।

कई दृष्टियों मे एक किशोरी के लिए, किशोर की अपेक्षा अपनी परम्परागत भूमिका को सीख लेना सरल है। गृहिणी का उत्तरदायित्व लेने जाती हुई किशोरी के लिए उसकी माँ एक आदर्श प्रस्तुत कर सकती है। एक लड़की के लिए यह संभव होता है कि अपने बचपन से ही वह प्रौढ़ नारी की भूमिका के बहुत सारे प्रमुख कार्य में हाथ बटाने लगे। लड़को की भूमिका का प्रदर्शन इस स्पष्ट रूप में नहीं हो पाता। शहरी मध्य-वित्त-परिवारो मे पिता आमतौर से घर पर काम नही करता, इसलिए उसका पुत्र न तो उसके कार्य को देख सकता है और न उसके कार्य मे सहयोग ही दे सकता है। कभी-कभी तो उसके लिए यह अच्छी तरह जान पाना भी कठिन हो जाता है कि उसके पिता करते क्या हैं ?

व्यावसायिक चयन को प्रभावित करने वाले घटक

किशोर के व्यवसाय चुनाव पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। जब किशोरों से पूछा जाता है कि उन पर कौनसा प्रभाव पड़ा है, तो वे विवध प्रभावों की चर्चा करते हैं। बहुधा उल्लिखित प्रभावों और सबसे महत्त्वपूर्ण बनाए गए प्रभावों के सम्बन्ध में किए गए अध्ययनों में पारस्परिक साम्य नहीं है। व्यक्तियों में माता-पिता, अन्य संबंधियों तथा मित्रों और परिस्थितियों में कार्यानुभव और स्कूल विषयों को प्रभावशाली बताया जाता है। रुचियों, योग्यताओं या अभि-क्षमताओं जैसी व्यक्तिगत विशेषताओं के अलावा काम की विशेषताओं जैसे "आय क्या है ?, आगे बढ़ने के अवसर क्या है ?" आदि के विचार भी प्रभावकारी बताए गए है। कोई एक ही प्रभाव सदा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नहीं बताया गया है।

प्रभाव (Influences)—बहुधा उन समस्त कारणों से किशोर अवगत नहीं होते हैं। जो उनके चुनावों को प्रभावित करते है इसलिए प्रश्नावली सर्वेक्षणों के प्रभाव किशोरों द्वारा बनाए गए प्रभावों को तो निर्दिष्ट कर देते है, पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वस्तुत वे ही निर्णायक प्रभाव होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी युवजन उन तत्वों का अपर्याप्त विचार करते है, जो व्यावसायिक समायोजन के लिए महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। मनोवैज्ञानिक विशिष्टताएँ तथा बुद्धि, विशेष योग्यताएँ तथा रुचियाँ ऐसे तत्वों के उदाहरण है। प्रायः किशोरों में निजी मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं के समुचित बोध का अभाव पाया जाता है और वे बहुधा इन विशिष्टताओं के व्यावसायिक निहितार्थों को नहीं समझ पाते। साथ ही पर्यावरण की स्थितियों, यथा सामाजिक अवस्था, वित्तीय स्थिति तथा प्रशिक्षण और नियुक्ति के अवसरों का भी व्यावसायिक चुनावों और समायोजन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। तो भी ये देखा जाता है कि किशोर इन तत्वों पर अपर्याप्त ध्यान देते हैं। कभी-कभी तो इनके सम्बन्ध में उन्हें बहुत कम जानकारी रहती है। परिणामत: यह आश्चर्यजनक नहीं है कि कुछ किशोर अपने व्यावसायिक चिंतन मे अनिश्चयी या अव्यावहारिक होते है।

अनिर्णय (Indecision)

किसी विशिष्ट व्यवसाय के चुनाव में अनिश्चय का होना किशोर के लिए सदा हानिकारक नहीं होता, और वह किसी अपरिपक्व व्यावसायिक लक्ष्य निर्धारण से श्रेयस्कर भी हो सकता हैं। एक ऐसी व्यापक सामान्य योजना, बनाने से जिसे हाई स्कूल या कालेज के स्थल पर अधिक विशिष्ट बनाया जा सके, अपरिवर्तनीयता (inflexibility) से बचा जा सकता है। इसके विपरीत हाई स्कूल के प्रथम वर्ष की भाँति मुख्य चुनाव बिन्दुओं पर समुचित निर्णय लेने की अयोग्यता व्यावसायि कर्तैयारी में बाधा उपस्थित कर सकती है और परिणामत. संभावित व्यावसायिक समायोजन को भी बाधित कर सकती है।

चुनाव की व्यावहारिक रीति-नीति (Realism of choice)

प्रश्नावली सर्वेक्षणों में तरुणों द्वारा चयनित किए गए व्यावसायिक चुनाव कभी-कभी नितान्त अव्यावहारिक होते है। विशेष प्रकार के व्यवसाय या प्रबन्ध सम्बन्धी सफेद पोशपेशों (white collar occupation) की आकांक्षा करने वालों और तत्सम्बन्धी उपलब्ध अवसरों के बीच जो अन्तर है, वह इस अव्यवहारिकता को सूचित करता है। जब किशोर

एक ऐसे व्यवसाय के प्रति अभिरुचि व्यक्त करते है जो उनकी बुद्धि सीमा से कही अधिक की उपेक्षा करता है, तो उस स्थिति में भी चयन अव्यावहारिक होते है। ये अव्यावहारिक चुनाव परस्पर सम्बद्ध है क्योंकि दोनों ही में उच्चतर समाजार्थिक स्तर के पेशों की महत्त्वाकांक्षा सन्निहित है।

यह देखा जाता है कि बुद्धिमान बच्चे अधिकतर सही चुनाव करने की प्रवृत्ति दिखलाते है पर इसमे यह भी लक्षित हो सकता है कि उच्च स्तरीय कार्य की ओर उन्मुख होना कम योग्य बच्चों की अपेक्षा उनकी क्षमता के अधिक अनुरूप पड़ता है। यह भी पाया गया है कि अधिक बुद्धिमान बच्चों द्वारा व्यक्त की गई अभिरुचियाँ उनके मापित अभिरुचियों के बहुत समीप होती है, जबकि कम बुद्धिमान बालकों के साथ ऐसा नही होता। इसलिये ऐसा मानना समुचित प्रतीत होता है कि उन्हें अपेक्षाकृत अल्प-आयु मे ही अपनी व्यवसायिक सम्भावनाओं की सुसंगत जानकारी हो जाती है (या फिर यह कि अपने सम्बन्ध मे असम्बद्ध बातों को सोच लेना कही आसान होता है)।

अनेक ऐसे तरुण हैं, जो अपनी व्यावसायिक अभिरुचि व्यक्त करते समय "सफेद-पोश मनोवृत्ति" (white collar complex) से पीड़ित रहते है।

प्रतिष्ठा और साफल्य पर बल

सफेद पोशियों को प्राथमिकता देने का बहुत कुछ कारण यह भी है कि हमारी संस्कृति में इन कार्यों को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है जब अलग-अलग व्यक्तियों से कहा गया कि वे सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से पेशों को वर्गीकृत करें (काउण्ट्स 1925, डीग और पेटरसन (Counts, Deeg and Paterson) 1947 तब सामान्यतः व्यावसायिक और उच्च स्तरीय व्यापार कार्यों को प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वोत्तम, कुशल श्रमिक कार्यों को मध्यम और अर्ध कुशल एवं अकुशल कार्यों को निम्नतम स्थान दिया गया। कार्यों की सूची दिए जाने पर जहाँ तक उनकी प्रतिष्ठा के क्रम निर्धारण का प्रश्न है, हाई स्कूल छात्र प्रौढ़ों से सहमत होने की प्रवृत्ति दिखलाते है।

सफलता को बहुत तरह से परिभाषित किया जाता है, साधारणतः इसमें व्यक्तिगत उन्नति और आर्थिक पुरस्कार सन्निविष्ट हो जाते है तथा साफल्य आत्म संतोष या व्यक्तिगत आनन्द आदि के सन्दर्भ में न होकर अधिकांशतः समाजार्थिक सन्दर्भ में ही परिभाषित होता है।

विशेषतः समाजार्थिक उपलब्धि के सन्दर्भ मे सफलता को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि अपने लिए निर्धारित व्यावसायिक लक्ष्य तक पहुँचे बिना सुखी हो पाना बहुतेरों के लिए प्रायः कठिन हो जाता है। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है कि उनके लक्ष्य समुपयुक्त हों। जब बहुत से लोग ऐसे लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील है, जहाँ कुछ ही पहुँच सकते है, तब इस उपलब्धि–प्रतियोगिता में चिन्ता, निराशा या अवसाद की सम्भावना अतीव प्रबल है। लेविन (Levin), 1949 ने "हैसियत प्राप्ति की चिन्ता" (status anxiety) पर विचार किया है, जो उपलब्धि के मार्ग मे प्रेरणा–स्वरूप तो हो सकती है, पर अन्तर्द्वन्द्व का कारण भी बन सकती है। उन्होंने बताया है कि सामाजिक वर्ग-व्यवस्था की ऊपरी और निचली दोनों सतहों पर इस चिन्ता का अभाव हो सकता है।

व्यावसायिक गतिशीलता के लिए अवसर प्रदान करते हुए भी, चूंकि अमेरिकी समाज व्यावसायिक आधार पर स्तरबद्ध है, इसलिए किशोर बहुधा अपने परिवारों के समाजार्थिक स्तर से कहीं ऊँची अपनी व्यावसायिक आकांक्षा रखते हैं, यदि वे देखते हैं कि उनका पारिवारिक स्तर पर्याप्त ऊँचा नहीं है। यह ठीक है कि किशोरों को यह अधिकार है कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक माता-पिता के आर्थिक स्तर से कहीं ऊँची अपनी व्यावसायिक स्तर की आकांक्षा रखें। पर ऐसी आकांक्षाएँ सदा पूर्ण नहीं हो सकतीं। परिणामतः ऐसे युवाओं को घोर असन्तोष तथा असफलता की अनुभूति करनी ही पड़ती है, जो अपनी पहुँच से परे लक्ष्यों के लिए जान लगाते हैं। व्यावसायिक प्रतिष्ठा पर आवश्यकता से अधिक बल देने का परिणाम उच्च समाजार्थिक स्तरीय परिवारों के किशोरों तथा साथ ही साथ अन्य किशोरों के लिए क्लेशकारी हो सकता है क्योंकि वे अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के अनुरूप किन्हीं व्यवसायों में प्रविष्ट हो सकते हैं, जो व्यक्तिगत रूप में उन्हें उतने सन्तोष नहीं दे सकते, जितने कुछ अन्य व्यवसाय दे सकते थे।

इस विवेचना का यह तात्पर्य नहीं कि तरुणों को महत्त्वाकांक्षी नहीं होना चाहिए। फिर भी यह सत्य है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न महत्त्वाकांक्षा के स्तर उपयुक्त होते हैं। जो किशोर अपने लिए संतुलित, पर व्यावहारिक लक्ष्य निर्धारित करता है, उसे अपनी योजना के लिए शर्मिंदा नहीं किया जाना चाहिए। यदि किन्हीं विशिष्ट व्यवसायों की प्रतिष्ठा पर कम जोर दिया जाए और सभी प्रकार के सत्यनिष्ठ कर्मों की मान-मर्यादा को सच्ची स्वीकृति दी जाए, तो बहुतों को अपने लिए उचित व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता मिल जाएगी, जिसके फलस्वरूप उन्हें अधिक व्यक्तिगत सन्तोष मिल सकेगा।

व्यावसायिक चुनाव में व्यक्ति की निजी मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ प्रमुख निर्णायक होती हैं।

बुद्धि और विशेष योग्यताएँ

कई रूपों में व्यावसायिक विकास में बुद्धि का प्रभाव देखा जा सकता है। चूंकि यह शैक्षिक साफल्य और अवाप्ति (attainment) से सम्बद्ध है, इसलिये कोई व्यक्ति कितनी शिक्षा पूरी कर सकता है, इसके निर्धारण में यह एक प्रमुख कारण है। शिक्षा की मात्रा के ऊपर अनेक व्यवसायों में और विशेषत. पेशों में प्रवेश निर्भर करता है। सामान्य ढंग से यह बुद्धि के उस स्तर से भी सम्बन्धित है जिस स्तर तक पहुँच कर किसी व्यक्ति के लिए प्रतियोगिता में सफल होने की सर्वाधिक सम्भावना हो सकती है। यह भी प्रमाणित हो चुका है कि विभिन्न व्यावसायिक समूहों के सदस्यों की औसत बुद्धि कुछ इस तरह परस्पर भिन्न होती है कि इन औसतों को सोपानित क्रम (hierarchial order) में सजाया जा सकता है। तथापि यह भी देखा गया है कि स्वयं उन औसतों में भी बहुत अन्तर पाया जाता है, जिससे विभिन्न व्यावसायिक समूहों के बीच के प्राप्तांकों (scores) में भारी अति-व्याप्ति (overlapping) है। (फायर, 1922, स्टुअर्ट, 1947) (Fryer, Stewart.)

कुछ व्यवसायों में एक स्तर की सामान्य बुद्धि के अतिरिक्त विशेष प्रकार की योग्यता की भी आवश्यकता होती है। संगीत या कला में इस विशेष प्रतिभा का महत्त्व

सुस्पष्ट है। विभिन्न किस्मों की विशिष्ट योग्यताएँ (specialized abilities) और अभिक्षमताएँ (aptitudes) अन्य क्षेत्रों के व्यावसायिक समायोजन में सहायता प्रदान करती है, जैसे प्रत्यक्षण की गति और विशुद्धता (speed and accuracy of perception) लिपिक विषयक कार्यों में सहायक होती है। यान्त्रिक सम्बन्धों को समझने की योग्यता कुशल यान्त्रिक कार्यों के लिए महत्वपूर्ण है। हाथ से सूक्ष्म कार्यों को कर पाने की दक्षता कुछ व्यवसायों में लाभकारी होती है। अनेक अन्य कार्यों में आँख-हाथ का सुमसन्वय (eye-hand co-ordination) तथा सन्तोषप्रद हाथ-बाहु निपुणता महत्वपूर्ण होती है। ऐसे कार्य, जिनमें अतिशय उच्च मात्रा में कुशलता की आवश्यकता नही होती है, बाद की अपेक्षा प्रारम्भ के वर्षों में उन्हें सीखते समय विशिष्ट अभिक्षमता का अधिक महत्त्व होता है। जो व्यक्ति किसी कार्य को शीघ्रता से करना सीख सकते हैं, उनके हतोत्साहित होने और उसे छोड़कर भाग खड़े होने की संभावना कम होती है और उन्हें प्रशिक्षण काल में अनिपुणता के लिए सेवा मुक्त होने का खतरा भी कम रहता है।

व्यावसायिक रुचियाँ

खोज परिणामों से पता चलता है कि रुचि के प्रतिमानों (patterns) का आधार लेकर व्यावसायिक समूहों को एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। रुचियों को मापित करके भावी कार्यदक्षता का पूर्वानुमान भी किया जा सकता है।

'व्यक्त रुचि' (expressed interest) से रुचि के शाब्दिक आत्म-घोषित रूप का निर्देश होता है, किसी कार्य में वस्तुतः भाग लेकर रुचि दिखलाई जाती है, उसे "प्रकट रुचि" (manifest interest) कहा गया है, "मापित रुचि" (measured interest) का तात्पर्य मानकीकृत तालिकाओं (standarized inventories) द्वारा रुचियों के मूल्यांकन से है।

न तो व्यक्त रुचियाँ और न मापित रुचियाँ उस रुचि से ठीक-ठीक सह सम्बद्ध होती है, जो किसी पेशे में प्रवेश द्वारा प्रकट होती है। यह बोधगम्य भी है, अंशत. तो इसलिए कि रुचियाँ पूर्णतया चुनाव का निर्धारण नही करती हैं और अंशत. इसलिए कि व्यक्त, प्रकट और मापित रुचियाँ कभी-कभी किसी व्यक्ति की अन्त.स्थित अभिप्रेरणाओं (underlying motives) का ऊपरी संकेत मात्र देती है। किसी विशिष्ट कार्य में व्यक्ति जो रुचि दिखलाता है, वह उसकी वास्तविक रुचि न होकर किसी अनभिव्यक्त आवश्यकता यथा अनुमोदन, मोहकता, अधिकार, सुरक्षा या वर्तमान परिस्थितियों से पलायन की तथा इसी प्रकार की अन्य बातों की आवश्यकता की आनुषंगिक सहचरी हो सकती है।

विशुद्ध व्यावसायिक रुचियों का विकास किस निश्चित आयु में प्रारम्भ होता है, यह ज्ञात नही है। विभिन्न व्यक्तियों में ये विभिन्न आयु-कालों में प्रकट होती हैं। पसन्दगी और नापसन्दगी का उदय अवश्य ही बहुत प्रारम्भिक अवस्था में हो जाता है। बच्चे रुचियों को व्यक्त और चुनावों का संकेत दे सकते है पर वे ऐसा तब करते है, जब उनसे ऐसे प्रश्न पूछे जाते है कि बड़े होने पर वे क्या करना पसन्द करेंगे। फिर भी अनेक बच्चों के लिए ऐसी व्यक्त रुचियाँ आसानी से बदलती रहती है। अपने खेलों में बच्चे व्यावसायिक भूमिकाएँ लिया करते हैं, यद्यपि अभिनय की ये भूमिकाएँ द्रष्टा को अयथार्थ प्रतीत हो सकती

है। छोटे बालक घुड़सवार, पुलिस के सिपाही या अग्निशामक व्यक्ति आदि का अभिनय करते हैं। छोटी बालिकाएँ जननी या शिक्षिका का अभिनय करती हैं। बालक बालिकाएँ मिलकर डॉक्टर और नर्स की भूमिकाएँ अदा करते हैं। लेकिन वास्तविक चुनाव का काल बाद में आता है।

व्यक्ति कारकों से सम्बद्ध व्यावसायिक विकास

व्यक्तित्व के बहुतेरे कारक ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा है कि ये व्यावसायिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं, यद्यपि इस योग को न तो स्पष्टतया परिभाषित किया गया है और न इसकी गवेषणा की गई है। मापित व्यावसायिक रुचियाँ और व्यक्तित्व विशेषताएँ, अभिवृत्तियाँ और मूल्य कतिपय व्यावसायिक समूहों के साथ सम्बद्ध दीख पड़ते हैं तथा कुछ व्यवसायों की तैयारी में लगे छात्रों में परिलक्षित होते हैं। जो हो इस दिशा में किए गए शोध-अध्ययनों से व्यक्तित्व विशेषताओं और व्यावसायिक समूह की सदस्यता के बीच विस्तृत पैमाने पर स्पष्ट पारस्परिक सम्बन्ध का होना प्रमाणित नहीं हो सका है, जिससे कि इस क्षेत्र में व्यापक सामान्य सिद्धान्त निरूपित किए जा सकें।

सामाजिक-आर्थिक स्थिति और पारिवारिक पृष्ठभूमि

बहुत सा महत्त्वपूर्ण अधिगम प्रारम्भिक बाल्यावस्था में ही हो जाता है, माता-पिता की सामाजिक-आर्थिक स्थिति बच्चों के सांस्कृतिक उद्दीपन के प्रकारों को निरूपित करती है तथा कुछ हद तक यह भी निर्धारित करती है कि किस प्रकार के लोग उसके सम्पर्क में आएँगे। जब वह स्कूल में दाखिल होता है, तब वह अधिक विस्तृत और विविध रूपात्मक पर्यावरण के प्रभाव में आता है लेकिन पहले से सीखी हुई प्रतिक्रिया-प्रवृत्तियों (reaction tendencies) से सज्जित होकर आता है। हाँ नए अनुभवों से वे संशोधित अवश्य होती है।

परिवार की समाजार्थिक स्थिति समुदाय में बालक की सामाजिक स्थिति को प्रभावित करती है और उसके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों को भी प्रभावित कर सकती है (हॉलिंग्स हेड, Hollingshead 1949)। परिवार की आर्थिक सम्पदा या सीमा निर्धारित करती है कि कोई व्यक्ति स्कूल में कहाँ तक आगे बढ़ सकता है (बैल, Bell 1938) गरीब घरों के अनेक बच्चे बहुधा आर्थिक बाध्यता और कभी-कभी अन्य कारणों से, यथा दूसरों द्वारा प्रोत्साहन का अभाव या रुचि की कमी के कारण, हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाते हैं। पिता का व्यवसाय बहुधा पुत्र को अपना व्यवसाय चुनने में सीधा प्रभावित करता है।

अवसर

स्पष्ट है कि शैक्षिक व व्यावसायिक योजनाएँ इच्छित प्रशिक्षण या नियोजन के लिए सुलभ अवसरों द्वारा प्रभावित होती हैं लेकिन एक किशोर को उन सुलभ अवसरों का लाभ उठाने के लिए योग्यता प्राप्त करनी होती है। उदाहरण के लिए, यदि वह पेशेवर संगीतज्ञ का प्रशिक्षण पूरा करना चाहता है तो उसे संगीत की प्रतिभा चाहिए। फिर भी अवसर का होना जरूरी है। एक प्रशिक्षित संगीतज्ञ यदि इस व्यवसाय में अपने लिए कोई काम नहीं पाता है, तो उसे कोई दूसरा कार्य ढूंढना पड़ता है, कम से कम तब तक के लिए

जब तक उपयुक्त अवसर का द्वार उन्मुक्त नहीं होता। देश की सामान्य आर्थिक स्थिति का प्रभाव भी नियोजन के अवसर पर पड़ता है। आर्थिक मंदी के समय व्यापारिक जीवन प्रारम्भ करने वाले व्यक्तियों को उनकी तुलना में प्रायः व्यावसायिक मन्दता का सामना करना पड़ता है, जो पूर्ण नियोजन काल में श्रमिक क्षेत्र मे प्रविष्ट होते हैं। अनेक प्रकार के नियम और विनिमय भी प्रशिक्षण को नियन्त्रित कर देते हैं तथा नियोजनों को नियमित करते हैं, (जैसे कॉलेज-प्रवेश के लिए अनिवार्य योग्यता, लाईसेंस का नियम आदि) हालांकि ऐसे नियन्त्रणों का उद्देश्य सामान्यतः मानकों को बनाए रखना और नियोजित व्यक्तियों की सुरक्षा को निरापद करना होता है। पर अवसरों पर ऐसे भी नियन्त्रण होते हैं, जो समाज का अहित कर देते हैं जैसे—धार्मिक या जातिगत के पूर्वाग्रहों के प्रभाव।

प्रयत्न और भूल का काल (The Floundering Period)

अनेकानेक अध्ययनों मे यह पाया गया है (डेविडसन और एंडर्सन, 1937, हॉलिंगसहेड 1949) मिलर और फॉर्म, 1951 (Devidson; Anderson, Hollingshead Millers Form) कि अपने कार्यकालीन जीवन के प्रारम्भिक स्तर पर युवजन बहुधा लड़खड़ाने वाले काल मे होकर गुजरते हैं, जिसका प्रमुख कारण अल्पकालिक नौकरियां और बेरोजगारी होती है। हालांकि ऐसा निसंदेह स्थानीय आर्थिक स्थितियों के कारण होता है तथापि एक कार्य से दूसरे में आना-जाना यह भी सूचित करता है कि तरुण श्रमिक अपने लिए समुचित कार्य पाने का प्रयास कर रहा है। वे ठीक-ठीक नहीं जानते कि उन्हें क्या करना है या फिर उनमें अवास्तविक प्रत्याशाएँ होती हैं, खासकर उनसे व्यावसायिक समंजन की प्रक्रिया में प्रयत्न और भूल की अपेक्षा तो की ही जा सकती है। जिन व्यवसायों में विस्तृत प्रशिक्षण अपेक्षित होता है, जैसे दक्षता-पेक्षी शिल्पों या पेशों में, उनके सदस्यों को व्यवसाय में जमने में उतना नहीं लड़खड़ाना पड़ता है जितना दूसरों को। एक हद तक पूर्व परीक्षण का अनुभव उन्हें अपने विशिष्ट प्रशिक्षण के क्रम मे हो गया होता है। साथ ही उस व्यवसाय-विशेष से चिपके रहने की उन्हें अधिक व्यक्तिगत चिन्ता होती है क्योंकि इस तैयारी में उन्होंने अपना बहुत समय लगाया है।

शारीरिक श्रम के व्यवसायों में लगे हुए प्रौढ़ों के एक अध्ययन मे (रेनाल्ड्स तथा शिष्टर, 1949) (Reynolds and Shister) यह पाया गया कि अधिकांश श्रमिकों ने पहले प्राप्त नौकरी करली और वे अन्यान्य संभावनाओं से इसकी तुलना करते नहीं फिरे। उनमे से आधे कर्मचारियों ने बतलाया कि स्कूल के दिनों में उन्होंने कोई योजना नहीं बनाई थी और अधिकांश बच्चों के लिए उनके माँ-बाप की योजनाएँ भी अस्पष्ट थी। उस समूह के चौथाई मे भी कम लोगों ने बतलाया कि स्कूल जीवन में बनाई गई योजना से उनकी पहली नौकरी का मेल बैठ गया। अधिकांश पहली नौकरियाँ बन्द गलियाँ थी। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि ऐसी ही स्थितियों मे व्यक्ति गिरते-पड़ते हुए चलता है।

सही व्यावसायिक योजना बनाने में और उपयुक्त नियोजन का उपाय सीखने मे सहायता दी जाए तो तरुण व्यक्तियों को लड़खड़ा कर चलने की उतनी नौबत नहीं आएगी। चूँकि बिना प्रयत्न के कोई कुछ जान नहीं पाता है, इसलिए इस बेढंगेपन को बिल्कुल दूर कर देना संभव नहीं है। समुचित कारणों से सोद्देश्य व्यवसाय परिवर्तन अवश्य ही वाछनीय है और बहुत दिनों तक एक अनुपयुक्त व्यवसाय में पड़े रहना अच्छे व्यावसायिक समायोजन का परिचायक नहीं है।

व्यावसायिक गतिशीलता

व्यावसायिक गतिशीलता का अर्थ है विविध पेशों में आना-जाना। यह समस्तरीय (Horizontal) हो सकता है—जब कोई व्यक्ति एक ही सामान्य व्यावसायिक स्तर पर एक पेशे से दूसरे पेशे में जाता है। यह अनुलंब (Vertical) है, जब किसी उच्चतर या निम्नतर स्तर की ओर गति होती है। गतिशीलता का अध्ययन, किसी व्यक्ति के वर्तमान पेशे की तुलना उसके पिछले पेशों से करके, किया जा सकता है या पिता और पुत्र के पेशों की तुलना से किया जा सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यावसायिक गतिशीलता की मात्रा बहुत अधिक है। बहुसंख्यक कर्मचारियों को अपने कार्य जीवन में विविध व्यावसायिक अनुभव प्राप्त होते हैं। समस्तरीय और अनुलंब दोनों प्रकार की गतिशीलता दीखती है और अनुलंब गतिशीलता के अन्तर्गत नीचे जाने की अपेक्षा ऊपर जाने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। जो हो, यह गति आसन्न व्यावसायिक स्तर (adjacent occupational levels) की ओर अधिक प्रवृत्त होती है, न कि दूरस्थ स्तरों की ओर। अन्यत्र कार्य-जीवन आरंभ करने वाले शारीरिक श्रमिक की अनुलंब-गतिशीलता उसे अंततोगत्वा कुशल शिल्पी बना देती है और यदि वह कुशल शिल्प-कार्य छोड़कर आगे बढ़े तो प्रवृत्ति आत्म-नियोजित हो जाने की होती है। सफेदपोश (white-collar) और नीलपोश (blue collar) व्यवसायों के बीच कुछ गमनागमन लगे रहते हैं लेकिन सामान्यतः अधिकांश कार्य-जीवनक्रम (work-career) एक या दूसरे प्रकार के पेशे में ही व्यतीत हो जाता है। व्यावसायिक गतिशीलता की प्रमुख सहायिका शिक्षा ही प्रतीत होती है।

किसी एक ही समुदाय में दो विभिन्न समयों में पिता से लेकर पुत्र के समय तक जो गतिशीलता की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं, उनकी तुलना करते हुए रोगौफ (*Rogoff*) 1953 ने एक रोचक अध्ययन में देखा कि गतिशीलता के औसत अनुपात में कोई अन्तर नहीं था। अपने अध्ययन द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँची कि तीस वर्षों से अधिक कालावधि में गतिशीलता की दर न बहुत बढ़ी और न बहुत घटी है। सन् 1910 से 1940 ई. में निम्नाभिमुख गतिशीलता घटी जबकि ऊर्ध्वाभिमुखी गतिशीलता समरूप रही।

चूँकि हमारे भारतीय समाज का व्यावसायिक ढाँचा भी तकनीकी उन्नति, ग्राम से नगर की ओर जाने की प्रवृत्ति और जनसंख्या में अन्य परिवर्तनों के कारण बदल रहा है, इसलिए कोई भी अनुमान नहीं कर सकता कि व्यावसायिक गतिशीलता की दीर्घकालीन प्रवृत्ति क्या होगी। प्राप्त आँकड़ों के आधार पर कम-से-कम यह प्रतीत होता है कि गतिशीलता में कोई ह्रास नहीं हुआ है।

निर्देशन की आवश्यकता

पिछली विवेचना से यह नितांत स्पष्ट है कि अपर्याप्त आत्म-बोध और कार्य-संसार की अपर्याप्त जानकारी अधिकांश किशोरों की समस्या है। जानकारी की ये समस्याएँ व्यावसायिक चुनाव के दायरे को सीमित कर देती हैं और पेशे में सुसमंजन के लिए बाधक बनती हैं। इनमें से कुछ-समस्याओं की जड़ें तो सांस्कृतिक अभिवृत्तियों में गहरी गड़ी हैं, जो सामान्यत. बहुत धीरे-धीरे बदलती हैं। कुछ कठिनाइयाँ आर्थिक स्थितियों के कारण है, जो व्यक्ति के नियन्त्रण के परे है। फिर भी आत्म-बोध बढ़ाने के लिए बहुत-कुछ किया जा सकता है और व्यवसाय सम्बन्धी अधिक सही और व्यापक जानकारी दी जा सकती है।

अनेक स्कूलों ने जूनियर हाई-स्कूल और हाईस्कूल-स्तरों पर निर्देशन-कार्यक्रमों को चलाया है, जिससे शैक्षिक और व्यावसायिक योजना-जनित समस्याओं में किशोरों की सहायता की जा सके। व्यवसाय सम्बन्धी अवसरों और अपेक्षाओं के सम्बन्ध में सूचनाएँ देने के लिए इस विशिष्ट उद्देश्य से पाठ्यक्रम-निर्धारण किया जा सकता है या उसे अन्य पाठ्यक्रमों का अंग बनाया जा सकता है। कुछ स्कूलों के पास पुस्तकालय में व्यवसाय सम्बन्धी सूचनाओं की सामग्री होती है। कुछ थोड़े से स्कूलों में छात्रों के लिए पूर्व-परीक्षणात्मक कार्यानुभवों की व्यवस्था की जाती है। योग्यता, उपलब्धि और रुचि-संबंधी मानकीकृत मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा छात्रों की सहायता की जा सकती है, जिससे कि वे अन्यों की तुलना में अपने को देख सकें। परामर्शदाता के साथ समूह-परिचर्या या व्यक्ति साक्षात्कारों का उपयोग इसलिए किया जाता है कि योग्यताओं और रुचियों की विभिन्नता के शैक्षिक और व्यावसायिक तात्पर्यों को छात्र समझ सकें और अपनी योजना में तदनुरूप सुस्पष्टता ला सकें।

बहुत सारे स्कूलों में ऐसी सेवाओं की व्यवस्था नहीं की जाती और जहाँ यह सुविधा है भी तो वह सर्वत्र पर्याप्त नहीं है। निर्देशन-कार्यक्रमों में कर्मचारियों की कमी के कारण स्वभावतः अतिशय कार्यभार बढ़ जाता है, जिससे व्यक्तिगत निर्देशन और समूह मार्ग निर्देशन की मात्रा सीमित हो जाती है। यह एक बहुत गंभीर समस्या है। आत्म-बोध का विकास यांत्रिक रीति से मात्र परीक्षण-परिणामों की व्याख्या करने से नहीं होता। जिन्हें अपने सम्बन्ध में अस्पष्ट या भ्रांत धारणाएँ होंगी, उन्हें साक्षात्कार के लिए अधिक समय की आवश्यकता होगी, पर उतना समय शायद उपलब्ध नहीं हो सकता। पर्याप्त निर्देशन कार्य के मार्ग में एक और बड़ी बाधा यह हो सकती है कि कुछ स्कूल-प्रणालियों में निर्देशकों को जिन्हें निर्देशन की जिम्मेदारी दी गई है, संभवतः स्वयं अपने क्षेत्र में वांछित व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं है। इस समस्या का समाधान निर्देशकों के लिए समुचित प्रशिक्षण को अनिवार्य बनाकर तथा प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की आपूर्ति करके किया जा रहा है। बहुत-सी स्कूल प्रणालियों में यह एक अच्छा प्रारम्भ है, फिर भी बहुत कुछ करना बाकी है।

ऐसे तरुणों के लिए, जो हाईस्कूल छोड़ चुके हैं और कॉलिज में नहीं गए हैं या जो न तो सेवा-निवृत्त सैनिक हैं और न शारीरिक दृष्टि से विकलांग, व्यावसायिक निर्देशन-सेवाएँ प्रायः नहीं के बराबर हैं। राजकीय नियोजन सेवा की स्थानीय शाखा के पास ऐसे लोगों को परामर्श देने की सुविधाएँ हो सकती हैं, जो इसकी आवश्यकता महसूस करते हैं। पर ऐसी सेवाओं का विस्तार विनियोग पर निर्भर होता है और इसीलिए विभिन्न स्थानों और भिन्न कालों में घटता-बढ़ता रहता है। जो स्कूल में नहीं है, ऐसे किशोरों के लिए उपलब्ध अपेक्षाकृत सीमित निर्देशन-साधनों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जिन्हें सहायता की जरूरत है या जो सहायता लेने के इच्छुक हैं, उन्हें स्कूल-काल में ही पहचान लिया जाए।

यह धारणा गलत है कि प्रत्येक तरुण को शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता होती है। उनमें से अधिकांश सही योजनाएँ बनाने और बिना किसी विशेष सहायता के उनको कार्यान्वित करने में समर्थ होते हैं और उनमें से कुछ, जिन्हें देखकर लगता है कि सहायता चाहते हैं इसके प्रति अतिशय उदासीन हो सकते हैं या इसे लेने से

बिल्कुल ही इनकार कर सकता है। निर्देशन कारगर नहीं हो सकेगा यदि यह व्यक्तियों पर लाद दिया जाए या उदासीनता से ग्रहण किया जाए। परामर्श लेने वालों का सक्रिय सहयोग इसमें अपेक्षित है। आदर्श रूप में इसमें ऐसे परामर्शदाता की अपेक्षा होती है, जिसे न केवल व्यवसाय-सम्बन्धी और व्यक्तियों की रुचि और अभिक्षमता-सम्बन्धी पूरी जानकारी हो, वरन् जिसे मानव की अभिप्रेरणाओं में गहरी पैठ हो तथा यह क्षमता भी कि किशोरों को अपने-आपको समझने में सहायता दे सके।

सारांश

शिक्षा में निर्देशन एक नया आयाम है। निर्देशन द्वारा व्यक्ति की समस्याएँ सुलझाने में सहायता मिलती है। निर्देशन एक प्रक्रिया है जो व्यक्ति को शिक्षा, आजीविका, मनोरंजन तथा मानव-क्रियाओं के समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यों को चुनने, तैयारी करने, प्रवेश करने तथा वृद्धि करने में सहायता प्रदान करती है।

निर्देशन देने से पूर्व व्यक्ति-इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। इसके साथ ही वैयक्तिक विभिन्नताओं का ध्यान भी रखना चाहिए। निर्देशन निवारक एवं उपचारक दोनों ही प्रकार का होता है। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि उसे किस प्रकार के निर्देशन की आवश्यकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में निर्देशन द्वारा अपव्यय की समस्या पर नियन्त्रण किया जा सकता है। निर्देशन द्वारा विद्यार्थी को अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुसार सही विषय चुनने में सहायता दी जाती है। व्यक्तिगत निर्देशन की प्रमुख विधियाँ हैं—साक्षात्कार तथा अभिलेख। साक्षात्कार के समय निर्देशक को बालक के साथ आत्मीयता स्थापित करनी चाहिए, अन्यथा साक्षात्कार के परिणाम फलदायक नहीं रहेंगे। विद्यालय को प्रत्येक विद्यार्थी का अभिलेख भी उचित ढंग से रखना चाहिए।

किशोर की समस्याओं को समझ कर उचित निर्देशन देने में रेन तथा ट्यूगॉन द्वारा स्थापित सिद्धान्त सहायक हो सकते हैं। इसके अनुसार व्यवहार जटिल या सरल कारण से उत्पन्न होता है। इन कारणों को समझने के लिए एक निश्चित सामग्री की आवश्यकता होती है। उसके बाद उपचार की निरन्तर प्रक्रिया आरंभ की जा सकती है, जिसमें परस्पर सहयोग नितान्त आवश्यक है।

निर्देशन की आवश्यकता न केवल शैक्षिक क्षेत्र में ही है, बल्कि व्यावसायिक में भी है। यदि व्यवसाय का चयन उचित नहीं होता और व्यक्ति व्यवसाय में परिवर्तन की सोचता है तो उसमें निश्चय ही समय का अपव्यय होता है। अतः व्यवसाय के चयन में उचित निर्देशन की आवश्यकता है।

किशोरावस्था परिपूर्ण गवेषणा का काल है। इसमें व्यावसायिक चुनाव की प्रक्रिया के तीन स्तर हैं—*1. स्वैर काल्पनिक, 2. प्रयोगात्मक, 3. यथार्थवादी।*

परम्परा के अनुसार किशोरियों के लिए पत्नी और माँ की भूमिका निश्चित है परन्तु आज वे भी अन्य व्यवसाय के क्षेत्र में उतर रही हैं। किशोर के लिए इस प्रकार का कोई परम्परागत व्यवसाय आधुनिक युग में सम्भव नहीं है। व्यावसायिक चयन को माता-पिता व अन्य परिचित, विद्यालय व पर्यावरण तथा व्यक्तिगत रुचियाँ व क्षमता प्रभावित करती है। यदि किशोर स्वयं कोई निर्णय नहीं ले सकता है तो इसमें उपहास या अयोग्यता

की बात नहीं है। यह गलत निर्णय लेने में बेहतर है। स्पष्ट असमर्थता प्रगट करने की स्थिति में वह परामर्शदाता के सहयोग से उचित निर्णय तो ले सकेगा। अधिकांश किशोर सफेद-पोश मनोवृत्ति से पीड़ित होते हैं। सबके लिए उच्च पद प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। फलतः अधिकांश किशोर हैसियत प्राप्ति की चिन्ता से व्यथित रहते हैं। अपनी पहुँच से परे लक्ष्यों के लिए जान गवाने में असंतोष एवं असफलता ही मिलती है।

पृथक्-पृथक् व्यवसाय के लिए पृथक्-पृथक् स्तर की बुद्धि एवं विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक रुचियाँ भी चयन को प्रभावित करती हैं। परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी चयन को प्रभावित करती है। इसी के अनुसार व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है। इन सबसे भी महत्त्वपूर्ण है महत्त्वाकांक्षा के अनुसार उपयुक्त अवसर सुलभ होना। व्यक्ति की रुचियाँ, क्षमताएँ, प्रतिभाएँ सब धरी रह जाती हैं, यदि उसे उपयुक्त अवसर ही नहीं मिले।

अतः सही व्यावसायिक योजना बनाने में उचित निर्देशन प्राप्त हो तो किशोर को लड़खड़ाकर चलने की नौबत नहीं आती है।

व्यक्ति के व्यवसाय में गतिशीलता होती है। यह समस्तरीय भी हो सकती है तथा अनुलंब भी। अमेरिका में व्यावसायिक गतिशीलता अधिक मात्रा में होती है। भारत में भी औद्योगीकरण के कारण गतिशीलता में वृद्धि होने लगी है।

□□□

अध्याय 18

किशोर अपराध
(Juvenile Delinquency)

किशोर अपराध का अर्थ

किशोर अपराध का अर्थ निम्न दो बातों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

1. आयु तथा
2. व्यवहार की प्रकृति।

आयु की दृष्टि से मुख्यतया 7 और 16 वर्ष के मध्य के अपराध करने वाले व्यक्ति को किशोर अपराधी माना जाता है। 7 वर्ष से कम वाले बच्चों को उनके किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता। यदि वे अपराध भी करते हैं तो भी उन्हें दण्डित नहीं किया जाता। यद्यपि निम्नतम आयु-सीमा विभिन्न देशों में एवं भारत के विभिन्न राज्यों में एक जैसी ही निश्चित है, तथापि अधिकतम आयु सीमा इस प्रकार निश्चित नहीं है। अमेरिका में यह 18 वर्ष है, इंगलैण्ड में 17 वर्ष है तो जापान में 20 वर्ष है। भारत में उत्तर प्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, पंजाब, मध्य प्रदेश आदि अधिकतर राज्यों में यह 17 वर्ष है परन्तु बंगाल, बिहार जैसे राज्यों में यह 18 वर्ष है। राजस्थान, असम, कर्नाटक आदि में यह आयु लड़कों के लिए 16 वर्ष है तथा लड़कियों के लिए 18 वर्ष है। विभिन्न राज्यों में आयु के अनुसार किशोर अपराधी वह किशोर है, जो अपराध करता है और राज्य की वैधानिक व्यवस्था के अनुसार अधिकतम निर्धारित आयु से नीचे है।

व्यवहार की दृष्टि से बर्ट[1] (Burt) तथा ग्लूक[2] (Glueck) के अनुसार किशोर अपराधी न केवल उसको माना जाता है, जो कानून की अवहेलना करता है बल्कि उसे भी, जिसका आचरण समाज अस्वीकार करता है, क्योंकि उसका यह दुर्व्यवहार उसे अपराध करने के लिए प्रेरित कर सकता है अथवा उसके अपराधी बनने के खतरे को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए, ऐसे बच्चों को भी किशोर अपराधी माना जाता है, जो घर से भागकर आवारागर्दी करते हैं, स्कूल से बिना किसी उचित कारण के अनुपस्थित रहते हैं, माता-पिता अथवा संरक्षकों की आज्ञा का पालन नहीं करते, चरित्रहीन व निन्दनीय व्यक्ति के सम्पर्क में पाए जाते हैं, गन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं, तथा अनैतिक व अस्वस्थ क्षेत्रों में घूमते पाए जाते हैं। वाल्टर जी. रेक्लेस, तपन, न्यूमेयर, आदि ने भी किशोर-अपराध के अर्थ में इसी प्रकार के व्यवहार को माना है। सन् 1960 में अपराध के नियन्त्रण

1. बर्ट, सिरिल, "द यंग डेलिनक्वेन्ट", द यूनिवर्सिटी आफ लन्दन, लन्दन 1955 चौथा संस्करण पृष्ठ 15.
2. शेल्डन और ग्लूक, "अनरेवेलिंग जुवेलाइन डेलिनक्वेन्सी हार्पर ब्रदर्स, न्यू यॉर्क, 1950 पृ० 3.

सम्बन्धी द्वितीय संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस के निर्णय द्वारा इस विचारधारा में परिवर्तन आया। इसके पश्चात् से किशोर अपराध एक वैज्ञानिक अभिव्यक्ति बन गया। उनके अनुसार किशोर अपराध में ऐसे व्यवहार को सन्निहित नहीं करना चाहिए, जो कि वयस्क व्यक्ति करे तो अपराध नहीं माना जाता।

किशोर अपराध-दर और प्रकृति

लगभग सभी किशोर युवक एवं बड़े अनुपात में किशोर युवतियाँ जीवन में कुछ न कुछ ऐसे अपराध करते ही हैं, जो कि कानून की परिभाषा में भी अपराध ही माने जाते हैं। यद्यपि उन अपराधों का कोई सरकारी रिकार्ड उपलब्ध नहीं है। अनेक अध्ययनों में यह स्पष्ट है कि अनेक किशोर अपराध छिपे रहते हैं। पुलिस और कानून की पकड़ में वे नहीं आते हैं। कैम्ब्रिज समरविल यूथ फेस्टिबल स्टडी (Cambridge-Summerville Youth Study) के अन्तर्गत 114 किशोरों का 5 वर्ष तक अध्ययन किया गया। इनमें से केवल 13 बालक ऐसे थे, जिन्होंने कोई अपराध नहीं किया। शेष सभी किसी न किसी छोटे बड़े अपराध में लिप्त रहे परन्तु कानून की पकड़ में वे लोग नहीं आए। कभी-कभी उनका अपराध ऐसा होता है कि पुलिस का ध्यान उस ओर चला भी जाता है, परन्तु आवश्यक नहीं कि पुलिस कोई कार्यवाही करे तथा मामला न्यायालय तक पहुँचे। साधारणतः मध्यम व उच्च वर्ग के किशोर अपराधियों को तो उनके माता-पिता आदि अपना प्रभाव डालकर बचा लेते हैं। निम्न वर्ग के भग्न परिवार के किशोरों के बचाव का अवसर कम रहता है।

यही स्थिति भारत में भी है। जो आँकड़े सेन्ट्रल ब्यूरो ऑफ करेक्शनल सर्विसेज तथा पुलिस अनुसन्धान ब्यूरो द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किए जाते हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिवर्ष भारत में क्षेत्रीय विशेष कानून के अन्तर्गत 65 और 75 हजार के बीच तथा भारतीय दण्ड-संहिता के अन्तर्गत 35 से 40 हजार के बीच किशोर अपराधियों को पकड़ा जाता है।[1] अपराध की प्रकृति की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अधिकाधिक अपराध चोरी के मिलते हैं और उसके बाद सेंधमारी, झगड़े-फसाद, हत्याएँ व राहजनी आदि के।

किशोर अपराध की आधारभूत व्याख्या

अपराधी व्यवहार की व्याख्या का विकास तीन स्पष्ट चरणों में हुआ है। तपन[2] के अनुसार ये चरण निम्न हैं—

1. प्राक् वैज्ञानिक 'रहस्यमयी धारणा का युग (a pre-scientific mystical period)
2. उन्नीसवी सदी के मध्य में—एक विशिष्ट कारण वाला युग (a particularistic era)

---

1. डॉ० आहूजा, राम "अपराधशास्त्र" मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, पृ० 185.
2. तपन पी. डबल्यू. : "जुवेनाइल डेलिनक्वेन्सी", न्यू यार्क, पृ० 74.

सहायता से उन रंगों द्वारा चित्र बनाने का कहा जाता है। इस सारे कार्य में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, उस पर किसी भी प्रकार की नजर भी नही रखी जाती है। वह चित्र बनाता है या रंग बिखेरता है या कागज फाड़ता है, इससे कोई प्रयोजन नही। यह तो एक माध्यम है, जिसके बहाने उसे संवेगात्मक तनावों को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। उसे मनचाही करने का भी आनन्द प्राप्त होता है।

3. मनो-अभिनय—मनोवैज्ञानिक उपचार की तीसरी प्रसिद्ध विधि मनो- अभिनय है। इस विधि का आरम्भ मोरेनो[1] ने किया था। इसमें किशोर को एक काल्पनिक भूमिका में भाग लेने का अवसर दिया जाता है। यहाँ प्रयोजन बालक को अभिनय करना सिखाने से नहीं है। बल्कि अभिनय के सहारे उसके संवेगों की अभिव्यक्ति है। बालक को अपनी इच्छानुसार क्रोध, हर्ष, घृणा, संघर्ष आदि किसी भी भाव को व्यक्त करने की छूट होती है। वह अभिनय में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने किसी भी संवेग को अभिव्यक्त करने में संकोच नही रहता। इस प्रकार उसके दमित संवेगो को निकास मिल जाता है तथा मन शान्त हो जाता है। इस विधि से उसके संवेगों का रेचन हो जाता है।

सारांश

किशोर अपराध का अर्थ आयु तथा व्यवहार की प्रकृति के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। 7 वर्ष से कम आयु का बालक अपराधी नहीं होता। किशोर अपराधी की अधिकतम आयु सीमा विभिन्न देशों मे अलग-अलग है। सिरिल बर्ट, शेल्डन एवं ग्लूक, रेक्लेस, तपन, न्यूमेयर आदि के अनुसार कानून की अवहेलना के अतिरिक्त समाज में अस्वीकृत व्यवहार भी किशोर अपराध ही माना जाता है।

किशोर अपराध की दर एवं प्रकृति के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता, क्योंकि सभी अपराधों का सरकारी या गैर-सरकारी किसी भी प्रकार का रिकार्ड उपलब्ध नही है।

अपराधी व्यवहार की व्याख्या का विकास निम्न तीन चरणों में हुआ है—

1. प्राक् वैज्ञानिक रहस्यमयी धारणा का युग—आरम्भ में अपराध का कारण व्यक्ति का व्यवहार नहीं अपितु प्रेत-शक्तियाँ माना जाता था।

2. उन्नीसवी सदी के मध्य में एक विशिष्ट कारण वाला युग आया इसके अनुसार नियतत्ववादियों ने अपराध का कारण कोई एक व्यवहार [illegible] बताया।

3 वैज्ञानिक कारणो से प्रभावित समकालीन अनेक कारणों वाला सिद्धान्त [illegible] अनुसार जलवायु, वंशानुक्रम, अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ, कुण्ठाएँ, धर्म, अज्ञान आदि अनेक [illegible] अपराधो को जन्म देते है। परन्तु अपराध का कारण कोई एक न होकर सबकी [illegible] प्रक्रिया का परिणाम होता है।

मनोविज्ञान के अनुसार किशोर-अपराध एक जैव सामाजिक घटना है। इसका कारण असुरक्षा की भावना है। हेविट तथा जेकिन्स ने किशोर अपराधियों का सामाजी[illegible]

---

1. मोरेनो एल. "साइकोड्रामा", बेक्वेन हाउस, 1946, न्यूयार्क।

किशोर-अपराध के कारण[1]

सामाजिक
आर्थिक
मनोवैज्ञानिक

बेरोज़गारी
ग़रीबी

बौद्धिक दुर्बलता
मानसिक रोग
व्यक्तित्व के लक्षण
संवेगात्मक अस्थिरता

परिवार
विद्यालय
अपराधी क्षेत्र
बुरी संगत
मनोरंजन
युद्ध
सामाजिक विघटन
स्थानान्तरण

मनोरंजन का अभाव
दूषित मनोरंजन

बिखरे हुए घर
माता-पिता द्वारा तिरस्कार
चरित्र-हीन माता-पिता
अपराधी भाई-बहिन

1. डॉ॰ रामनाथ शर्मा—"असामान्य मनोविज्ञान", तृतीय संस्करण, पृ॰ 412.

सहायता से उन रंगों द्वारा चित्र बनाने का कहा जाता है। इस सारे कार्य में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, उस पर किसी भी प्रकार की नजर भी नहीं रखी जाती है। वह चित्र बनाता है या रंग बिखेरता है या कागज फाड़ता है, इससे कोई प्रयोजन नहीं। यह तो एक माध्यम है, जिसके बहाने उसे संवेगात्मक तनावों को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त है। उसे मनचाहो करने का भी आनन्द प्राप्त होता है।

3. मनो-अभिनय—मनोवैज्ञानिक उपचार की तीसरी प्रसिद्ध विधि है। इस विधि का आरम्भ मोरेनो[1] ने किया था। इसमें किशोर को एक में भाग लेने का अवसर दिया जाता है। यहाँ प्रयोजन बालक को अभिनय से नहीं है। बल्कि अभिनय के सहारे उसके संवेगों की अभिव्यक्ति है। इच्छानुसार क्रोध, हर्ष, घृणा, संघर्ष आदि किसी भी भाव को व्यक्त करने वह अभिनय में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने किसी भी संवेग को में संकोच नहीं रहता। इस प्रकार उसके दमित संवेगों को निकास मिल शान्त हो जाता है। इस विधि से उसके संवेगों का रेचन हो जाता है।

सारांश

किशोर अपराध का अर्थ आयु तथा व्यवहार की प्रकृति के जा सकता है। 7 वर्ष से कम आयु का बालक अपराधी नहीं होता। अधिकतम आयु सीमा विभिन्न देशों में अलग-अलग है। सिरिल बर्ट रेक्लेस, तपन, न्यूमेयर आदि के अनुसार कानून की अवहेलना के प्रति व्यवहार भी किशोर अपराध ही माना जाता है।

किशोर अपराध की दर एवं प्रकृति के विषय में निश्चयपूर्व सकता, क्योंकि सभी अपराधों का सरकारी या गैर-सरकारी किसी उपलब्ध नहीं है।

अपराधी व्यवहार की व्याख्या का विकास निम्न तीन

1. प्राक् वैज्ञानिक रहस्यमयी धारणा का युग—प्रारम्भ में का व्यवहार नहीं अपितु प्रेत-शक्तियाँ माना जाता था।

2. उन्नीसवीं सदी के मध्य में एक विशिष्ट इसके अनुसार नियततत्ववादियों ने अपराध का कारण बताया।

3. वैज्ञानिक कारणों से प्रभावित समकालीन अनेक अनुसार जलवायु, वंशानुक्रम, अन्त.स्रावी ग्रन्थियाँ, कुण्ठाएँ, धर्म, अपराधों को जन्म देते हैं। परन्तु अपराध का कारण कोई एक न प्रक्रिया का परिणाम होता है।

मनोविज्ञान के अनुसार किशोर-अपराध एक जैव सामाजिक कारण असुरक्षा की भावना है। हेविट तथा जेंकिन्स ने किशोर अपराधियों

---

1. मोरेनो एल., "साइकोड्रामा", बेक्वेन हाउस, 1946, न्यूयार्क।

किशोर-अपराध के कारण[1]

- सामाजिक
  - परिवार
    - बिखरे हुए घर
    - माता-पिता द्वारा तिरस्कार
    - चरित्र-हीन माता-पिता
    - अपराधी भाई-बहिन
  - विद्यालय
  - अपराधी क्षेत्र
  - बुरी संगत
  - मनोरंजन
    - मनोरंजन का अभाव
    - दूषित मनोरंजन
  - युद्ध
  - सामाजिक विघटन
  - स्थानान्तरण
- आर्थिक
  - बेरोजगारी
  - गरीबी
- मनोवैज्ञानिक
  - बौद्धिक दुर्बलता
  - मानसिक रोग
  - व्यक्तित्व के लक्षण
  - संवेगात्मक अस्थिरता

1. डॉ॰ रामनाथ शर्मा—"असामान्य मनोविज्ञान", तृतीय संस्करण, पृ॰ 412.

सहायता से उन रंगो द्वारा चित्र बनाने को कहा जाता है। इस सारे कार्य मे उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, उस पर किसी भी प्रकार की नजर भी नही रखी जाती है। वह चित्र बनाता है या रंग बिखेरता है या कागज फाड़ता है, इससे कोई प्रयोजन नही। यह तो एक माध्यम है, जिसके बहाने उसे संवेगात्मक तनावो को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। उसे मनचाही करने का भी आनन्द प्राप्त होता है।

3. मनो-अभिनय—मनोवैज्ञानिक उपचार की तीसरी प्रसिद्ध विधि मनो- अभिनय है। इस विधि का आरम्भ मोरेनो[1] ने किया था। इसमें किशोर को एक काल्पनिक भूमिका मे भाग लेने का अवसर दिया जाता है। यहाँ प्रयोजन बालक को अभिनय करना सिखाने से नही है। बल्कि अभिनय के सहारे उसके संवेगो की अभिव्यक्ति है। बालक को अपनी इच्छानुसार क्रोध, हर्ष, घृणा, संघर्ष आदि किसी भी भाव को व्यक्त करने की छूट होती है। वह अभिनय मे इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने किसी भी संवेग को अभिव्यक्त करने में संकोच नही रहता। इस प्रकार उसके दमित संवेगों को निकास मिल जाता है तथा मन शान्त हो जाता है। इस विधि से उसके संवेगो का रेचन हो जाता है।

सारांश

किशोर अपराध का अर्थ आयु तथा व्यवहार की प्रकृति के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। 7 वर्ष से कम आयु का बालक अपराधी नही होता। किशोर अपराधी की अधिकतम आयु सीमा विभिन्न देशो मे अलग-अलग है। सिरिल बर्ट, शेल्डन एवं ग्लूक, रेक्लेस, तपन, न्यूमेयर आदि के अनुसार कानून की अवहेलना के अतिरिक्त समाज में अस्वीकृत व्यवहार भी किशोर अपराध ही माना जाता है।

किशोर अपराध की दर एवं प्रकृति के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योकि सभी अपराधो का सरकारी या गैर-सरकारी किसी भी प्रकार का रिकार्ड उपलब्ध नही है।

अपराधी व्यवहार की व्याख्या का विकास निम्न तीन चरणों में हुआ है—

1. प्राक् वैज्ञानिक रहस्यमयी धारणा का युग—आरम्भ मे अपराध का कारण व्यक्ति का व्यवहार नही अपितु प्रेत-शक्तियाँ माना जाता था।

2. उन्नीसवी सदी के मध्य मे एक विशिष्ट कारण वाला युग आया, इसके अनुसार नियतत्ववादियो ने अपराध का कारण कोई एक व्यवहार विशेष बताया।

3. वैज्ञानिक कारणों से प्रभावित समकालीन अनेक कारणों वाला सिद्धान्त इसके अनुसार जलवायु, वंशानुक्रम, अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ, कुण्ठाएँ, धर्म, अज्ञान आदि अनेक कारण अपराधो को जन्म देते हैं। परन्तु अपराध का कारण कोई एक न होकर सबकी मिलीजुली प्रक्रिया का परिणाम होता है।

मनोविज्ञान के अनुसार किशोर-अपराध एक जैव सामाजिक घटना है। इसका मुख्य कारण असुरक्षा की भावना है। हेविट तथा जेंकिन्स ने किशोर अपराधियो का सामाजीकृत,

---

1. मोरेनो एल. "साइकोड्रामा", बेक्वेन हाउस, 1946, न्यूयार्क।

किशोर-अपराध के कारण[1]

- सामाजिक
  - परिवार
    - बिखरे हुए घर
    - माता-पिता द्वारा तिरस्कार
    - चरित्र-हीन माता-पिता
    - अपराधी भाई-बहिन
  - विद्यालय
  - अपराधी क्षेत्र
  - बुरी संगत
  - मनोरंजन
    - मनोरंजन का अभाव
    - दूषित मनोरंजन
  - युद्ध
  - सामाजिक विघटन
  - स्थानान्तरण
- आर्थिक
  - बेरोजगारी
  - गरीबी
- मनोवैज्ञानिक
  - बौद्धिक दुर्बलता
  - मानसिक रोग
  - व्यक्तित्व के लक्षण
  - संवेगात्मक अस्थिरता

---

1. डॉ० रामनाथ शर्मा—"असामान्य मनोविज्ञान", तृतीय संस्करण, पृ० 412.

असामाजीकृत एवं पलायनवादी में वर्गीकरण किया है। रेड्स के अनुसार अपराधियो का विभाजन निम्न प्रकार है—

1. अपेक्षाकृत संघटित अपराधी—ये पूर्णत:सुसमायोजित एवं संवेगात्मक रूप से परिपक्व होते हैं।

2. अहं पर निर्बल नियन्त्रण रखने वाले अपराधी सामान्यत: असुरक्षा की भावना से घिरे रहते हैं।

3. अत्यहम् पर दोषपूर्ण नियन्त्रण रखने वाले अपराधी—इनमे संवेगात्मक अपरिपक्वता होती है।

अपराध के कारण

पुराने जमाने में अपराधी प्रवृत्तियाँ वंशानुगत मानी जाती थी, परन्तु आजकल इसके लिए पर्यावरण को दोषी माना जाता है। वास्तव में दोनों की ही अन्तरक्रिया के अनुसार जीवन ढ़लता है।

1. सांस्कृतिक घटनाक्रम मे गुट-अपराध—निम्न वर्ग-समूह में कार्य कर रही अनेक संस्कृतियाँ गुट अपराध को जन्म देती हैं।

2. व्यक्तिगत समस्या—अपराधी की दृष्टि से अपराध उसकी किसी समस्या के समाधान हेतु या आवश्यकता की पूर्ति हेतु किए जाते हैं।

3. *संवेगात्मक कुसमायोजन—मानसिक तनाव, द्वन्द्व, निराशा,* इच्छाओ की तृप्ति आदि भी अपराधों को जन्म देती है।

4. घरेलू तथा पारिवारिक दशाएँ—
   (1) माता-पिता का आपसी तनावपूर्ण व्यवहार, उनकी असामाजिक गतिविधियाँ, कठोर अनुशासन आदि भी किशोर को अपराध की ओर धकेलते हैं।
   (2) भग्न परिवार।
   (3) परिवार के सदस्यो से किशोर का असमायोजन।

5. पास-पड़ौस की स्थिति—
   (1) घनी आबादी, औद्योगिक क्षेत्र एवं नष्ट होते आवासीय क्षेत्र अपराध का कारण बन सकते हैं।
   (2) आर्थिक विपन्नता
   (3) सामाजिक संरचना
   (4) गुट तथा सडक किनारे समूह।

6. आर्थिक घटक—निर्धनता अपराध को जन्म देती है।

7. जन संचार—सामुदायिक साधन एवं संस्थाएँ।

अपराधी किशोरों के लक्षण

1. हीनता की भावना से ग्रसित
2. औसतन कम बुद्धि

3. आत्म-नियन्त्रण का अभाव व बेचैनी
4. दुःसाहसी, जिद्दी, वहिर्मुखी ।

अपराधी और समाज—समाज आमतौर पर अपराधी के प्रति कठोर होता है। केरेसियस के अनुसार समाज सुधारक तक भी अपराध समस्या के स्थान पर अपराधी पर ही प्रहार करते हैं।

प्रौढ़ व्यक्ति हमेशा अपराधी का निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु तथा व्यापार-कार्यों के लिए शोषण करते हैं।

सल्यूएक तथा गल्यूएक के द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार आयु-वृद्धि के साथ किशोर अपराधों में कमी आती है।

किशोर अपराध की रोकथाम

अपराध असामान्य व्यवहार है। यह एक प्रकार का रोग है। अतः चिकित्सा से रोकथाम बेहतर है। इसके लिए यह पता लगाना आवश्यक है कि किस किशोर के अपराधी बनने की सम्भावना है। इसके लिए परिवार, विद्यालय व समाज सभी को मिलकर कार्य करना चाहिए। परिवार का स्वस्थ वातावरण, माता-पिता का किशोर मनोविज्ञान से परिचित होना, उचित यौन शिक्षण आदि अपराध प्रवृत्ति को रोक सकता है। विद्यालय को चाहिए कि कार्यक्रम इस प्रकार बनाए कि सभी किशोर उसमे रुचि लें, उन्हें असफलताओं का मुँह न देखना पड़े, अन्यथा भगोड़ेपन की प्रवृत्ति जन्म लेगी। इसके लिए विद्यालय को चाहिए कि अपने विद्यार्थियों को सुरक्षा, मित्रता, स्नेह प्रदान करे, पाठ्यक्रम में विविधता रखें। फिर भी कोई किशोर अपराधी बन जाता है तो उसे पहचान कर उसकी सहायता करे। यदि शिक्षक के लिए यह सम्भव नही है तो उसे किसी परामर्शदाता को सौंप दें। समाज को भी किशोरों की अपराध-प्रवृत्ति की रोकथाम हेतु कार्य करने चाहिए। मुख्य कार्य है—आवश्यक ससाधनों को सुदृढ़ करना, किशोर-समूह का रक्षण, हानिकर प्रभावों पर नियन्त्रण आदि। इसी दृष्टि से सुधारवादी सस्थाएँ यथा सुधारालय, बार्स्टल स्कूल, परिवीक्षा होस्टल आदि बनाए गए हैं।

परिवीक्षण के अन्तर्गत पहली बार अपराध करने वाले किशोर के साथ उदारता का व्यवहार किया जाता है। उसकी सामाजिक व मानसिक जरूरतों को पूरा किया जाता है तथा सुधार के उपाय किए जाते हैं। सुधारात्मक विद्यालयों में 14 से 16 वर्ष तक के किशोर अपराधी रखे जाते है। बोर्स्टल स्कूल में नैतिक, मानसिक, शारीरिक एवं व्यवसाय सम्बन्धी बातों का ध्यान रखा जाता है। समाज किशोर-अपराधियो के लिए सुधार संस्थाएँ, सुधार-स्कूल, किशोर-बन्दीगृह आदि खोलता है। किशोर अपराधियों पर विचार करने हेतु किशोर-न्यायालय खोले जाते है। इसमे समस्त कार्यवाही अनौपचारिक वातावरण में की जाती है, दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक नही होता तथा सुधार पर बल दिया जाता है। रिमाण्ड होम की स्थापना उन किशोर अपराधियों के लिए की जाती है जिनका घर-परिवार नहीं होता। यहाँ किशोर के व्यवहार के अवलोकन के आधार पर उसके व्यक्तित्व का अध्ययन व उसमे सुधार के प्रयत्न किए जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर मनश्चिकित्सक का परामर्श भी लिया जाता है।

भारतीय सुधारात्मक संस्थाओं की कार्य-पद्धति आरम्भ में कारागृहों से मिलती

असामाजीकृत एवं पलायनवादी में वर्गीकरण किया है। रेड्स के अनुसार अपराधियों का विभाजन निम्न प्रकार है—

1. *अपेक्षाकृत संघटित अपराधी—ये पूर्णतःसुसमायोजित एवं संवेगात्मक रूप से परिपक्व होते हैं।*

2. अहं पर निर्बल नियन्त्रण रखने वाले अपराधी सामान्यतः असुरक्षा की भावना से घिरे रहते हैं।

3. अत्यहम् पर दोषपूर्ण नियन्त्रण रखने वाले अपराधी—इनमें संवेगात्मक अपरिपक्वता होती है।

अपराध के कारण

पुराने जमाने में अपराधी प्रवृत्तियाँ वंशानुगत मानी जाती थी, परन्तु आजकल इसके *लिए पर्यावरण को दोषी माना जाता है। वास्तव में दोनो की ही अन्तरक्रिया के अनुसार* जीवन ढलता है।

1. सांस्कृतिक घटनाक्रम में गुट-अपराध—निम्न वर्ग-समूह में कार्य कर रही अनेक संस्कृतियाँ गुट अपराध को जन्म देती हैं।

2. व्यक्तिगत समस्या—अपराधी की दृष्टि से अपराध उसकी किसी समस्या के समाधान हेतु या आवश्यकता की पूर्ति हेतु किए जाते हैं।

3. संवेगात्मक कुसमायोजन—मानसिक तनाव, द्वन्द्व, निराशा, इच्छाओं की तृप्ति आदि भी अपराधों को जन्म देती है।

4. घरेलू तथा पारिवारिक दशाएँ—
   (1) माता-पिता का आपसी तनावपूर्ण व्यवहार, उनकी असामाजिक गतिविधियाँ, कठोर अनुशासन आदि भी किशोर को अपराध की ओर धकेलते हैं।
   (2) भग्न परिवार।
   (3) परिवार के सदस्यो से किशोर का असमायोजन।

5. पास-पड़ौस की स्थिति—
   (1) घनी आबादी, औद्योगिक क्षेत्र एवं नष्ट होते आवासीय क्षेत्र अपराध का कारण बन सकते हैं।
   (2) आर्थिक विपन्नता
   (3) सामाजिक संरचना
   (4) गुट तथा सडक किनारे समूह।

6. आर्थिक घटक—निर्धनता अपराध को जन्म देती है।

7. जन सचार—सामुदायिक साधन एवं संस्थाएँ।

अपराधी किशोरों के लक्षण

1. हीनता की भावना से ग्रसित
2. औसतन कम बुद्धि

किशोरावस्था का समापन एवं भविष्य

परिपक्वता की ओर प्रगति

किशोरावस्था अध्यापक के लिए एक रुचिकर काल है। स्वयं किशोर के लिए यह एक उत्तेजनात्मक अवस्था है। शनैः शनैः इस अवधि की समाप्ति होनी ही है और व्यक्ति को युवावस्था में पदार्पण करना ही है। अतः यह उपयोगी एव उपयुक्त रहेगा यदि परिपक्वता के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ विचार कर लिया जाए।

परिपक्वता का अर्थ

परिपक्वता को कुछ ही शब्दों मे परिभाषित करना सरल नही है। इसका सम्बन्ध वृद्धि से जोड़ा जाता है। यह माना जाता है कि शारीरिक वृद्धि की समाप्ति ही परिपक्वता की सूचक है। वृद्धि एक सरल परन्तु रहस्यमय संघटना है। जीव शास्त्रियो के समक्ष यह एक अत्यन्त जटिल समस्या है कि प्राणी एक निश्चित समय तक वृद्धि की ओर अग्रसर होता रहता है और फिर यकायक यह वृद्धि हमेशा के लिए अवरुद्ध कैसे हो जाती है? जिस प्रकार शारीरिक वृद्धि शनैः शनैः समाप्त होती है, उसी प्रकार व्यक्ति की परिपक्वता भी धीरे-धीरे ही प्राप्त होती है। शारीरिक, लैंगिक, बौद्धिक, संवेगात्मक आदि सब पृथक्-पृथक् परिपक्वताएँ हैं। यह सब अपने आप मे जटिल घटनाएँ हैं। उदाहरण के लिए शारीरिक परिपक्वता को लिया जा सकता है। शरीर के विभिन्न अवयवों यथा खोपड़ी, पैर, रीढ़ की हड्डी आदि सबकी वृद्धि भिन्न-भिन्न मात्रा में होती है और समाप्ति भी भिन्न-भिन्न ही होती है। अतः मानव परिपक्वता का संप्रत्यय (concept) अत्यधिक जटिल है।

परिपक्वता के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। इसके अनुसार यदि व्यक्ति प्रौढों द्वारा किए जाने वाले सभी कार्य करने में सक्षम हो जाता है, तो वह परिपक्व माना जाता है। यह परिभाषा व्यक्ति के शारीरिक ढाँचे से नहीं बल्कि उसके कार्यकलापो से सम्बन्धित है। इसमे हमें आकार की वृद्धि की सीमाओं के ज्ञान मे तो छुटकारा मिल जाता है परन्तु यहाँ परिपक्वता का सम्बन्ध परिवर्तित सभ्यता से जुड़ जाने के कारण इसका पता लगाना और भी कठिन कार्य हो जाता है। यहाँ हमे व्यक्ति के समुदाय, जाति, विद्यालय आदि के सम्बन्ध में जानना आवश्यक हो जाता है।

परिपक्वता को पूर्णतः सही रूप से परिभाषित करने के लिए इन दोनों ही आंशिक परिभाषाओं मे अभिव्यक्त दृष्टिकोणो का योग करना उचित है। इसके अनुसार परिपक्वता की परिभाषा इस प्रकार होगी—जब आन्तरिक वृद्धि के कारण व्यक्ति के आकार और शक्ति मे वृद्धि समाप्त हो जाती है तथा जब वह अपने समुदाय के प्रौढ़ो द्वारा किए जाने

वाले कर्तव्यों को सुचारु रूप से कर सकता है तो यह माना जाएगा कि उसने परिपक्वता प्राप्त करली है।

शारीरिक परिपक्वता

शारीरिक किशोरावस्था की अवधि की समाप्ति अधिक स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाती है। शारीरिक परिपक्वता प्राप्त कर लेने पर एक किशोर युवा बन जाता है। जब किशोर एक निश्चित ऊँचाई को प्राप्त कर लेता है, उसका शरीर वयस्क आकार को प्राप्त कर लेता है, उसके सभी अंग, अस्थियाँ युवा आकार के हो जाते हैं, जननेन्द्रियाँ अपने कार्य को करने में सक्षम हो जाती हैं, तो वह युवा कहलाता है। मानव विकास के विभिन्न क्षेत्रों में *सबसे अधिक सावधानी-पूर्वक अध्ययन शारीरिक वृद्धि की दर के सम्बन्ध में किया गया* है। प्रत्येक प्राणी को अपने पूर्वकालीन एवं तत्कालीन पूर्वजों द्वारा एक विशिष्ट आकार एवं शक्ल प्रदान की गई है, यद्यपि बड़ी मात्रा में वैयक्तिक विभिन्नताएँ भी होती हैं। इन अध्ययनों से जो सामान्य निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि शरीर के आकार, रूपरेखा और शारीरिक गठन में प्रशिक्षण अथवा पर्यावरण के प्रभावों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन या वृद्धि *लाना कठिन है। यह एक ऐसी परिपक्वता है, जिसकी प्राप्ति निश्चित* है। कुपोषण, अत्यधिक कार्य अथवा विध्वकारी वस्तुओं के प्रयोग से उसकी गति को अवरुद्ध अवश्य किया जा सकता है परन्तु पूर्णत समाप्त नही किया जा सकता। इस प्रकार के प्रयोग मनुष्यों पर यद्यपि नही किए गए हैं परन्तु अन्य जीव-जन्तुओं पर किए गए प्रयोग उपरोक्त कथन को सिद्ध करते है।

लगभग अठारह वर्ष की आयु के पश्चात् शारीरिक वृद्धि में कमी आ जाती है तथा बीस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते वह बिल्कुल कम हो जाती है। शारीरिक सन्दर्भ में किशोरावस्था की समाप्ति वस्तु-निष्ठ रूप से देखी जा सकती है—

1. अन्तिम ऊँचाई पर पहुँचना,
2. युवा के अनुसार शारीरिक गठन होना,
3. अस्थियों का अन्तिम आकार व घनत्व को प्राप्त होना,
4. जननेन्द्रियों का अपने कार्य में पूर्ण-सक्षम बन जाना। उनसे सम्बन्धित सभी आन्तरिक विशेषताओं का स्पष्ट रूप में उभर जाना।

बौद्धिक परिपक्वता

बौद्धिक परिपक्वता के सबन्ध में बहुत कम विवरण पाया जाता है। यह मान्यता है कि बौद्धिक वृद्धि जन्म से पूर्व आरम्भ होती है तथा उत्तर किशोरावस्था तक निरन्तर चलती रहती है। बौद्धिक परिपक्वता का भी शारीरिक परिपक्वता की तरह आयु से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा उसको भी साधारणतः रोका नही जा सकता है। पागल या दोष-पूर्ण व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति युवा बौद्धिकता का न्यूनतम स्तर तो अवश्य ही पा लेते हैं अर्थात् वे तेरह वर्ष की आयु पर तो अवश्य ही पहुँच जाते है। हालिगवर्थ के अनुसार सामान्यत इस वृद्धि की दर सोलह वर्ष की आयु तक बराबर होती रहती है, उसके पश्चात् नही के बराबर वृद्धि होती है। वैसे यह वृद्धि पच्चीस वर्ष की आयु तक भी हो सकती है। इससे यह अर्थ नही लगाया जा सकता कि परिपक्वता की आयु के पश्चात् व्यक्ति कुछ नया नही सीख सकता। व्यक्ति जब तक जीवित रहता है वह कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। परन्तु उसकी बुद्धि का विकास परिपक्वता के बाद रुक जाता है।

अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि बुद्धि की मात्रा का उसकी वृद्धि के काल से गहरा सम्बन्ध है। अधिक बुद्धिमान बालक अधिक समय तक अपनी बुद्धि की वृद्धि करता है। मंद-बुद्धि बालकों में तीव्र-बुद्धि बालकों की अपेक्षा बुद्धि का विकास भी शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

मानसिक क्षमताओं के विकास के साथ उसकी रुचियों में भी परिवर्तन आ जाता है। जिन खेल-कूदों, पार्टियों आदि में व्यक्ति को किशोरावस्था में रुचि होती है, वे ही उसे युवा बनने के बाद फीके लग सकते हैं; उनका आकर्षण कम हो सकता है क्योंकि अब उसे मनोरंजन का क्षेत्र छोड़कर खाने-कमाने की व्यवस्था करनी होती है। सभी व्यक्ति परिपक्व बौद्धिक रुचियाँ एवं रुझान विकसित करने में सफल नहीं होते हैं।

लैंगिक परिपक्वता

यह सुविधाजनक होता यदि लैंगिक परिपक्वता की प्राप्ति किसी स्पष्ट और सहज ही ध्यान में आने वाली घटना के साथ जुड़ी होती, परन्तु वैसा होता नहीं है। जनेन्द्रियाँ किस आयु में पूर्ण-परिपक्वता को पहुँचती है—अर्थात् जनन-शक्ति किस आयु में स्थापित हो जाती है। यह ज्ञात करना कठिन है क्योंकि इसकी कालिक आयु भिन्न-भिन्न किशोरों में भिन्न-भिन्न होती है।

माता-पिता की आयु का सन्तान के गुणों के साथ क्या सम्बन्ध है—इस दिशा में अध्ययन के द्वारा जनन-शक्ति की परिपक्वता की आयु जानने के बारे में प्रयास किए जा रहे है। परन्तु अब तक किए गए अध्ययनों ने कोई निश्चित सूचना नहीं दी है। इसका कारण चयनित समूहों की भ्रान्तियाँ (fallacieo) भी हो सकती है। वे बालक जो माता-पिता के अत्यधिक शीघ्र या अत्यधिक विलम्बित आयु में जन्म लेते है वे सामान्य से हटकर ही होते है—क्योंकि जो माता-पिता प्रजनन कार्य में अपवाद (exceptional) सिद्ध हुए है उनका शारीरिक और मानसिक संगठन भी स्वाभाविक रूप से अपवाद रहा होगा।

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि माता-पिता शारीरिक व मानसिक रूप से सक्षम हैं, परन्तु विवाह विलम्ब से करते है, या प्रजनन को रोक लेते है—ऐसी परिस्थिति में माता-पिता की आयु का सन्तान के गुणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि माता-पिता किशोरावस्था में ही सन्तान प्राप्त कर लेते है तो हो सकता है कि बालक में वांछित लक्षणों जैसे बुद्धि, संवेगात्मक नियंत्रण, आकांक्षा आदि का अभाव हो।

अभी तक किए गए अध्ययन इस तथ्य पर प्रकाश नहीं डाल सके हैं कि प्रजनन कोशिकाओं के गुण में आयु के अनुसार परिवर्तन होता है अथवा नहीं परन्तु इन सब अध्ययनों से यह धारणा अवश्य पुष्ट होती है कि बीस वर्ष की आयु के लगभग प्रजनन अवयव परिपक्वता को प्राप्त कर लेते है।

नैतिक परिपक्वता

नैतिक परिपक्वता को परिभाषित करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। नैतिक परिपक्वता की प्राप्ति से तात्पर्य है कि व्यक्ति जीवन के प्रति अपेक्षाकृत स्थायी एवं सन्तोष-जनक प्रवृत्ति का विकास कर सके तथा ऐसे आदर्शों की स्थापना कर सके, जो कि उसके भावी आचरण को दिशा प्रदान कर सके। यदि युवावस्था की प्राप्ति के पश्चात् भी व्यक्ति अपने को उलझा हुआ पाता है, विश्व उसके लिए अब भी एक पहेली है, वह

दिशा-निर्देशन के लिए दूसरो का मुंह ताकता है, तो स्पष्ट है कि उसमें नैतिक परिपक्वता का विकास पूर्णरूपेण नही हुआ है। विश्व को एक दिन मे सुधार देने की धारणा किशोर की हो सकती है, परिपक्व युवा की नही। परिपक्वता के साथ युवा की विद्रोही भावना पर अंकुश लगता है। इसके असामजस्यकारी नैतिक मापदण्ड भी नियन्त्रित होते हैं। बाल्यावस्था से युवावस्था की ओर प्रगति कर रही अवस्था मे उसके विचारो मे रूढ़िवादिता एवं अड़िगता के स्थान पर उदारता एवं सहनशक्ति की वृद्धि होती है।

संवेगात्मक परिपक्वता

व्यक्ति संवेगात्मक रूप से परिपक्व है इसका क्या अर्थ है। किस आयु में व्यक्ति की सवेगात्मक शक्ति एवं नियत्रण का विकास रुक जाता है इन प्रश्नों के बारे में अभी तक कोई निश्चत उत्तर नही प्राप्त हो सका है। इस प्रकार की परिपक्वता का अनुमान लगाना कठिन है। अधिकतर अध्ययन निर्णयात्मक नही है।

आयु के अनुसार आन्तरिक शक्ति में वृद्धि होती है, जिससे भावात्मक नियन्त्रण भी बढ़ता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सवेगात्मक परिपक्वता विकास के किसी चरण की अपेक्षा परिस्थितियो एवं प्रशिक्षण से अधिक प्रभावित होती है।

सवेगों को मापने की विधियाँ अभी तक विकसित नही हो पाई है। न ही बनाई जा सकी है। संवेगो के विकास को केवल सामान्य अनुभाव के आधार पर ही पहचाना जा सकता है। उदाहरण स्वरूप यदि दो वर्ष का बालक इच्छित वस्तु नही मिलने पर चिल्लाता है और तोड-फोड़ करता है, तो उसका यह व्यवहार उसकी आयु के अनुकूल माना जाएगा। परन्तु यदि वह इस प्रकार का व्यवहार छ. वर्ष की आयु प्राप्त करने पर भी करता है तो इसके लिए नटखट विशेषण का प्रयोग किया जाएगा। उसकी यही आदत यदि नौ वर्ष की आयु तक भी बनी रहती है, तो वह बिगड़ा हुआ बालक कहलाएगा। उसका यह व्यवहार असामान्य माना जाएगा। यदि बारह वर्ष की आयु मे भी वह यही हरकत करता है, तो उसका "समस्या बालक" के रूप मे वर्गीकरण किया जाएगा और यदि उसका यही व्यवहार बीस-पच्चीस वर्ष की आयु प्राप्त करने तक रहता है, तो वह पागल ही कहलाएगा।

इस प्रकार संवेगात्मक परिपक्वता का लक्षण बचपन की आदतों को छोड़ना है। वे कौनसे लक्षण है जो यह बताते है कि अब व्यक्ति में बचपना नही है?

प्रथम यह है, कि वह अपने आवेगों को व प्रतिक्रियाओ को सीमित रखे। यदि कोई उसे अपमानित करता है, तो वह एकदम क्रोधित नही होगा बल्कि अपने क्रोध पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करेगा। दूसरा यह है, कि उसकी प्रतिक्रिया तात्कालिक नही होगी; वह उसमे विलम्ब लगाएगा। यदि वह भयभीत होता है, तो बालकों की तरह तुरन्त ही नही भाग खड़ा होगा। वह अपनी गति पर रोक लगाएगा। परिपक्वता का तीसरा लक्षण है, अपने प्रति दया दिखाने वाली भावना को रोकना। वह दूसरों की सहानुभूति पर निर्भर नही रहता है। सवेगात्मक परिपक्वता की कोई निश्चित आयु अभी तक ज्ञात नही हुई है।

सामाजिक परिपक्वता

सामाजिक रूप मे परिपक्वता प्राप्त करने वाले व्यक्ति मे कुछ विशेषताएँ आ जाती है। वैकिंग (1926), बुक्स (1929), मैरीसन (1934), कोले (1936) आदि ने इन विशेषताओं का वर्णन किया है। इस सूची मे जिन विशेषताओ पर बल दिया है, उनमें

स्वाधीनता, सामाजिक परिस्थितियों में सहज भाव से रहने की योग्यता तथा हम सब की भावना होने की योग्यता मुख्य है।

मीक (1940) ने किशोरों के सामाजिक विकास की प्रवृत्ति या दिशा का एक रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। उनमें से एक प्रवृत्ति है अपने साथी, मित्र तथा दैनिक कार्य-कलाप के चुनाव में रुचि का अधिक गम्भीर, प्रवरणशील तथा प्रमुखत्वपूर्ण हो जाना। दूसरी प्रवृत्ति होती है पारिवारिक जीवन की तैयारी की अधिक से अधिक चिंता करने की। तीसरी प्रवृत्ति है निर्णय करने में आत्म-निर्भरता की वृद्धि।

किशोरावस्था के निकट पहुँचने तथा उसमे पदार्पण करने पर बालकों में ध्यान आकृष्ट करने वाले जो विकास होते है, उनमे एक है, अपने एकात पर नियत्रण रखने की इच्छा। परिपक्वता का एक लक्षण इस बात का निर्णय करने की योग्यता है कि किन बातों को वह अपने तक ही सीमित रखे और किन बातों की जानकारी स्वेच्छा से दूसरों को भी करादे। उम्र बढ़ने के साथ-साथ जैसे-जैसे वह अपने साथियो के समाज मे घूमता है, बालक अधिक से अधिक अपने को ऐसे कार्य-कलापों में संलग्न कर लेता है, जो उसके माता-पिता की दृष्टि से बाहर होते रहते है।

सामाजिक परिपक्वता का एक सुपरिचित लक्षण है, भिन्न लिंगियों के प्रति रुचि का उभार पर आ जाना। किशोरावस्था से पूर्व एक ऐसा समय होता है, जब लड़के लड़कियाँ आपस में बहुत घुलकर नही मिलते। ऐसा प्रतीत होता है मानो ये बालक, बालिका अपनी भूमिका सीखने में अपने को केन्द्रित कर लेते है। उसके बाद की अवधि मे अधिकतर व्यक्ति भिन्न लिंगियों की संगति के लिए उत्कण्ठित हो जाते है।

युवा संसार (The Adult World)

रोबर्ट ब्राउनिंग ने लिखा है—

मेरे साथ बढ़ते चलो,
वह सर्वोत्तम अभी आने वाला है,
जो जीवन का अन्तिम अध्याय है, परन्तु जिसके लिए पूर्व के अध्याय बने है।

विश्व का संचालन मुख्यतः युवाओं द्वारा एवं युवाओं के लिए होता है परन्तु आधुनिक काल में शैशवावस्था, बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था पर अत्यधिक ध्यान केन्द्रित होने के कारण प्रायः यह तथ्य नगण्य रह जाता है कि विश्व की लगभग 65 प्रतिशत जनसंख्या बीस वर्ष से अधिक आयु वर्ग के युवाओं की है। उपरोक्त तीन अवस्थाओं के विशद एव गहन अध्ययन का मूलभूत कारण यही है कि विकास की इन तीन अवस्थाओं का मुख्य कार्य व्यक्ति को इस रूप में तैयार करना है कि वह शेष जीवन को सामान्य रूप से जी सके।

वृद्धि एवं विकास के काल मे व्यक्ति के जीवन मे नित्य नवीन आवश्यकताएँ प्रकट होती है तथा पुरानी आवश्यकताएँ या तो महत्त्वहीन हो जाती है या परिष्कृत (modify) हो जाती है। किशोर विकास भी एक भिन्न स्व एवं स्व के भिन्न संप्रत्यय को जोडता है। पुराने उद्देश्यों का पुनर्निर्माण व नवीन उद्देश्यों का पदार्पण होता है। किशोर के परिपक्वता की ओर बढ़ते चरण उसकी क्षमताओं तथा आत्म-निर्भरता की वृद्धि करने

के साथ ही साथ उसकी माँगों तथा दायित्वों में भी वृद्धि करते हैं। किशोरावस्था के प्रादुर्भाव के साथ ही प्रगट होने वाले विकासशील कार्य विस्तृत होते जाते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक विकासात्मक कार्य उसके सामने आ जाते है। ऐसे कुछ कार्य हैं— व्यावसायिक समायोजन, विवाह एवं वैवाहिक समायोजन, प्रजातांत्रिक समाज की नागरिकता तथा एक सुनिश्चित जीवन-दर्शन।

तकनीकी का सामाजिक प्रभाव

विज्ञान के नित नूतन आविष्कारों एवं खोजो के प्रभाव-स्वरूप मनुष्य आज यांत्रिक समाज में रह रहा है तथा संस्कृति में तीव्र गति से परिवर्तन आ रहे हैं। जीवन-मूल्य बदलते जा रहे हैं। इन सबके बीच आज का किशोर अपने आपको विभ्रम (confusion) एवं द्वन्द्व (conflict) की स्थिति में पाता है। तकनीकी क्रांति (technological revolution) के कारण संपूर्ण विश्व ही प्रभावित हो रहा है। कार्य अधिक विशिष्ट (specialized) रूप लेता जा रहा है; व्यक्तियों की परस्पर निर्भरता में वृद्धि हो रही है, भौगोलिक सीमाएँ विलीन हो गई हैं, राष्ट्रों के बीच की दूरियाँ सिमट गई है तथा राष्ट्र एक दूसरे के अधिक समीप आ गए हैं। इससे समाज के भौतिक ढांचे में परिवर्तन होने के साथ व्यक्ति एवं समुदाय के सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप मे भी परिवर्तन आया है। इसका स्पष्ट प्रभाव आज के किशोर की आदतो, प्रवृत्तियो एवं जीवन मूल्यो के परिवर्तन में लक्षित होता है।

तकनीकी प्रगति के कारण व्यक्ति के सामने अनेक नई समस्याएँ एवं नए दायित्व आ गए है। विज्ञान के अनेक आविष्कारों का न केवल लाभकारी वल्कि घातक प्रभाव भी हो सकता है। अत: आज के किशोर के लिए या यात्रीकरण के इस रूप को समझना नितान्त आवश्यक है। विश्व मे बढती हुई परस्पर निर्भरता के कारण आज उसके सदस्यों मे सहकार की भावना में वृद्धि की आवश्यकता है। नित नूतन यांत्रिक प्रभावों के फलस्वरूप परिवर्तित होते। समाज मे अनुकूलन (adaptation) की क्षमता व समायोजन का गुण अत्यन्त अनिवार्य है। प्रभावी एवं सफल जीवन यापन हेतु इस सबके लिए आवश्यक है कि युवा अपनी सीखने की क्षमता में वृद्धि करें, सीखने के प्रति उसे उत्प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए। उसमे आत्मसातन (assimilation) की इच्छा होनी चाहिए तथा गतिशील लोकतात्रिक समाज में समायोजन की तत्परता होनी चाहिए।

विद्यालय से कार्य की ओर संचरण

एक न एक दिन किशोर को घर में माता-पिता द्वारा प्रदत्त संरक्षण एव सम-आयु समूह को छोड़कर कार्यरत ससार मे पदार्पण करना ही है। उसे अपने लिए कोई व्यवसाय चुनना ही है, जहाँ उसे अपने व्यवसाय की माँग के अनुसार कार्य करने ही है, चाहे उनमे उसकी रुचि हो अथवा नही। आज के इस यांत्रिक युग मे उन्हे स्वयं को उसके अनुसार ढलना ही है।

यदि उसने अपने व्यवसाय के चयन मे सावधानी नही रखी तो उसका उसके सम्पूर्ण जीवन पर निराशाजनक प्रभाव पड सकता है। अत युवा व्यवसायी के लिए आवश्यक है कि वह अपने व्यवसाय के साथ सन्तोषजनक समायोजन बनाए क्योकि यही

कार्यरत संसार उसके जीवन की विभिन्न गतिविधियों को प्रभावित करता है। विद्यालय से कार्यरत संसार में पदार्पण सन्तोषपूर्ण होना चाहिए। इसके लिए उसकी व्यावसायिक आवश्यकताओं को पहचानना अनिवार्य है तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं को यथार्थ रूप से सुलझाना आवश्यक है। इसलिए उचित परामर्श दिया जाना चाहिए।

शिक्षा-समाप्ति के साथ ही युवा के सामने दो समस्याएँ आती है—

1. नियोजन की खोज और
2. कार्य मिलने पर समायोजन की समस्या या फिर उससे अच्छा कार्य ढूढ़ना।

युवा कार्य ढूंढने में असफल रह जाते हैं, उसके लिए निम्न कारण बताए जाते हैं, अभिवृत्ति एवं व्यवहार, उनका बाह्य व्यक्तित्व, बहुत ऊँचे वेतन की माँग, अपर्याप्त प्रशिक्षण, मित्रों या सम्बन्धियों के समीप नौकरी की खोज, अधैर्य, अनिच्छा, आदि। यही कारण उनके नौकरी मिल पाने पर समायोजन नही हो पाने के भी है। उनमे उत्तरदायित्व की भावना का अभाव, साथियो से मिल-जुल कर नही रह पाना, गलत-फहमियों का शिकार बनना या नौकरी मे रुचि नही होना आदि कुछ अतिरिक्त कारण भी है।

युवा एवं विवाह (Youth and marriage)

युवा में कामेच्छा (sex drive) तीव्रतम होती है। वर्तमान मे विज्ञान के बढते प्रभाव, औद्योगीकरण, नगरीकरण, उच्च शिक्षा आदि के कारण किशोरावस्था की अवधि बढ़ गई है। इस कारण युवा पारिवारिक जीवन मे भी विलम्ब से प्रवेश करता है। इसके फलस्वरूप हमारा सम्पूर्ण सामाजिक एवं नैतिक ढांचा ही परिवर्तित हो गया है। माता-पिता, अध्यापक, धर्मगुरु एवं अन्य सभी निरुपाय से इसे अनदेखा कर देते हैं। नि.सन्देह आज जीवन मूल्य बदल गए हैं। कुछ समय पूर्व जो कार्य-बुरी दृष्टि से देखे जाते थे, वही आज हम मूक बनकर स्वीकार कर लेते है। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष केवल दो ही विकल्प हैं। या तो हम यह स्वीकार करें कि इस आयु मे तीव्र कामेच्छा होती है और युवा को दमन के स्थान पर उचित परामर्श दें, अन्यथा उचित निर्देशन के अभाव मे यौन-उच्छृंखलता की वृद्धि ही होगी अथवा विलम्ब से होने वाले विवाहो को रोकने का कोई उपाय खोजें। वर्तमान सामाजिक ढांचे में दूसरा विकल्प पुरातन तथा काल की गति मे बहुत पीछे छूट गया सा लगता है। अतः प्रथम विकल्प को स्वीकार करते हुए यौन-शिक्षा (sex-education) का उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

किशोर का विवाह सम्पन्न हो जाने पर उससे यह आशा की जाती है कि वह एक दूसरे को अपने से भला या बुरा समक्ष कर स्वीकार करेंगे परन्तु सभी के विवाह स्थायी नही होते हैं। सभी अपने विवाह से प्रसन्न भी नही रहते है। अनेक व्यक्तियो ने विवाह से सुख-प्राप्ति की उम्मीद की थी, किन्तु बाद मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यदि उनका विवाह टूट जाए तो उन्हें अधिक प्रसन्नता होगी।

युवा एवं नागरिकता

लोकतांत्रिक समाज में प्रजातन्त्र के अच्छे नागरिक बनने के लिए आवश्यक गुणों को विकसित करना किशोर एवं युवक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः अधिगम

(learning) की एक अपरिहार्य भूमिका है। स्वतन्त्रता-कार्य, राजनीति, सरकार कानून मानवीय सम्बन्ध आदि के प्रति हमारी अपेक्षित अभिवृत्तियों का विकास कैसे होता है यह समझना। यह सब भली प्रकार नहीं सीख सकने के कारण ही प्रति वर्ष लाखों किशोरों को पुलिस एवं अनेक अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

युवा पीढ़ी के बचाव में **एलिजाबेथ इवान्स** लिखती है—"मैं सत्रह वर्ष की हूँ; मैंने कभी आग नहीं लगाई, रेल्वे स्टेशन नहीं लूटा, किसी निरीह आदमी की पिटाई नहीं की सच तो यह है कि मैं इस प्रकार के काम करने वाले किसी व्यक्ति को जानती भी नहीं हूँ परन्तु प्रति वर्ष मेरे समान लाखों अमरीकी किशोर मेरे से कुछ वर्ष छोटे या कुछ वर्ष बड़े, कुछ बड़े परिवारों से तो कुछ छोटे परिवारों से पुलिस द्वारा परेशानी में पड़ जाते है।"

निश्चय ही यह एक समस्या है। यह अमेरिका की सबसे बड़ी समस्या है परन्तु कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि काश ! कोई व्यक्ति हम 95 प्रतिशत लोगों के बारे मे सोचे, जो कि अपराधी नहीं है। क्योंकि हम भी यहीं रहते है और हम वे हैं जिनमें से 10, 20 या 30 वर्ष बाद कोई वैज्ञानिक, कोई सम्पादक, कोई पादरी, कोई राजनीतिज्ञ बनेगा। हम ही वो है, जो राष्ट्र के नेताओं को निर्वाचित करेंगे, उसके गिरिजाघरों में जाएँगे और आवश्यकता पड़ी तो युद्ध लड़ेंगे।

"परिपक्वता प्राप्ति तक हम सही मार्ग पर चल सकें, यही हमारा सबसे बड़ा कार्य है। यह करना किसी भी समय मे, किसी भी परिस्थिति मे एक कठिन कार्य है।

"वास्तव मे हमारी पीढ़ी बुरी नहीं है। हम बुरे हो भी नहीं सकते। हमने भी अपना जीवन वैसे ही प्रारम्भ किया है, जैसे कि अन्य शिशु करते है परन्तु जीवन अपने सर्वोत्तम रूप मे एक कठिन एवं असुरक्षित बात बन कर रह गई है, अपने विकृत रूप मे यह विस्मय एवं भग्नाशा की एक ऊँची दीवार है।"

"हमारे पास इसका क्या उत्तर है ? कौन यह निश्चय करेगा कि हमे किस प्रकार के स्त्री और पुरुष बनना है और किस प्रकार का संसार बनाना है ? यह क्या है, जिसकी हमारी पीढ़ी को सर्वाधिक आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे सैकड़ों सिद्धान्त हैं—मानसिक स्वास्थ्य, कानून का सख्ती से पालन, तलाक नियम कड़े बनाना, मनोरंजन के कार्यक्रमों को सुधारना, अधिक विद्यालय और अधिक शिक्षक, दूरदर्शन, चलचित्रों एवं पत्रिकाओं की सेन्सर मे कड़ाई आदि। मैं जानती हूँ कि हमारी पीढ़ी को किस बात की आवश्यकता है। कानून, अदालत, मनोरजन के साधन, विद्यालय, अनुशासन आदि से भी अधिक हमें किस बात की आवश्यकता है। कोई हम पर विश्वास कर सके—यही हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

युवा और सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण
(Youth and the socio-economic out look)

आज हम जिस सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति में से गुजर रहे है, उसके कारण व्यक्ति की अभिवृत्तियों मे अनेक परिवर्तन आ रहे है। यह परिवर्तन समाज, शिक्षा, राजनीति, अर्थ व्यवस्था सभी मे परिलक्षित है। इन परिवर्तनों से अल्प-आय वाले लोग अधिक प्रभावित हुए हैं। सार्वभौम शिक्षा, समाचार-पत्र, रेडियो, श्रम-सगठन आदि ने इनकी वृद्धि

की है। आज एक आम आदमी भी देश-विदेश में होने वाली सभी बातों से परिचित रहता है। निःसन्देह इन परिवर्तनों के कारण किशोर के व्यवहार में भी बदलाव आया है, विशेष रूप से नियोजन से सम्बन्धित पहलुओं पर।

सांस्कृतिक विभ्रम, मूल्यों में बदलाव, सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों के बीच झूलता युवा यदि हताशा एवं निराशा से घिरा हुआ है, अनेक उलझनों से ग्रसित है तो कोई विस्मय की बात नहीं है। प्रजातन्त्र में प्राप्त अनेक स्वतन्त्रताओं में बेरोजगारी के भय से स्वतन्त्रता प्राप्ति की बड़ी आवश्यकता है। वर्तमान और भावी युवा पीढ़ियों के सामने यह एक बहुत बड़ी चुनौती है। हमारी आधारभूत संस्थाएँ इस समस्या को नकार नहीं सकतीं। इस चुनौती का सामना करने में विद्यालयों की भूमिका पर विचार करते हुए एडवर्डस[1] का निम्न कथन उल्लेखनीय है—

> "अमरीकी शिक्षा-पद्धति का वर्तमान और भावी पीढ़ी के प्रति सबसे बड़ा उपकार यह होगा कि वह अपने युवाओं को इस प्रकार शिक्षित करे कि वे सामाजिक नीतियों के मूल प्रतिमानों के सम्बन्ध में ठोस निर्णय ले सकें; नये समाज के निर्माण के लिए सहकारिता से काम करने हेतु आवश्यक मूल्य, उत्प्रेरणा, बुद्धि एवं ज्ञान उन्हें दे सकें।"

यह बात भारत की शिक्षण संस्थाओं के लिए भी पूर्णतः सत्य लागू होती है।

राजनीति में युवा (Youth in Politics)

प्रति-वर्ष अनेक युवा निर्वाचन में भाग लेने में सक्षम हो जाते हैं। नशिक्षित युवक सामान्यतः माता-पिता के दल को ही प्रमुखता देते हैं। परन्तु सुशिक्षित युवा अपना स्वतन्त्र चयन भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त आज की युवा पीढ़ी शिक्षित होने के साथ ही साथ अवसरवादी भी बनती जा रही है, वे अपने दल के प्रति अपने पूर्वजों जितनी गहरी निष्ठा नहीं रखते। "कुछ भी हो, दल के साथ रहना है," यह भावना आज घटती जा रही है। अतः शिक्षण एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे इस पीढ़ी को उचित निर्देशन दें ताकि प्रजातांत्रिक आदर्श एवं व्यवहार का प्रजातांत्रिक तरीका एवं दृढ़ निश्चय उनके जीवन का अंग बन सके। आज जब कि मतदान की आयु घटाए जाने की माँग बढ़ रही है, विद्यालयों के लिए यह और भी आवश्यक हो गया है कि वे अपने विद्यार्थियों को उचित राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था करें।

युवा और स्वतन्त्रता (Youth and the freedom)

यदि हम यह चाहते हैं कि हमारा युवक राजनीति के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखे तो हमें उसे कुछ कार्य एवं दायित्व सौंपने होंगे ताकि वह जीवन की प्रजातांत्रिक पद्धति सीख सके। हमारे पूर्वजों ने हमें धरोहर में स्वतन्त्रता दी है—इस स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखना हमारा दायित्व है।

विश्वनागरिकता के लिए शिक्षा

युवा को परामर्श देने वाले सभी व्यक्ति अध्यापक माता-पिता समाज व अन्य अपना लक्ष्य विश्व नागरिकता का रखें।

1. एन० एडवर्ड्स, "द एडोलेसेन्ट इन टेक्नोलोजिकल सोसायटी" फोर्टी थर्ड इयरबुक ऑफ सोसायटी फॉर द स्टडी एड्यूकेशन, भाग 1, 1944, पृ० 196.

जिस प्रकार प्रजातांत्रिक ढंग मे जीवन यापन के तरीको को सिखाया जाना आवश्यक है उसी प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शिक्षा दी जानी भी अनिवार्य है। यह तभी सभव हो सकता है जबकि इस ओर सभी विषयों के अध्यापक ध्यान दे। घर में, खेल के मैदान मे तथा अन्य सामुदायिक गतिविधियों मे इस बात पर ध्यान दिया जाये।

सतत जीवन-दर्शन का विकास

जीवन की अनेक समस्याओ का समाधान केवल विज्ञान के सहारे नही किया जा सकता है। विज्ञान द्वारा मनुष्य को न तो कोई नीतिशास्त्र दिया गया है और न ही मानवीय सम्बन्धो के विषय मे कोई सलाह-परामर्श।

जीवन मे उच्च आदर्शो की, ठोस मूल्यो की, अच्छे चरित्र की, अच्छे जीवन दर्शन की महत्ता है—हमारे पूर्वजो ने हमे इस दिशा में बहुत कुछ दिया है। युवा के लिए इस दिशा मे उचित निर्देशन व प्रशिक्षण आवश्यक है। आज माता-पिता, शिक्षक व शिक्षा के अन्य अभिकरणों के समक्ष यह एक बहुत बड़ी समस्या है।

निरंकुश, प्रजातांत्रिक एवं वैयक्तिक स्वातन्त्र्य भरे नियंत्रण
(Autocratic, democratic and laissez-faire controls)

औसत परामर्शदाता, माता-पिता एव अध्यापक निरकुशतत्र-प्रजातन्त्र एवं पूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सम्बन्धों को भली प्रकार से नही समझते है। आम मान्यता यह है कि सरल रेखा के एक सिरे पर निरंकुश व्यवहार है तो दूसरे सिरे पर वैयक्तिक स्वातन्त्र्य-व्यवहार है और मध्य बिन्दु के आस-पास कही प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार है परन्तु यह धारणा मिथ्या है। लुइन ने इसे इस प्रकार समझाया है। उसके अनुसार नियत्रण के इन रूपो को त्रिभुज के रूप मे देखना चाहिए। प्रजातन्त्र और निरकुशता दोनों ही नियंत्रण

निरकुशतंत्र, प्रजातंत्र एव वैयक्तिक स्वातंत्र्य का सह सम्बन्ध

करने वाले नेतृत्व है, अत. इनमे कुछ समानता हैं। ये दोनों त्रिभुज की सरल रेखा पर माने जा सकते हैं। निरकुशतन्त्र नेतृत्व का वह रूप है, जिसमें सम्पूर्ण नियंत्रण केन्द्रित होता है। प्रजातंत्र में यह नियंत्रण आम जनता मे निहित होता है। निरंकुशतंत्र और प्रजातत्र के मध्य की रेखा एक मातत्यक दर्शाती है, जहाँ व्यक्ति के दायित्व एवं नियंत्रण के समूह के दायित्व एवं नियंत्रण की ओर झुकाव होता है। ऊपर दिया गया चित्र इनके सम्बन्धों को स्पष्ट करता है।

किशोरों को शिक्षा एवं उदाहरणों के द्वारा प्रजातांत्रिक नियंत्रण के सही रूप से परिचित कराना नितान्त अनिवार्य है। उन्हें इस बात का भी ज्ञान कराना चाहिए कि स्वतन्त्रता के साथ ही अधिकार भी जुड़े हुए हैं; सुचारु सामाजिक व्यवस्था के लिए नियंत्रण आवश्यक हैं। प्रजातन्त्र में नियंत्रण व्यक्ति के हृदय में स्थापित होता है अत: सफल प्रजातन्त्र के लिए, सुखी जीवन के लिए तथा व्यवस्थित समाज के लिए आवश्यक है कि प्रारम्भिक वर्षों से ही नियंत्रण की आदत को विकसित किया जाए।

आत्म नियंत्रण एवं आत्म-निर्देशन में वृद्धि

आधुनिक यांत्रिक सभ्यता की एक दुर्भाग्यपूर्ण देन यह है कि किशोर को अपनी योग्यता के अनुसार निर्णय लेने एवं दायित्व वहन करने के अवसर प्राप्त नहीं होते हैं। अत: वे अपनी धुन में खोए रहते हैं—खेलकूद, अध्ययन, मनन, मनोरंजन आदि में ही व्यस्त रहते हैं। उनकी अपनी ही एक अलग दुनिया होती है। न तो यह बालक की कल्पनाओं का संसार होता है और न युवा का वास्तविक संसार।

इससे दो मिथ्या भ्रांतियाँ (fallacies) उत्पन्न होती हैं—प्रथम—किशोर लगभग युवा ही होता है अथवा युवा बनने वाला है। अत: वे समूह में अपना स्थान बनाने हेतु प्रयत्नशील होते हैं। जब उन्हें ऐसे अवसर से वंचित किया जाता है तो वह अपना ही एक पृथक् संसार बना लेते है।

द्वितीय—अपने शिक्षणकाल मे उन्हें पहल (initiative) करने तथा दायित्व वहन करने की आदत नही पड़ती।

अत: परिपक्व युवा बनने के लिए आवश्यक है कि उन्हें किशोरावस्था मे इस प्रकार के अवसर दिए जाएँ। माता-पिता के नियंत्रण से भी उन्हे धीरे-धीरे मुक्त किया जाए।

इस प्रकार उत्तर किशोरावस्था से परिपक्वता की ओर बढ़ते समय अनेक समस्याएँ आती हैं। कुछ तो पुरानी समस्याओं का ही विस्तार होता है, कुछ नई समस्याएँ भी उभरती हैं। उत्तर किशोरावस्था मे व्यवसाय प्राप्ति, विवाह आदि की समस्या उपस्थित होती है। इस अवस्था में उचित निर्देशन के अभाव मे व्यवसाय और विवाह दोनो ही क्षेत्रों में कुसमायोजन की समस्या उठती है। इसके अतिरिक्त सतत जीवन-दर्शन को विकसित करने की भी समस्या है। इसके अभाव मे उसका जीवन अपूर्ण एवं असंमजित (disharmonious) रह जाएगा। वह पग-पग पर दूसरों से परामर्श की अपेक्षा करेगा।

समर्थ युवा (The Adequate Adult)

जो व्यक्ति किशोरावस्था को सफलतापूर्वक पार कर लेता है तथा जिसके सामने कोई बड़ी समस्या नही रहती, वही समर्थ युवा कहलाता है। ऐसा व्यक्ति परिपक्वता के सभी परीक्षणों में खरा उतरता है तथा वृद्धावस्था भी, बिना किसी स्नायविक टूटन के, पार कर लेता है।

एक समर्थ युवा शारीरिक रूप से आत्म-निर्भर होता है। वह आर्थिक रूप से भी स्वतन्त्र होता है (महिलाएँ नही) जीवन की समस्याओं का वह अपनी विवेक बुद्धि से सामना करता है। दूसरों की दया पर या सुझावों पर निर्भर नही करता।

किशोरावस्था की मुख्य समस्याएँ है--परिवार से पलायन की प्रवृत्ति, ग्रात्म-निर्भरता प्राप्त करना, विलिंगकामी (heterosexual) प्रवृत्ति का विकास तथा जीवन के प्रति निजी दृष्टिकोण का होना। जो किशोर इन सभी मूल तत्त्वों से सफलतापूर्वक समायोजन कर लेता है, वह मानसिक रूप से स्वस्थ युवा कहलाता है। ग्रर्थात् उसने संवेगात्मक परिपक्वता प्राप्त करली है।

सामान्यत युवावस्था में पदार्पण करने से पूर्व ही किशोर उपरोक्त विभिन्न दृष्टिकोणो से परिपक्वता प्राप्त कर लेता है। थोडी बहुत जो कमी रह जाती है, वह जीवन में ग्राने वाली ग्रनेकों समस्याग्रों के समाधान से विकसित हो जाती है। परन्तु यदि वह किशोरावस्था के पश्चात् भी वर्षों तक उनमें उलझा रहता है; उन समस्याग्रों का तुरन्त समाधान नही प्राप्त कर लेता है तो इसका ग्रर्थ यह हुग्रा कि युवा-उत्तरदायित्व को वहन करने हेतु ग्रावश्यक ग्रात्म नियन्त्रण (self control) का उसमे ग्रभाव है। दूसरे शब्दो मे उसका उचित विकास नही हुग्रा है, ग्रनेक ग्रात्मकों का एक सयुक्त ग्रात्म में सघटन (integration) नहीं हुग्रा है। इस प्रकार का व्यक्ति जीवन पर्यन्त किशोरों, यहाँ तक कि बालकों की तरह ही व्यवहार करता रहेगा।

इस प्रकार के चिर किशोर समाज के लिए ग्रत्यन्त घातक है। ये ग्रपने व्यक्तिगत कार्यों मे भी हमेशा दूसरो की सलाह लेते रहते हैं, थोड़ी-सी परेशानी ग्राने पर भी उसे सहन नही कर पाते, ग्रौर लोगो से सहानुभूति बटोरने का प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरो की सहायता की ग्रपेक्षा करते है। किशोर की इन ग्रसफलताग्रो के लिए उसकी वंशानुगत सरचना प्रमुख रूप से उत्तरदायी है परन्तु उसकी स्वय की इच्छा शक्ति भी इसके लिए कम उत्तरदायी नही है। दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियाँ, दोषपूर्ण प्रशिक्षण, रूखा व्यवहार, उचित ज्ञान का ग्रभाव ग्रादि भी किशोर के स्वस्थ एव पूर्ण युवा बनने मे बाधक सिद्ध हुए हैं। यदि किशोर को उचित निर्देशन प्राप्त होता रहता है तो उपरोक्त वर्णित ग्रनेक सफलताग्रो को मिटाया ग्रथवा कम किया जा सकता है।

विभिन्न विकसित देशो मे शिक्षा ग्रधिकारियो द्वारा इस प्रकार के प्रयास किए जा रहे है। बालको एवं किशोरों के *कल्याण के लिए ग्रनेक विशेषज्ञ इस ग्रोर प्रयत्नशील है। यह शिक्षा-ग्रधिकारी बालको एव किशोरों की विकास एवं समायोजन की समस्याग्रों* को सुलझाने एव उचित निर्देशन की व्यवस्था करते है। यह कार्य कक्षा-कक्षो मे नही ग्रपितु मनोवैज्ञानिक निदान केन्द्रो मे होता है। बालको एवं किशोरों के ग्रतिरिक्त उनके माता-पिता को भी परामर्श दिया जाता है।

सारांश

शनैः शनै. किशोरावस्था की समाप्ति होती है एव व्यक्ति युवावस्था मे पदार्पण करता है, परिपक्वता की ग्रोर प्रगति करता है। परिपक्वता का सप्रत्यय ग्रत्यधिक जटिल है। एक मत के ग्रनुसार वृद्धि की समाप्ति ही परिपक्वता की सूचक है। दूसरे मत के ग्रनुसार यदि व्यक्ति प्रौढ़ वाले कार्य कर सकने में सक्षम हो जाता है तो परिपक्व माना जाता है। परिपक्वता का सही ग्रर्थ दोनों ही मतो के योग मे निहित है। परिपक्वता ग्रनेक प्रकार की होती है—

(1) शारीरिक परिपक्वता लगभग बीस वर्ष की आयु में पहुँचते-पहुँचते प्राप्त हो जाती है।

(2) बौद्धिक वृद्धि साधारणतः सोलह वर्ष की आयु तक होती है। वैसे यह बुद्धि पर निर्भर करती है।

(3) लैंगिक परिपक्वता का सम्बन्ध जनन-शक्ति से है। इसकी कालिक आयु भिन्न-भिन्न किशोरों में भिन्न-भिन्न होती है।

(4) नैतिक परिपक्वता की परिभाषा बताना व आयु निश्चित करना कठिन है। इसकी पहिचान यही है कि युवा की विद्रोही भावना पर अंकुश लगना तथा उदारता एवं सहनशक्ति की भावना मे वृद्धि होना।

(5) संवेगात्मक परिपक्वता आने पर व्यक्ति अपनी भावनाओ एवं आवेगों पर नियंत्रण लगाना सीख जाता है।

(6) सामाजिक परिपक्वता से तात्पर्य है परिवार की सीमाओ से बाहर निकल कर साथियों के साथ घूमना एवं विषम लिंगियो की संगति के लिए उत्कंठित होना।

उपरोक्त परिपक्वताओ की प्राप्ति से किशोर युवा बन जाता है। युवक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी सीखने की क्षमता मे वृद्धि करें एवं सीखने के प्रति उसे उत्प्रेरणा प्राप्त हो। अब किशोर को माता-पिता का संरक्षण, समवयस्क समूह आदि का त्याग कर कार्यरत संसार में पैर रखना है—अपना अस्तित्व बनाना है। उसे अपने लिए व्यवसाय का चयन करना है, विवाह करना है, अच्छा नागरिक बनना है। आधुनिक यांत्रिक समाज के अनुसार अपने को ढालना है तथा स्वस्थ सामाजिक आर्थिक दृष्टिकोण विकसित करना है। अब उसका सम्बन्ध राजनीति से भी होता है, उसे स्वतंत्रता का सही अर्थ समझना है। इन सबसे ऊपर उसे एक सफल जीवन-दर्शन का विकास करना है। एक निश्चित जीवन दर्शन के अभाव में वे अपने भविष्य का भली प्रकार से निर्माण नहीं कर सकता। अब उसे कल्पनाओं का संसार त्याग कर वास्तविक कार्य-क्षेत्र में उतरना है, अपने निर्णय स्वयं लेने हैं, अपने कार्य स्वयं करने हैं।

जो व्यक्ति किशोरावस्था को सफलतापूर्वक प्राप्त कर लेते हैं, वही समर्थ युवा बन पाते हैं। उनमे सभी प्रकार की परिपक्वताओं का उचित सामंजस्य रहता है, तथा वे युवावस्था ही नही वृद्धावस्था भी बिना किसी द्वन्द्व के पार कर लेते हैं।